# श्री वेणुगीतम्

( श्रीमद्-वल्लाभार्च-चरण-विरचित श्री सुबोधिनी अनुसार )



व्याख्याता : 'कविरत्न' आर. कलाधर भट्ट

व्याख्याता :
'कविरत्न' आर. कलाधर भट्ट
एम.ए., एल.एल.बी

प्राप्ति स्थान :
(१) श्री गोवर्धन पुस्तकालय
मोतीमहल चौक
श्रीनाथजी मन्दिर, नाथद्वारा (राज.) ३१३३०१

!! श्रीहरिः!!

# प्राक्कथन

वेणुगीत में श्रीकृष्ण के मुरलीवादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णण इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जंगम प्राणियों के ऊपर ही नहीं है प्रष्युत स्थावर जगत् में भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदिंयो का वेणुगीत को आकर्षण कर वह आचरण जितना मधुर है उतना ही स्वाभाविक है।

**नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्द गीत**

**मावर्त-लक्षित मनोभवभग्नवेगाः।**

**आलिंगन स्थगितम् मूर्मि भुजैर्मुरारे**

**ह्वन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः।।**

नदियां भी मुकुन्द के गीत को सुन्दर भंवरो के द्वारा अपने हृदय में श्याम सुन्दर से मिलने की तीव्र आकांक्षा को प्रकट कर रही है। उसके कारण इनका प्रवाह रुक गया है। ये अपने तरंगो के हाथों से उनका चरण पकड़ कर कमल के फूलों की उपहार चढ़ा रही है और उनका आलिंगन कर रही हैं। मानों उनके चरणों पर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं। वेणुगीत श्रीमद् वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी अनुसार 'कविरत्न' आर. कलाधर भट्ट द्वारा व्याख्या की गई है।

इस ग्रन्थ को विद्याविलासि पूज्यपाद गोस्वामि तिलकायित श्री १०८ श्री इन्द्रदमन जी(श्रीराकेश जी) महाराज श्री की आज्ञा से विद्याविभाग नाथद्वारा ने प्रकाशित किया है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ से वैष्णवजन लाभान्वित होंगे।

**निवेदक**

यदुनन्दन त्रिपाठी

श्रीनारायण जी शास्त्री

विद्याविभागाध्यक्ष

मन्दिर मण्डल, नाथद्वारा

|| श्री गोवर्धनधरो विजयतेतमाम् ||

श्रीतिलकायित महाराजश्री
निजपुस्तकालय विद्यामंदिर, नाथद्वारा

तृतीय पुष्प

# श्री वेणु-गीतम्

(भक्ति-रसकी दार्शनिक मीमांसा)

श्री सुबोधिनी–श्रीमती टिप्पणी–लेख–प्रकाश–योजना–कारिकार्थ
तथा स्वतंत्र–लेख आदि पर आधारित सर्व प्रथम हिंदी व्याख्या
तथा समश्लोकी व्रजभाषा में पद्यानुवाद सहित

: व्याख्याता :
कविरत्न आर. कलाधर भट्ट

प्रकाशक
विद्या विभागाध्यक्ष मन्दिर मण्डल
नाथद्वारा (राज.)

जगद्गुरु श्रीमद् वल्लभाचार्य वंशावतंस
आचार्य वर्य्य गोस्वामि तिलकायित
श्री १०८ श्री इन्द्रदमन जी (श्री राकेश जी) महाराज



नाथद्वारा

प्राकट्य

जन्मतिथि
फाल्गुन शुक्ल ७
विक्रम संवत् २००६

जन्म दिनांक
२४ फरवरी १६५०

## चि. १०५ गोस्वामि
## श्री भूपेशकुमार जी (श्री विशाल बावा)



नाथद्वारा

प्राकट्य

जन्मतिथि
पौष कृष्ण ३०
विक्रम संवत् २०३७

जन्म दिनांक
५ जनवरी १९८१

श्रीहरिः

अखंड़-भूमंडलाचार्य जगद्-गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य-कुल-तिलक
नाथद्वारा प्रधान पीठाधीश्वर अनंत श्री विभूषित
गो. तिलकायित श्री १०८ श्री गोविंदलालजी महाराज श्री को



योन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संबोधयत्यनल-वंशरविः स्वधाम्ना ।
तस्यांघ्रि-पंकज-गुणान् समुदं गदन्ती
गोविंद ! नित्यमनुतिष्ठतु सैव तत्र ।।

प्रणाम-पुरः सर
प्रस्तुत-ग्रंथ—
सानुनय समर्पित
तत्र-भवद्-वशं-वद

—आर. कलाधर भट्ट

# श्रीवेणु-गीतम्

श्री नाथद्वारस्थ विद्या विलासि गोस्वामि

तिलकायित श्री १०८ श्री इन्द्रदमन जी (श्री राकेश जी) महाराज श्री

की आज्ञा से प्रकाशित

व्याख्याता

कविरत्न आर.कलाधर भट्ट

प्रकाशक

विद्याविभागाध्यक्ष

मन्दिर मण्डल नाथद्वारा (राज.)

## श्रीनाथजी का पाठोत्सव

तृतीय संस्करण

प्रति १०००

संवत् २०७४ श्री वल्लभाब्द ४०

न्योछावर

६०/रू.



आनन्दकन्द नन्दनन्दन वल्लभाधीश प्रभु श्रीनाथजी

## कृतज्ञता

श्री वेणु-गीत पर श्रीमद् वल्लभचार्य-चरण विरचित सुप्रसिद्ध सुबोधिनी के निगूढ रहस्य को सुस्पष्ट करने के लिये पुष्टि संप्रदाय के विद्वानों ने अपनी अपनी विवृतियां लिखीं हैं। इनमें से श्रीमत्प्रभु-चरण की श्रीमती-टिप्पणी, गो. श्रीवल्लभकृत लेख, श्रीलालूभट्ट-योजिता योजना, श्रीनिर्भयरामभट्ट विरचित कारिकार्थ तथा गो.श्री पीतांबर कृत बृहत् तथा लघु-प्रकाश–इसतरह कुल छह टीकायें उपलब्ध हैं। तदुपरांत श्री वेणु-गीत के अमुक श्लोकांशो पर श्रीमत्प्रभुचरण तथा गो. श्री हरिराय द्वारा आलेखित अपने अपने 'स्वतंत्र लेख' भी हैं। इस तरह श्रीवेणु-गीत पर विरचित सुबोधिनी सहित उपर्युक्त विवृतियों तथा स्वतंत्रलेखों पर अधारित यह सर्व-प्रथम अनुवादात्मक हिन्दी व्याख्या है। इस हिंदी-व्याख्या की सफलता में एकमात्र हेतु श्रीमद् आचार्य चरण की कृपा तथा पू. च. गो. तिलकायित श्री १०८ श्री गोविंदलाल जो महाराज श्री श्री की आज्ञा है। यह मेरी प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है और यही-अनुभूति मेरे शेष जीवन की कृतकृत्यता है।

गोस्वामी श्री रसिक वल्लभजी महाराज श्री ने अपने बहुमुल्य पुस्तक संग्रह में से उपर्युक्त विवृतियों तथा स्वतंत्र लेखों से समवेत श्रीवेणु-गीत की एक दुर्लभ प्रति मुझे जो उपलब्ध करादी उससे मै आप श्री का कृतज्ञ हूँ।

इस हिंदी व्याख्या के प्रकर्ष की सिद्धि तो तब मिली जब मैं, पू.गो. श्रीश्याम मनोहरजी के संपर्क में आया, पुष्टिवाङमय के साक्षात् प्रतीकरूप आप श्री ने जिस निष्ठा से इस व्याख्या के अमुक अंश को सुना तथा स्वकीय महर्घ संसूचनों द्वारा जो अनुग्रह किया तथा प्रोत्साहन रूप से जो स्नेहात्मक प्रशंसा की वही निष्ठा, वही अनुग्रह, वही स्नेह मानों घनी–भूत होकर उस रसमय चित्र के रूप में इस पुस्तक के मुख-पृष्ठपर चिर-अंकित हुआ है जिसे आपश्रीने मुझे अपने चित्र संग्रह में से कृपा पूर्वक प्रदान किया।

और इस व्याख्या की अनवद्यता को मानों अक्षुण्ण रखने के लिये ही मेरे विद्या गुरु प्रो. श्री नागरदास बांभणिया साहेबने इस पुस्तक की प्रस्तावना के कतिपय अंशों को सुना ! तथा जो संसूचन किये उसके लिये मैं कृतार्थ हूं।

इस व्याख्या के आलेखन में मुझे नित्य जागरूक रखनेवाली, संशोधन आदिमें नियमित सहायता देनेवाली तथा इस संप्रदायके संदर्भ ग्रंथो को यथाशक्ति उपलब्ध करा देने वाली 'निवेदनम्-प्रकाशन'की अध्यक्षा श्रीमति चंद्रा आर. भट्ट, एम. ए., को मैं हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ।

विनीत

**आर. कलाधर भट्ट**

**श्रीहरिः**

**प्रार्थये रसिकाः स्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम्।**
**एतद्रसानभिज्ञस्तु माऽद्राक्षीदपि वैष्णवः॥**

"वैष्णव होते हुये भी, यदि आप इस 'रस' से अनभिज्ञ है तो कृपया इस ग्रंथ को न देखें।"

**–श्रीमत् प्रभुचरण**

# उपोद्घात

गायत्री, वेद तथा श्रीमद्-भागवत-श्रीपुरुषोत्तम के ही ये त्रिविधस्वरूप हैं इनमें गायत्री, सूक्ष्म बीज-रूप है, वेद, वृक्षरूप है तथा श्रीमद्-भागवत फल-रूप नामात्मक-स्वरूप है। इन त्रिविध-स्वरूपोंमें से, बीज तथा वृक्षकी अपेक्षा, रसात्मक-फल-रूप श्रीमद्-भागवत ही इष्टतम होनी चाहिये—यह स्वाभाविक हैं। इसमें निरूपित भगवान् श्रीकृष्ण की ताप-त्रयोन्मूलिनी परमानन्द-दायिनी-लीला सर्वात्म-भावरूप भक्ति की एकांत साधिका है।

द्वादश-स्कंधात्मक श्री भागवत के हृदय-रूप दशम-स्कंध में मधुराधिपति श्रीकृष्ण की निरोध-लीला का प्रतिपादन है। इसके कुल ८७ अध्यायोंका विभाजन पांच प्रकरणों में इस तरह किया गया है— १—जन्म-प्रकरण-चार अध्यायोंका; २—तामस प्रकरण तथा ३—राजस प्रकरण प्रत्येक यथाक्रम २८ अध्यायोंका; ४—सात्त्विक प्रकरण-२१ अध्यायोंका तथा ५—गुण प्रकरण—६ अध्यायोंका।

तामस-प्रकरण के चार अवांतर प्रकरण हैं—अध्याय ५ से ११ पर्यंत-अवांतर-प्रमाण-प्रकरण में-प्रभुने स्वकीय बाल-लीलाओं द्वारा अपने प्रति गोप तथा गोपीजन में, प्रथम प्रेम-भाव उत्पन्न किया, फिर इसी प्रकरण के अध्याय १२ से १८ पर्यंत अवांतर प्रमेय-प्रकरण में गोचारणादि लीलाओं द्वारा इनमें आसक्ति-भाव उद्बुद्ध-किया। अवांतर साधन-प्रकरण के अध्याय १९ से २५ पर्यंत-गोवर्धन-उद्धरणादि लीलाओं द्वारा इनको व्यसन-भाव से संपन्न करते हुये-फल-उपप्रकरण-में-अध्याय २६ से ३२ पर्यंत-रासोत्सवादि लीलाओं द्वारा, अपने स्वरूपानंदको, इनमें स्थापित किया।

इस योजना के अनुसार, अध्याय १२ से १८ पर्यंत-आसक्ति निरोध रूप-अवांतर प्रमेय-प्रकरण है—प्रस्तुत 'वेणु-गीत', तामस प्रकरणान्तर्गत, इसी अवांतर प्रमेय प्रकरणके १८ वें अध्याय का

प्रसंग है, जिसमें गोपांगनाओं को परम आसक्ति सिद्ध करायी गयी है।

वेणु-गीत में कुल २० श्लोक हैं–प्रत्येक-श्लोक मानों भक्ति-रस की मंदाकिनी न हो? 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यते'। प्रथम श्लोक में भगवान् के वृंदावन-प्रवेश का तथा द्वितीय श्लोक में उनके द्वारा किये गये वेणु-कूजन का वर्णन है। वेणु-कूजन के श्रवण से व्रजदेवियों ने श्रीकृष्ण-प्रति-आसक्ति-सुलभ भगवद्-गुणानुवर्णन का, तृतीय श्लोक से, उपक्रम किया। किंतु श्रीकृष्ण की शृंगार-चेष्टाओं की स्मृति से स्मरोदय के कारण गोपांगनायें विक्षिप्त चित्त हो गयीं-तथा गुणगान नहीं कर सकीं-चतुर्थ श्लोक में इसी असामर्थ्य का वर्णन है। गोपांगनाओं की प्रभु-प्रति आसक्ति, अभी तक पंचपर्वात्मक विद्या से रहित अतएव निरीलौकिक आसक्ति थी– इसीलिये भगवद्-गुणानुवर्णन करने में वे असमर्थ रहीं। वस्तुतः विद्योपेत आसक्ति ही भक्ति है। भक्ति से ही भगवत्-साक्षात्कार, भगवद्-गुणानुवर्णन संभव है–'भक्त्यामामभिजानाति'। अतः भगवान् ने निःसाधन गोपांगनाओं को-पंचमश्लोक द्वारा-पंच पर्वा विद्याका-वैराग्य, सांख्य योग, तप तथा भक्तिका-दान दिया, षष्ठ श्लोक द्वारा गोपांगनाओं में गुणानुवर्णन की शक्ति के समुदयका-भक्त्यात्मिका आसक्तिका-निरूपण हुआ है तथा इसी विद्योपेत आसक्ति की अभिव्यक्ति-अर्थात् भगवद्-गुणकथन-अग्रिम सप्तम श्लोक से ऊनविंशति श्लोकोंका-तेरह श्लोकोंका-विषय है। अंतिम, वीसवें श्लोक में आसक्ति-प्रतिपादक प्रमेय प्रकरण का उपसंहार है।

श्री वेणुगीत के निगूढभक्ति-रसको स्पष्ट करती हुयी श्रीसुबोधिनी पर संप्रदाय के विद्वानों द्वारा आलेखित कुल छह विवृतियों के उपरांत कतिपय 'स्वतंत्र'-लेख भी उपलब्ध हैं। इस विशाल-साहित्य के तलस्पर्शी अध्ययन पूर्वक श्री सुबोधिनी के हार्द्रको समझाते हुये श्री आर. कलाधर भट्टने एक स्वतंत्र अनुवादा-

त्मक व्याख्या लिखीं है। अथवा, इस विशाल-साहित्य-रूपी दधि-पिंड़ को भक्ति से तथा मति से मंथन करके साररूप नवनीत जैसी यह व्याख्या, भगवान् श्रीकृष्ण के गुण संकीर्तन को मनहर तथा मनभर बनानें में समर्थ हुयी है'।

श्री भट्टजी ने भक्ति-रस के जिस दार्शनिक स्वरूप को समझाया है वह मननीय है तथा मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया जाने के कारण नवीनता लिये हुये है– "पुष्टि-भक्ति की परमोत्कृष्ट-उपलब्धि-भजनानंद है। इसकी निगूढ एवं उत्कट अनुभूति त्रिविध-प्रकार से निरुद्ध जीव ही कर सकते हैं। प्रेम, आसक्ति तथा व्यसन की यथोत्तर सिद्धि के उपरांत, प्रभु, स्वभक्त को सर्वात्म-भाव सुलभ भजनानद का दान करते हैं। जिस अनुग्रहीत जीव को प्रभु भजनानंद से संपन्न करना चाहते हैं उसमें, प्रथम, प्रेम-भाव सिद्ध करते है, फिर, आसक्ति, और अन्त में व्यसन अर्थात् सर्वात्म-भाव। यहां ये प्रेम, आसक्ति तथा व्यसन, जीव-साध्य शारीरिक स्तर की वृत्तियां नहीं है-किंतु, देहाध्यास से रहित जीव में, भगवत्कृपा से उत्पन्न होने वाले, भगवद्-रस का उत्तरोत्तर उत्कट-अनुभव करानें वाले, अलौकिक भाव हैं"। पुष्टि-भक्ति के समुज्ज्वल-स्वरूप को लेखक ने कितनी सहज तथा निश्चायक-शैली में प्रस्तुत किया है!!!

इसी तरह, भक्ति-रस की दार्शनिकता के संदर्भ में केवलाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत के तारतम्य को अत्यंत हृदयंगम शैली में स्पष्ट करते हुये लेखकने उसे इस तरह समझाया है–"......अभेद की स्फूर्ति, सर्वात्मभाव-रूप विप्रयोगात्मक भक्ति-रस का, एक-संचारी-भाव मात्र है। भक्ति-रस की, यह अभेद-दर्शन अंतिम-उपलब्धि नहीं है–ज्ञानी की तरह, भक्त के लिये यह निरंतर-स्थिति नहीं है। क्योंकि, इस प्रकार का 'अभेद-ज्ञान,' भजनानंद का बाधक है, अतः भगवान् स्वभक्त के लिये इस प्रकार के ज्ञान का अनुदान कदापि नहीं करते 'भजनानन्दव्यवधायकं स्वात्मत्वेन-ज्ञानं भगवता न संपाद्यते' भ. मा.।' "वह किससे किसको देखे-"

तत् केन कं पश्येत्-इस श्रुति में जिस अभेदरूपता का निर्देश किया गया है, उसका सर्वात्म-भाववान् भक्त की स्फूर्ति में अभाव होने के कारण, उसकी यह स्फूर्ति, अखंड-ब्रह्म-ज्ञान-रूप नही है, किंतु, सखंड़-ब्रह्म-ज्ञान रूप है। भक्ति की अंतिम फल-श्रुति ज्ञान नहीं है.......इस प्रकार की अभेद-रूपता, सखंड़-ब्रह्मज्ञानानुभूति ही, पुष्टि-भक्ति के 'अद्वैत' का स्वरूप है"। इस संदर्भ में लेखक की समग्र 'प्रस्तावना' ग्रंथ सहित, मनन-योग्य है।

पुष्टि पुरुषोत्तम की अनुग्रहरूप यह व्याख्या, भगवद्-भक्ति-भाव का संवर्धन करती हुयी, भक्त-हृदय को रस की गहरी-अनुभूति कराने में समर्थ है– इस तथ्य की प्रतीति इस ग्रंथ-रत्न के वांचने से होती है। शुद्धाद्वैत-दर्शन तथा पुष्टि-भक्ति के स्वरूप को इतनी स्पष्ट तथा रसमय शैली में प्रस्तुत करने के लिये श्री आर. कलाधर भट्ट वस्तुतः अभिनंदन के पात्र हैं। लेखक की भाषा अर्थ-गंभीर तथा औचित्य-पूर्ण है, शैली औजस्वी है, विषय का विश्लेषण स-प्रमाण हैं, जटिल तथा सूक्ष्म-दार्शनिक विचारों को सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने में लेखक का प्रयत्न-प्रशस्य है।

संस्कृत श्लोकों का व्रजभाषा में अनुवाद, वास्तव में श्री भट्टजी की विचक्षण-काव्य-प्रतिभा का परिचायक है। मूल श्लोक की रमणीयता को तथा अर्थ-गांभीर्य को व्रजभाषाके पद्य में अविकल-अनूदित करने के अपने प्रयत्न में लेखक सफल हुये हैं।

भगवद्-प्राप्ति के सफल-साधन के समान इस व्याख्या के लिये लेखक को हार्दिक अभिनंदन तथा भगवद्-अनुग्रह का नित्य अनुभव करते हुये, इसी प्रकार के अन्य भगवद्-भक्ति-पंथ के पाथेयरूप साधनों से उपकृत करते रहें यही प्रार्थना.

**सुरेश अं. उपाध्याय**
नियामक
अनुस्नातक तथा संशोधन–विभाग
भारतीय विद्या भवन, बम्बई.

# प्रस्तावना
## (भक्ति-रस का दार्शनिक-स्वरूप)

भक्ति, ज्ञान नहीं है। परब्रह्म की प्राप्ति एकमात्र अनन्य भक्ति से ही संभवित है। यदि ज्ञान से ही परब्रह्म की सिद्धि मान ली जाये, तो फिर, ब्रह्म-स्वरूप के ज्ञान से संपन्न होते हुए भी, कंस, शिशुपाल आदि इस सिद्धि से वंचित ही क्यों रहे? क्योंकि प्रभु के प्रति इनको द्वेष था, भक्ति किंवा राग नहीं। तदुपरांत, भगवत्-प्राप्ति में, भक्ति, ज्ञान की अपेक्षा उत्तम मानी गयी है। ज्ञानी को भगवत्-प्राप्ति अनेकों जन्म के अंत में संभव है, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'; किंतु, भक्त के विषय में ऐसा नहीं है, भक्ति से तो भगवान्-नचिरात्-शीघ्र ही प्राप्त होते हैं-'भवामि नचिरात् पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्'। गीता में, ज्ञान को तप तथा कर्म से उत्तम कहा है, किंतु, भक्ति, ज्ञान से भी उत्कृष्ट मानी गयी है। अमुक आचार्यों ने संविद्-ज्ञान विशेष को ही जो भक्ति कहा है, वह भी, गीतोक्त इस कथन से निरस्त हो जाता है, "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता ज्ञानं, कर्म च भक्तिश्च'। इससे यह स्पष्ट है कि भक्ति, ज्ञान से भिन्न है। 'मैं जानता हूँ', 'मैं भजन करता हूँ' इन वाक्यों में 'जानना' तथा 'भजन करना' यह दोनों विभिन्न विचार हैं, एक ही विचार के अव-बोधक नहीं। आसक्ति अथवा भक्ति में ज्ञान गौण रूप से भले ही उपकारक माना जाता हो, किंतु, आसक्ति की परिणति ज्ञान में कदापि नहीं मानी गयी। आसक्ति की परिपूर्णता आसक्ति सुलभ सुख में ही है, ज्ञान की उपलब्धि में नहीं। युवक के प्रति, युवति के प्रेम की चरितार्थता प्रेम में ही है, ज्ञान-निष्पत्ति में नहीं-भक्ति से भक्ति ही प्राप्त होती है 'भक्त्या संजायते भक्तिः'। ज्ञान का अभाव होते हुये भी, गोपाङ्गनाओं को केवल परमासक्ति से परब्रह्म की स्वरूपतः प्राप्ति हुयी। वस्तुतः भगवान् ज्ञानमार्ग के विषय हैं ही नहीं-'न ज्ञानमार्गस्य पुरुषोत्तमविषयत्वात्'। ज्ञान से तो अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है-'अक्षरस्यापि पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तद्विभूतिरूपत्वात्'।

भक्ति, क्रिया भी नहीं है। भक्ति, प्रयत्न से सिद्ध नहीं की जा सकती-'प्रयत्ना-ऽजन्यत्वात्'-भ. मा.। ज्ञान की तरह, भक्ति में कृति की आवश्यकता नहीं होती-'न क्रिया, कृत्यनपेक्षणात् ज्ञानवत्'-शां. सू.। भक्ति, भगवद्-अनुग्रह से स्वतः

प्रादुर्भूत होती है—कृति से साध्य नहीं है। इसकी प्राप्ति में यदि कोई साधन-भूत हेतु है, तो वह एकमात्र, भगवद्-अनुग्रह ही है। भगवान् जिसका वरण करते हैं उसी को प्राप्त होते हैं। 'या प्रीतिरविवेकिनां विषयेष्वनपायिनी' प्रह्लाद की इस उक्ति में 'विषयेषु' पद में सप्तमी-विभक्ति है—तदनुसार, प्रीति की विषयों में प्रवृत्ति होती है, विषयों से उत्पत्ति नहीं 'इति वाक्ये विषयसप्तम्यां प्रीतेः सविषयत्वं मन्तव्यम्' गोपे.। प्रीति को विषयजन्य मानना उचित नहीं, भगवत्-प्रीति कदापि विषयजन्य नहीं होती—'न च विषयजन्या प्रीतिरित्यर्थः संभवति'—श्री गोपे.।

भक्ति, श्रद्धा भी नहीं है। ज्ञान, कर्म, तप, योग आदि साधनाओं में श्रद्धा, उनके अंग रूप से सामान्यतया उपकारक मानी गयी है। प्रत्येक साधना का, कर्म का, श्रद्धा एक आवश्यक अंग है। श्रद्धा-पूर्वक किया गया कर्म, सिद्धि-प्रद होता है, इसीलिये प्रत्येक कर्म में, श्रद्धा साधारणतया वर्तमान रहती है अतः यह एक गौण साधन-मात्र है। वस्तुतः गीता ने श्रद्धा को भक्ति का अंग माना है, साक्षात् भक्ति नहीं। अब, यदि श्रद्धा को ही भक्ति मान लें, तो फिर, गीतोक्त कथन के अनुसार —श्रद्धया भजते यो माम्—जिसमें श्रद्धा, भक्ति का अंग कही गयी है, इस अंग-भूत श्रद्धा को भक्ति मानना पडेगा, और, क्योंकि, श्रद्धा, भक्ति का अंग है, अतः इस भक्ति के अंग-रूप में, फिर, एक अन्य श्रद्धा माननी पडेगी; और, क्योंकि—पूर्व पक्षी के मत में— यह श्रद्धा भक्ति ही है, तो पुनः इस भक्ति के अंग रूप में, एक अन्य श्रद्धा माननी पडेगी। इस तरह 'अनवस्था' दोष आ जाता है, अतः भक्ति, श्रद्धा नहीं है—'नैव श्रद्धा तु साधारण्यात् तस्यां सत्त्वे चाऽनवस्थानात्'—शां. सू.।

भक्ति, उपासना भी नहीं है। 'उपासना, सकाम मानी गयी है।' अप्राप्त वस्तु की कामना से युक्त अतएव सविषयक ज्ञान-रूप मनोवृत्ति को उपासना कहते हैं'— 'तस्या आशाप्राप्तसविषयक-ज्ञानरूप-मनोवृत्तित्वात्'—भ. मा.। श्री रामानुज ने मोक्ष प्राप्ति की साधना के रूप में अनुष्ठित वेदन को—ज्ञान को—उपासना कहा है। 'मोक्षसाधनतया विहितं वेदनमुपासनमित्युक्तम्—श्री. भा.। उपासना रूप वेदन की असकृत्-आवृत्ति ही ध्रुव-स्मृति है—यह 'ध्रुवानुस्मृति' ही भक्ति है। इस तरह उपासना ही भक्ति शब्द का अपरपर्याय है— 'एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते, उपासनापर्यायत्वात् भक्तिशब्दस्य'—श्री. भा.। किंतु श्रुति-स्मृति में उपासना के जो बहुतसे प्रकार कहे गये हैं, वे सब विभूति-परत्व होने के कारण, भक्ति में परिगणित नहीं किये जा सकते।

भक्ति, पूजा भी नहीं है। पूजा क्रियात्मक है। भक्ति का उदय, पूजा के उत्तर काल में होता है। नापि पूजा क्रियात्मकत्वेन दत्तोत्तरत्वात्—म. भा.। 'भक्तियोगं

स लभते, एवं यः पूजयेत्तु माम्'–इस प्रकार से जो मेरी पूजा करता है उसे भक्ति-योग उपलब्ध होता है। इस पंक्ति में पूजा से, भक्ति की भिन्नता का निर्देश किया गया है–'भेदेन निर्देशाच्च'–अर्थात् यहाँ पूजा साधन-रूप है. भक्ति उसका फलरूप। भक्ति तथा पूजा इस तरह यथाक्रम फलरूप तथा साधन-रूप होने के कारण, परस्पर भिन्न हैं। पूजा में फल की आकांक्षा रहती है और पूजक को फलरूप में, चक्रवर्ती राज्य से लेकर ब्रह्म-लोक पर्यंत की प्राप्ति होती है–जैसा पूजा का प्रकार वैसा ही उसके फल का स्वरूप। भक्ति में कोई फलाकांक्षा नहीं, इसके फलरूप साक्षात् पुरुषोत्तम हैं। भगवत्-स्वरूपातिरिक्त फल देनेवाले पूजादि तथा ज्ञानादि में भक्तित्व है ही नहीं, तथा भक्ति में, भगवत्-स्वरूपातिरिक्त अन्य फल की कल्पना भी नहीं–'भगवत्स्वरूपातिरिक्त फलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वं, भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलाकांक्षा, अतो न पूजादिर्भक्तिः'–भक्ति-हंस।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि नवधा भक्ति में, अर्चनात्मक पंचम-भक्ति का उल्लेख किया गया है–'श्रवणं, कीर्तनं, विष्णोः स्मरणं, पादसेवनं। अर्चनं, वंदनं, दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्'। यहाँ, अर्चनं, वस्तुतः पूजा का ही अपरपर्याय है तो फिर, पूजा, भक्ति में परिगणित क्यों नहीं की गयी? इसका उत्तर यह है कि अधिकारी भेद से अनुष्ठित एक ही कर्म, अनेक प्रकार का होता है। इसी तरह, नवधा-भक्ति के भी अधिकारी भेद से अनेकों भेद हैं। धर्म, अर्थ तथा काम–इस त्रिवर्ग की कामना से आचरित यही श्रवणादि नवधा भक्ति, कर्म-मार्गीय कहलाती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिये अर्थात् ज्ञानोदय में हेतुभूत चित्त-शुद्धादि की कामना से अनुष्ठित यही नवधा-भक्ति, ज्ञान-मार्गीय मानी गयी है। 'यथा यथात्मापरिमृज्यतेऽसौ, मत्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानैः–तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवांजनसंप्रयुक्तम्'। अर्थात् मेरी पुण्य गाथाओं का श्रवणादि रूप नवधाभक्ति द्वारा अनुशीलन करते हुये जैसे जैसे चित्त परिशुद्ध होता है, वैसे वैसे ही, अंजन के प्रयोग से स्वच्छ नेत्र के समान, साधक सूक्ष्म-वस्तु को, तत्त्व को भी पहचान लेता है'। इसी तरह, पंचरात्रीय-तांत्रिक-दीक्षा-पूर्वक, शुद्ध-भावना से, ज्ञान के पटल-विना, मोक्ष-प्राप्ति की साधना के रूप में आचरित यही श्रवणादि नवधाभक्ति, उपासनामार्गीय कहलाती है। पंचरात्र, पुराण आदि में इस उपासना-मार्गीय नवधा भक्ति को 'वैष्णव-मार्ग' कहा गया है। मर्यादा-भक्ति-मार्गीय श्रीरामानुज आदि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित भक्ति-संप्रदाय के 'नारायण-अष्टाक्षर' मंत्र की दीक्षा-पूर्वक, मोक्ष-प्राप्ति के साधन-रूप में क्रियमाण यही नवधांभक्ति, प्रवाहिकीभक्ति कहलाती है। प्रेम-लक्षणाभक्ति की प्राप्ति के लिये साधन रूप से आचरित यही नवधा-भक्ति, भक्ति-मार्ग में, मर्यादा-

भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है–'श्रद्धामृत-कथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्। स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्। भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकं तनुं' –यहां 'भक्त्या संजातया भक्त्या'–इस पंक्ति में प्रथम 'भक्त्या' पद का अर्थ है–साधन-रूपा मर्यादा-भक्ति; तदनुसार, इस साधना-रूपा मर्यादा भक्ति से, 'प्रेमात्मक प्रेमलक्षणा-भक्ति' सिद्ध होती है, उसका उदय होता है–'एवं श्रवणादिसाधन-भक्त्या संजातया प्रेमलक्षणाभक्त्या'। इस तरह श्रवणादि-साधन-रूप मर्यादा भक्ति से, जिसकी अंतिम उपलब्धि 'आत्म-निवेदन' है, प्रेम लक्षणा-भक्ति के सिद्ध होने पर 'स्नेहोदय' होता है। रोमांच, स्नेह का सात्विक भाव है–'बिभ्रत्युत्पुलकं तनूं'–पंक्ति में यही अभिप्राय स्पष्ट किया गया है।

**पुष्टि-भक्ति** :–यही प्रेमात्मक अथवा प्रेमलक्षणा भक्ति है। प्रेमात्मक भक्ति, पुष्टि-भक्ति का ही अपर पर्याय है। नवधा-भक्ति का अंतिमसोपान 'आत्मनिवेदन' है। यह अंतिम सोपान ही, पुष्टि-भक्ति के नन्दालय में प्रवेश करने का प्रथम सोपान है। नवधाभक्ति की आत्म-निवेदन रूप जो अंतिम सीमा है, जो 'इति' है, वहां से ही पुष्टि-भक्ति की सीमा का श्रीगणेश–प्रारंभ होता है। स्नेहोत्पत्ति के अनन्तर, यही श्रवणादि साधन-रूप न रहकर स्नेहरूप अर्थात् पुरुषार्थरूप बन जाते हैं। स्नेहोदय होने पर भक्त को, श्रवण, कीर्तन आदि का व्यसन हो जाता है, इसके बिना उसको चैन ही नहीं पड़ता। स्वव्यसन से, श्रवणादि पुरुषार्थ में, भक्त की स्वतंत्रतया प्रवृत्ति रहती है। जिस तरह एक व्यसनी की संपूर्ण-वृत्तियां, उसके 'विषय' में ही केन्द्रित हो जाती हैं, उसी तरह भक्त की इस स्नेहोदय अवस्था में संपूर्ण इन्द्रियों का व्यापार प्रभु-परत्व हो जाता है। भगवत्-श्रवणादि ही उसके लिये साधन-रूप न रहकर पुरुषार्थ-रूप हो जाते हैं। फलाकांक्षा से रहित, प्रभु-स्वरूप में व्यसनरूप यह वृत्ति सर्वोत्तम मानी गयी है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि पुष्टि-मार्गोक्त पंचाक्षर-मंत्र (कृष्ण तवास्मि) की दीक्षापूर्वक आत्मनिवेदन के अनन्तर, प्रेमात्मक-भक्ति की साधना के रूप में क्रियमाण-श्रवणादि, पुष्टिमार्गीय मर्यादा भक्ति है, तथा इस प्रकार की पुष्टि मार्गीय मर्यादा भक्ति से स्नेहोत्पत्ति के अनन्तर, जैसे कहा जा चुका है, स्वव्यसन से पुरुषार्थ रूप में आचरित श्रवणादि, उत्तमपुष्टि-भक्ति रूप है। इस तरह, शास्त्रोक्त श्रवणादि में भी कहीं भक्तित्व है, कहीं नहीं भी है। अतः प्रकरण के अनुसार, अधिकार की ही प्रबलता के कारण, नवधा-भक्ति में परिगणित होते हुये भी, अर्चना में भक्तित्व अनिश्चित है। और, वास्तव में देखा जाये तो श्रवणादि नवधा-भक्ति में, भक्ति-पद का प्रयोग गौण ही होने के कारण, अर्चना में भक्तित्व का अभाव ही है, अतः भक्ति न पूजा है, और न अर्चना।

भक्ति, इच्छा भी नहीं है। विषय की प्राप्ति में इच्छा की निवृत्ति हो जाती है, किंतु, भक्ति में ऐसा नही है। इच्छा का विषय, 'इच्छा' नहीं बन सकता। अतः यदि भक्ति को इच्छा मान लें तो, जैसे इच्छा, स्वयं को ही अपना विषय न बनाने के कारण, अपुरुषार्थ रूप है, उसी तरह, भक्ति भी अपुरुषार्थ रूप ही मानी जाने लगेगी; किंतु, भक्ति, पंचम पुरुषार्थ है, भक्ति की प्राप्ति में, भक्ति ही साधन है, भक्ति का विषय स्वयं भक्ति ही है। भक्ति ही साधन है, भक्ति ही फल है। प्रिय के प्रति हमारा जो प्रेम है, उस प्रेम में, इच्छा का कोई प्रयोजन नहीं। इच्छा के अभाव में ही प्रेम का यथार्थ स्वरूप है। प्रत्येक इच्छा में सुख की वृत्ति रहती है, किंतु, प्रेम अथवा भक्ति, सुख निरपेक्ष है! सुखसापेक्षवृत्ति में प्रेम का अस्तित्व ही कहाँ? मोक्ष की इच्छा को, भक्ति नहीं कह सकते, क्योंकि भगवद् भक्त को, मोक्ष के गंध की भी इच्छा नहीं। इच्छा की उत्पत्ति स्वार्थ में है, भक्ति की निस्वार्थ में। इच्छा का संबंध अप्राप्त वस्तु से है, भक्ति अथवा प्रेम में ऐसा नहीं।

"अन्य विद्वानों ने भी, भक्ति का प्रायः इसी स्वरूप में प्रतिपादन करते हुये, उसको उत्कंठा, लालसा, भागेच्छा आदि में ही परिगणित किया है। 'भक्ति-चिंतामणि' ने संयोग में, वियोग-वृत्ति रूप-भाव को प्रेम कहा है–'योगे वियोगवृत्तिः प्रेम'। संयोग पदार्थ की, विप्रयोग में भी अवस्थिति प्रेम कहलाती है–'संयोगपदार्थस्य विप्रयोगेऽप्यवस्थितिः प्रेमेति'। अर्थात्, भक्ति, प्रेम की वह अवस्था है, जहां संयोग में भी, प्रेमी युगल भावी-वियोग की आशंका से विह्वल तथा वियोग में संयोग की तीव्र-लालसा से विकल रहते हैं–'संयोग में भावी-वियोग-सुलभ भीरुता तथा वियोग में संयोग की उत्कंठा'–इस प्रकार की स्थिति को प्रेम अथवा भक्ति कहते हैं–'अदृष्टे दर्शनोत्कंठा, दृष्टे विश्लेषभीरुता–ना दृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्'। हरिदास आदि विद्वान भी, 'भक्तिचिंतामणि' के इसी अभिप्राय से संमत हैं। गोविंद चक्रवर्ती के मत में अनेक प्रकार की दुःसह क्लेश परंपरा से आक्रांत होते हुये भी जिस लालसा का–इच्छा का– क्षय नहीं होता निरंतर बनी रहती हो, उसे प्रेम कहते हैं। 'प्रेम लक्षण-चंद्रिका' के प्रणेता परमानंद ने, 'वस्तुमात्र में अनिर्वचनीय विषयेच्छा को ही प्रेम माना है'–और यही मत, 'प्रेम-रसायन' के रचयिता विश्वनाथ का भी है। गुणाकर, प्रेम का पर्यवसान, संयोग-सुलभ आनंद में मानते हैं"–भ. मा.।

"भक्ति के अथवा उसके पर्याय वाची प्रेम, स्नेह, रति आदि के उपर्युक्त ये सभी लक्षण असुंदर अतएव ग्राह्य नहीं हैं। प्रेम के ये सभी प्रकार लालसा अथवा इच्छा-विशेष होने के कारण भक्ति में कदापि परिगणित नहीं किये जा सकते। तदुपरांत, अमुक विद्वानों ने, जिस कामोपाधि को लेकर शृंगार-रस की उत्पत्ति होती है, उस

उपाधि-भूत काम को–कारण को–प्रेम माना है। भक्ति की यह परिभाषा भी अत्यंत विकृत है–'यमुपाधिं समाश्रित्य रस आद्यो निगद्यते। तमुपाधिं बुधोत्तंसाः प्रेमेति परिचक्षते'–ऐसा प्रेम कदापि भक्ति नहीं माना गया, क्योंकि, भक्ति का विषय एक मात्र ईश्वर श्री पुरुषोत्तम हैं–'ईश्वरविषयिणी हि सा'। यदि ऐसा न मानें तो, ईश्वर में परम अनुराग ही भक्ति है– 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' –इस सूत्र से विरोध आता है। इस सूत्र में 'परा' का अर्थ है निरुपाधिक, अहेतुक–और, उपर्युक्त परिभाषा में इसी प्रेम को–भक्ति को सोपाधिक कहा है। भक्ति, वस्तुतः निरुपाधिक है, शृंगार अथवा काम सोपाधिक है। भक्ति कदापि शृंगार-रस की अंगभूत नहीं, अन्यथा भक्ति, स्त्री-पुरुष संबंधित काम-भाव में ही समाप्त हो जाती।

इस विवेचन के अनुसार यदि भक्ति, ज्ञान नहीं, क्रिया नहीं, श्रद्धा नहीं, पूजा नहीं, उपासना नहीं, इच्छा नहीं, काम-भाव रूप शृंगार नहीं, तो फिर, इसका यथार्थ स्वरूप क्या है ? तत्त्वदीप-निबंध में, अपनी 'आवरणभंग' विवृति में गो. श्री पुरुषोत्तम ने भक्ति का अर्थ 'प्रेम-सेवा' किया है, और यही अर्थ श्रीमद् वल्लभाचार्य को अभिप्रेत है। भक्ति शब्द में, 'भज्' धातु है और 'क्तिन्' प्रत्यय। भज् धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से 'भक्ति' शब्द बनता है। भज् धातु का अर्थ है 'सेवा' 'भज् सेवायाम्'' 'भज् इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः'। तथा 'क्तिन्' प्रत्यय का अर्थ है 'प्रेम'। भज्-धातु की 'स्त्री भाव' वाचक संज्ञा बनाने के लिये' क्तिन्' प्रत्यय लगाया गया है–'स्त्रियां क्तिन्'। स्त्री भाव में प्रेम का विधान माना जाता है–'प्रत्ययार्थः प्रेम चोक्तं स्त्रीभावे तद्विधानतः'। तदुपरांत, यह एक सामान्य नियम है कि जहाँ, प्रकृति-धातु-तथा प्रत्यय ये दोनों मिलकर, जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, उसमें, उसके प्रत्यय से व्यक्त किये गये अर्थ की ही प्रधानता रहती है; तदनुसार, सेवा में प्रेम-स्नेह का ही प्राधान्य माना जायेगा–'सेवाऽपेक्षया प्रेम्णः प्राधान्यम्'। अतः भक्तिशब्द का 'प्रेम-सेवा' अथवा 'स्नेह-सेवा' जो अर्थ किया गया है वह सयुक्तिक है। भक्ति सेवात्मिका है, सेवा स्नेहात्मिका। निरंतर अथवा बारंबार आचरित कायिक-व्यापार विशेष में 'सेवा' पद रूढ है जैसे औषध-सेवा। इस तरह का यह कायिक-व्यापार एक परिचर्या मात्र ही है–यही परिचर्या अथवा सेवा तभी संपूर्ण मानी जायेगी –अपने सेवा शब्द को तभी सार्थक कर पायेगी, जब, वह स्नेह सहित स्नेहपूर्वक अनुष्ठित हो। अन्यथा, यह सेवा, स्नेह के अभाव में, एक शारीरिक श्रम अथवा क्लेश में ही परिगणित होकर पुरुषार्थ रूप नहीं रहेगी। स्नेह सहित सेवा ही पुरुषार्थ रूप है। स्नेह में ही सेवा का परिपूर्ण स्वरूप है–सेवा की चरितार्थता है। अतः यहां स्नेह-प्रेम का ही प्राधान्य है और भक्ति में क्तिन् प्रत्यय से यही तो अभिप्रेत है। और

इसीलिये शांडिल्य भक्तिसूत्र में भक्ति को स्नेह अथवा प्रेम कहा है–प्रेम और स्नेह परस्पर पर्याय हैं। भक्ति का अर्थ है 'ईश्वर में परा अनुरक्ति'–परानुरक्तिरीश्वरे- यहाँ, अनुरक्ति से स्नेह का ही अभिप्राय है। पंचरात्र ने भी स्नेह को ही भक्ति कहा है। माहात्म्य ज्ञानपूर्वक-सर्वतोधिक सुगाढ स्नेह ही भक्ति है। भक्ति का रूढार्थ स्नेह है, यौगिकार्थ सेवा है, प्रेम और सेवा इस उभय का सम्मिलितार्थ ही, भक्ति का सूचितार्थ अथवा व्यंग्यार्थ है। अतः जैसा कहा जा चुका है सेवा की सार्थकता स्नेह में ही है। सेवा तभी संपूर्ण मानी जायेगी जब स्नेहमय स्नेह-संवलित हो और स्नेह तभी संपूर्ण कहा जायेगा, जब उसमें प्रिय के प्रति सेवा का भाव हो। भक्ति का अर्थ प्रेम-सेवा है और उपनिषदों का तात्पर्य भी प्रेमसेवा में ही है–'उपनिषदां भगवत्-प्रेम-सेवायामेव तात्पर्यम्' (तत्त्व दी. नि.-शा.प्र.-योजना)।

यदि यहाँ यह प्रश्न किया जाये कि सेवा कायिक है तथा स्नेह मानसिक–सेवा वाह्य-वृत्ति है, स्नेह आभ्यंतरीय, तो फिर, इस उभय वृत्ति का युगपद्-बोध भक्ति शब्द द्वारा कैसे कराया जा सकता है, कैसे हो सकता है। इस वृत्ति-द्वय की युगपत्-सह-स्थिति का बोध एक भक्ति शब्द से किस तरह संभवित है, क्योंकि दोनों ही वृत्तियाँ परस्पर विरुद्ध हैं–'युगपद्-वृत्ति-द्वयविरोधात्'–श्री गोपे.। इसका उत्तर यह है कि वास्तव में देखा जाये तो सर्वेन्द्रियों का, तथा मन का, प्रभु की स्नेहपूर्वक सेवा में विनियोग ही भक्ति है। भक्ति वह अवस्था है जिसमें प्रभु के प्रति स्नेह का अनुभव, संयोग-काल में कायिक सेवा द्वारा, तथा वियोग काल में, उसी भगवत्-प्रति स्नेह का अनुभव, मनःकल्पन द्वारा किया जाता है। 'पुष्पवत्' शब्द की तरह, 'भक्ति' द्वारा इस उभय वृत्ति का–अवस्था का युगपद् बोध संभव है। पुष्पवत् शब्द से सूर्य तथा चंद्रमा–इन दोनों ही का एक साथ अवबोध होता है–अर्थात् पुष्पवत् शब्द, दिवा-कमल को विकसित करनेवाले सूर्य का तथा रात्रि कमल को खिलानेवाले चंद्रमा का –इन दोनों विरुद्ध-पदार्थों का युगपद् अवबोधक है। इसी तरह 'भक्ति' भी, सेवा के रूप में, भगवान् के संयोगकालीन कायिक रसानुभव की तथा प्रेम के रूप में, भगवान् के वियोगकालीन मानसिक रसानुभव की हेतु-कारण है।

**पुष्टि भक्ति का स्वरूप** :–इस संदर्भ में, यहाँ इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि पुष्टि-मार्ग में एकमात्र सेव्य-स्वरूप यशोदोत्संगलालित श्रीकृष्ण ही माने गये हैं। इस देव के अतिरिक्त अन्य किसी भी देव की सेवा, पुष्टि-मत में, 'भक्ति' नहीं कहलाती। पुष्टि-भक्ति के भी दो स्वरूप हैं–एक साधन-रूपा-मर्यादा पुष्टि जो मिश्र-पुष्टि कही जाती है तथा दूसरी फल-रूपा जो शुद्ध-पुष्टि-भक्ति मानी जाती है–'पुष्टिरत्र द्विरूपा हि मर्यादापुष्टिभेदतः'। पुष्टि-भक्ति साक्षात् भगवद्-अनुग्रह रूप है–पुष्टि

का अर्थ ही अनुग्रह है 'पोषणं तदनुग्रहः'। वस्तुतः भक्ति एकमात्र भगवद्-अनुग्रह से ही साध्य है, अनुग्रहेतर साधनों से यह कदापि संपाद्य नहीं। जहाँ, केवल भगवद्-अनुग्रह से, विना किसी साधन के, प्रभु-प्राप्ति हो वहाँ पुष्टि है, और जहाँ, भगवद्-अनुग्रह से साधनों में प्रवृत्ति-पूर्वक, अर्थात् साधनों से, प्रभु-प्राप्ति होती है, वहां भक्ति-मार्गानुसार, मर्यादा-पुष्टिभक्ति है। तदनुसार, निःसाधनानुग्रह ही पुष्टि है तथा साधनानुग्रह ही मर्यादा है 'निःसाधनानुग्रहः पुष्टिः, साधनानुग्रहो मर्यादा'–श्री गोपे.।

भगवान् ने अपनी प्राप्ति के लिये दो मार्ग प्रकट किये हैं, एक मर्यादा, दूसरा पुष्टि। जिन जीवों का शुद्ध-मर्यादा में अंगीकरण हुआ है, उनको प्रभुप्राप्ति साधनक्रम से करायी जाती है, तथा जिन जीवों का शुद्ध-पुष्टि मार्ग में अंगीकरण हुआ है, उनको केवल भगवद्-अनुग्रह से ही, विना किसी साधन के, प्रभु अपनी प्राप्ति कराते हैं। वस्तुतः देखा जाये तो, जीव में, भगवत्-प्राप्ति के लिये जो आद्य प्रवृत्ति होती है, उसमें एकमात्र हेतु, भगवद्-अनुग्रह ही है।

(मर्यादा-पुष्टि भक्ति में तथा शुद्ध-मर्यादा-भक्ति में, इतना ही भेद है कि पुष्टि-संप्रदाय के पंचाक्षर मंत्र की दीक्षापूर्वक आत्म-निवेदनान्तर, साधनानुष्ठान-पूर्वक सिद्ध की गयी भक्ति, मर्यादा-पुष्टि अथवा मिश्र-पुष्टि भक्ति है। दीक्षा के पूर्व इसी प्रकार साधनों से सिद्ध की गयी भक्ति शुद्ध मर्यादामार्गीय-भक्ति है। (यहाँ सेव्य-स्वरूप एकमात्र यशोदोत्संग-लालित श्रीकृष्ण ही माने गये हैं।) मर्यादा-पुष्टि में, साधनों के अनुष्ठान में त्रुटि होने पर भी, भक्त, अपराध का पात्र नहीं माना जाता, ऐसी अवस्था में उसे अन्ततः सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति होती ही है–'यानास्थाय नरो राजन्! न प्रमाद्येत कर्हिचित्। धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेत् न पतेदिह'। किंतु, शुद्ध मर्यादा में, साधनों में प्रमाद होने पर, भक्त को फलप्राप्ति नहीं होती, यदि होती है तो विलंब से।)

"जैसा प्रतिपादित किया जा चुका है भक्ति का मुख्य अर्थ स्नेह है। इस प्रकार की भक्ति का उद्गम भगवद्-अनुग्रह से ही होता है। अनुग्रह-सुलभ यह स्नेहरूपा भक्ति कभी किसी में सहसा अनायास ही अभिव्यक्त होती है, तथा कहीं सत्संग अथवा श्रवणादि साधनों द्वारा अर्थात् शास्त्रीय साधनक्रम से उत्पन्न होती है। जहाँ जिन जीवों का शुद्ध पुष्टिमार्ग में अंगीकरण हुआ है, वहाँ उन जीवों में भक्ति का सहसा आविर्भाव होता है जैसे, गोपांगनाओं में। जो मिश्र पुष्टि-जीव हैं, उनमें साधन-मिश्र-भाव के कारण, साधनों द्वारा ही इस स्नेहरूपा भक्ति का उदय माना गया है, गोपांगनाओं की तरह सहज-सहसा रूप से नहीं। जिन जीवों में, भक्ति की इस तरह साधनों द्वारा अभिव्यक्ति होती है, उन जीवों में, यह अनाविर्भूत-भक्ति,

'भाव' रूप से मन में ही निगूढ स्थिति किये हुये, पूर्व से ही अवस्थित रहती है-भक्ति का यही 'बीज' भाव है। तदनन्तर, पूजादि साधनों के निरंतर अनुष्ठान करते रहने पर यही 'बीज'-भाव से स्थित भक्ति, प्रेमादि अवस्थाओं में यथाक्रम अंकुरित होती हुयी विकसित होती है। देवादिविषयिणी-रति को ही 'भाव' कहते हैं, अर्थात् यह भाव-भक्ति-प्रथम ही प्रथम, स्नेह-प्रेम-रूपमें, फिर आसक्ति के रूप में, तदनन्तर, व्यसन रूप में पूर्णतया अभिव्यक्त होता है। यह प्रेम, मन का, ज्ञान प्रभृति से अतिरिक्त, एक धर्म-विशेष है, अतः भक्ति में, मानसी क्रिया ही प्रधान है।

प्रेम, आसक्ति तथा व्यसन-इन तीनों कक्षाओं में से, भक्ति के यथोत्तर आविर्भाव क्रम में, प्रथम ही प्रथम, मन, प्रभु की ओर झुकता है प्रह्व होता है, फिर, प्रभु के अधीन बनता हुआ एवं अंत में, प्रभु में ही एकतान हो जाता है। मन की, प्रभु के प्रति यह सहज प्रथम-आद्य-वृत्ति, (प्रह्व-भाव) प्रेम कहलाती है–'स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेम'–भ. व.–गो. श्री कल्याणराय। तदनन्तर, मन, इस तरह यथाक्रम प्रभु-प्रवण, होता हुआ, प्रभु के ही आधीन हो जाता है–मन की यह द्वितीय-अवस्था 'आसक्ति' कही जाती है। 'आसक्ति' मन का स्वभाव है, जिसका निग्रह-असंभव है, स्वभाव का परित्याग क्या कोई कर सका है? – 'चित्त-स्वभाव आसक्तिर्यस्त्यक्तुं नैव शक्यते'–गो. श्रीवल्लभ। चित्त को तो अपनी आसक्ति का विषय चाहिये, फिर वह लौकिक हो या अलौकिक, विषय हो या विष्णु। स्वविषय से संबंधित अनेक विध मनोरथों को जन्म देने वाला भाव ही आसक्ति है। प्रपंच की विस्मृति-पूर्वक, प्रभु में रागादि रूपा यही आसक्ति, अन्ततः, व्यसन भाव में परिणत हो जाती है। प्रेमासक्ति के प्रकर्ष की उत्तरकालीन इस व्यसनवृत्ति में, जीव की, प्रभु-विना, प्राण-स्थिति असंभव हो जाती है। यह व्यसन, भगवान् के गुण-तथा उनकी लीला आदि के प्राधान्य को लेकर नहीं होता, अपितु, भगवत्-स्वरूप के प्रति ही होता है। यहां, व्यसन के विषय साक्षात् प्रभु हैं, तदनुसार, स्वविषय के अभाव में-अदर्शन में, प्राण धारण करने की अशक्ति का भाव ही व्यसन-भाव है-'व्यसनं स्वविषय-विना स्थातुमशक्तिजनको भावः'। प्रभु के प्रति प्रेमलक्षणा-भक्ति की, 'प्रेमसेवा' की, यह 'व्यसन' अंतिम कक्षा है–यही व्यसन-निरोध है। यहां चित्त, भगवान् में एकाकार रूपता को प्राप्त होता है जिसे तन्मयता कहते हैं। व्यसन में प्रलाप, व्याधि, उन्माद तथा मोहावस्था को प्राप्त भक्त की जब मरणोन्मुख स्थिति होने लगती है, तब, भक्त में, प्रभु का आवेश होता है, भगवान् उसकी समग्र देह में, काष्ठ में अग्नि की तरह, व्याप्त हो जाते हैं, और, भक्त, कृतार्थ हो जाता है। श्रीमद्-आचार्य-चरण को भक्ति का यही स्वरूप अभिप्रेत है-और, उसी का आलेखन आपने इस तरह किया है– 'ततः प्रेम तथाऽसक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत्'–'यदा स्यात्

व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' । श्रीभागवत में, इस प्रकार की एकतानता को, गंभीरता को प्राप्त गोपांगनाओं के चित्त की अवस्था का वर्णन, स्वयं-भगवान् ने किया है– 'मेरे में ही अनन्य अनुरक्त-चित्तवाली गोपांगनायें स्वयं अपने आपको ही भूल गयीं, अपने आपको ही नहीं पहिचान सकीं कि वे कौन हैं-यह कौन है-वह कौन है ? समाधि में जिस तरह मन का लय हो जाता है, समुद्र में जिस तरह सरितायें रूप, नाम सहित विलीन हो जातीं हैं, यथावत् उसी तरह इन गोपांगनाओं के चित्त की मेरे में स्थिति है।' इस प्रकार की गंभीरता को प्राप्त जो चित्त है, अथवा, जैसे समाधि में होता है, वैसे, प्रभु में लय-भाव को प्राप्त जो चित्त है, वही 'सेवा-रूप' है–'इत्यादि-वाक्योक्तप्रकारां गंभीरतां प्राप्तं यच्चेतस्तदेव 'सेवा-रूपम्'– समाधाविव भगवति लयं प्राप्तमिति यावत्'–श्री गोपे. ।

**सर्वात्म भाव :–** व्यसन-निरोध के हार्द को अभिव्यक्त करने वाला परिभाषिक शब्द-'सर्वात्मभाव' है । सर्वात्म-भाव में भक्ति की निरवधि रस रूपता का अनुभव होता है । वास्तव में देखा जाये तो, निरोध-दशा, व्यसन-भाव की ही संपूर्ण विकसित अवस्था है, और, सर्वात्मभाव, निरोध की पराकाष्ठा-वह पराकाष्ठा जिसका उपनिषदों ने 'रसो वै सः' इस रहस्यमय-पदावलि द्वारा निरूपण किया है। सर्वात्मभाव की अवस्था, आत्मा तथा ब्रह्मांड से भी अतीत हैं–उपनिषदों ने इस को 'भूयस्' संज्ञा दी है, और भक्ति का वस्तुतः यही समुज्ज्वल-दार्शनिक स्वरुप है। सर्वात्मभाव अवस्था में, सर्वत्र सर्व-रूप जो आत्मा है उसी की सत्ता-विद्यमानता-रहती है। भ्रमर-गीत में, श्री उद्धवने, गोपांगनाओं को, उनकी इसी सर्वात्मभाव-रूप सिद्धि के लिये अभिनंदन दिया है–'सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीभिरधोक्षजे–विरहेण महाभागा ! महान्मेऽनु-ग्रहकृतः' । इस श्लोक में प्रयुक्त 'सर्वात्मभाव' की व्याख्या श्रीसुबोधिनी में इस तरह की गयी है–"जहाँ, अपनी आत्मा से संबंधित सर्व प्रकार के भाव को, भगवान् में ही प्रस्थापित कर दिया गया हो–उस भाव को–जिसकी प्रेम, आसक्ति तथा व्यसन में यथोत्तर उत्पत्ति तथा परिणति का प्रारंभ तथा अंत भी, भगवान् से तथा भगवान् में ही किया गया हो, वहाँ, इस प्रकार की यह अवस्था 'सर्वात्मभाव' कहलाती है।" इस व्याख्या के अनुसार, यह सर्वात्मभाव ही भक्ति-रूप है, क्योंकि, उत्तरोत्तर प्रेम तथा आसक्ति में अभिव्यक्त होती हुई भक्ति की व्यसन में ही परिणति मानी गयी है । श्री उद्धवने इसी सर्वात्मभाव को मुख्यभक्ति माना है, जो मुनियों को भी दुर्लभ है- 'भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा–भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा' । सर्वात्मभाव में, 'सर्व' पद इन्द्रियों का वाचक है, 'आत्म' पद, अंतःकरण का वाचक है तथा 'भाव' पद भगवत्-परता-का, भगवान् के प्रति प्रेम का-वाचक है-अर्थात् समग्र

इन्द्रियों की तथा अंतःकरण की भगवत्-परता-ओतप्रोत स्थिति ही-सर्वात्मभाव है। इस तरह, यह सर्वात्मभाव, पुष्टि-भक्ति का परमोत्कृष्ट स्वरूप है, यहीं 'मुख्य-भक्ति' है-जो व्यसन-निरोध की ही रसमय परिणति है।

भक्त के इन्द्रिय, प्राण, अंतःकरण तथा जीव में सदा सर्वात्मा श्री पुरुषोत्तम की विद्यमानता, उससे अवियोग होते हुये भी, प्रतिक्षण वियोग का अनुभव ही सर्वात्मभाव है। प्रियतम के बाहुपाश में आबद्ध होते हुये भी, 'मानों प्रियतम मुझे छोड़ कर गये'– इस प्रकार की भावना से जहां वियोगानुभव होता रहे, उसे सर्वात्मभाव कहते हैं–अर्थात् संयोग काल में भी, अनन्त-विप्रयोग की लहरों में, भावनाओं में निमग्न अवस्था सर्वात्मभाव है– 'सर्वात्मभावो नाम सर्वत्रात्मनो भावो विद्यमानता-अवियोगो, येन भावी तादृशो वियोगानुभवः'–गो. श्री. पुरुषोत्तम। 'विप्रयोग में सगरो पदार्थ प्रभु रूप ही दीसे, तब, भगवत् सेवा-मय संयोग हूं में विप्रयोग होय। प्रभु के दर्शन में पलक आड़ि परे तो विप्रयोग होय, विकल होय, प्रेम लहरी में यह जाने जो प्रभु मोकुँ छोडि कहुँ गये'–गो. श्रीहरिराय।

सर्वात्मभाव ही 'मुख्य-भक्ति' है। सर्वात्मभाव रूप यह मुख्य-भक्ति किस तरह सिद्ध की जा सकती है? 'अतः परं मुख्य-भक्तिः केन सिद्धयति?' यहां, भक्त को, प्रारंभ से ही भगवत्-प्राप्ति की उत्कट लालसा रहती है। भगवान् की प्राप्ति के लिये, अनेकों साधन करते हुये भी, जब, उसे भगवान् नहीं मिलते, तब वह इन साधनों का परित्याग करके निरुपाय, निःसाधन तथा कातर बनकर, अपने आपको, भगवद्-इच्छा के ही आधीन कर देता है–'मैं सब साधन कर चुका, अब, आपही मेरे एकमात्र शरण्य हो–त्वमेव शरणं मम-इस प्रकार की यह शरणागति, यह शरण-भाव, भक्त के प्रयत्नों से सिद्ध हुआ है ऐसा नहीं है। यह भावोदय तो उसमें उसकी निःसाधनता को लेकर स्वतः ही हुआ है। वस्तुतः इस प्रकार से निःसाधन तथा दैन्य-भावापन्न भक्त को ही, भगवान् स्वकीय रूप में 'वरण' करते हैं तथा उसे सर्वात्मभाव का अलभ्य दान देते हैं– 'प्रदानवत्' ब्र. सू. ३३.४३.। परमात्मा की प्राप्ति, वरण सुलभ सर्वात्मभाव से ही सिद्ध होती है। अतः, सर्वात्मभाव, एक मात्र वरण से ही संपाद्य माना गया है, इतर साधनों से तो यह सर्वथा अप्राप्य है- 'परमात्मनो लभ्यत्वे वरणजन्य-सर्वात्मभावलभ्यत्वम्–इति सर्वात्मभावो वरणैकलभ्यः- नत्वितरसाधन-साध्य इत्यर्थः–श्री गोपे.। ऐसी स्थिति में, जगत् के आत्म-स्वरूप श्री पुरुषोत्तम, भक्त की आत्मा में आविर्भूत होते हैं, जीव-मात्र के आत्म रूप भगवान्, स्वशरीररूप जीव का वरण करते हैं–'विवृणुते तनूं स्वाम्'–आत्मा को, उसकी अति प्रियरूप आत्मा उपलब्ध होती है।

तदनुसार, यह सर्वात्मभाव, प्रभु द्वारा भक्त के वरण का ज्ञापक-चिन्ह है। भक्त की सर्वात्मभाव अवस्था से यह स्वतः ज्ञात हो जाता है कि भगवान् ने इसका 'वरण' कर लिया है– कन्या के विवाहावस्था का ज्ञापक लिंग-जैसे मंगल-सूत्र है, उसी तरह, सर्वात्मभाव, भक्त के वरण का-चिन्ह-लिंग है 'लिंगभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि' ब्र.सू. ३.३.३४.।

छांदोग्य-उपनिषद् में इसी सर्वात्मभाव का, 'भूमा' के रूप में दार्शनिक विवेचन किया गया है। 'भूमा'–सर्वात्मभाव की दार्शनिक संज्ञा है। वहां नारद, सनत्कुमार से प्रश्न करते हैं कि, 'भगवन्! आपने जो कहा कि यह भूमा ही सुख-रूप है, तो कृपया मुझे इस भूमा का स्वरूप समझाइये'। सनत्कुमार ने कहा 'वत्स! जो भूयस्-सर्व से अधिक है, वही भूमा है। यह भूमा ही ऊपर है, नीचे है, आगे है, पीछे है, इधर है, उधर है–सर्वत्र भूमा ही है। भूमा की सिद्ध अवस्था में, अर्थात् जिसे यह प्राप्त है, वह, भूमा के अतिरिक्त न अन्य को देखता है, न अन्य को सुनता है, न अन्य जो जानता है, जब, सर्वत्र भूमा ही है, तब, उस अवस्था में, वह अन्य को कैसे देखेगा-सुनेगा-जानेगा? नान्यत् पश्यति-नान्यत् शृणोति-नान्यत् जानाति'। जिस तरह विरहावस्था में, प्रियतमा को समग्र ब्रह्मांड प्रियमय दीखने लगता है, उसी तरह सर्वात्मभाव में, भगवद्-अंगीकृत भक्त के लिये, जगत्, भगवन्मय हो जाता है। तदनुसार, भूमा के इस विवेचन से, सर्वात्मभाव का ही स्पष्टीकरण किया गया है। अतः वरण-लिंग सर्वात्मभाव, सर्व से अधिक अतएव भूमा-भूयस् है। भूयस् की तरह ही, यह सर्वात्मभाव भी, काल और कर्म से भी अधिक बलवान कहा गया है-ज्ञान भी इस सर्वात्मभाव का प्रतिबंध करने में असमर्थ है– 'वरणलिंगः सर्वात्मभाव :- तस्यैव भूयस्त्वात् सर्वतोऽधिकत्वात् तद्वरणमेव सर्वतः कालादेर्बलीयः'। तदुपरांत, जो भूमा है वही सुख है– 'यो वै भूमा तत्सुखम्'– अर्थात्, भूमा आनन्द रूप, रस रूप है। रस की अभिव्यक्ति आन्तर में ही होने के कारण, भूमा स्वरूप की भी यहाँ ही अभिव्यक्ति होती है– अपने इस आनन्दत्व अथवा रसत्व एवं अन्तर्वर्तित्व के कारण, भूमा, रसरूप माना जाता है। इस तरह रस-रूप होने के कारण, भूमा की सर्वात्मभाव रूपता सिद्ध हो जाती है–'रस-रूपत्वेन भूम्नः सर्वात्मभाव-रूपत्वं सिद्धयति'– भाष्य-प्रकाश-ब्रह्म-सूत्र-परिशिष्ट।

आनन्द ही परमासक्ति को जन्म देता है। लोक में भी, उसी के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, जो आनन्द-जनक है-'तत्र परमासक्तिश्च आनन्दजन्यैव। लोके आनन्दजनके एव आसक्तिदर्शनात्-' भा.प्र.ब्र.सू. ३.३.४३. इस तरह, यह सर्वात्मभाव, परम आसक्ति रूप है और यही सिद्धांत उत्तम है- 'परमासक्तिः सर्वात्मभाव इत्येव पक्ष साधीयानिति' -भ.मा.। परमासक्ति रूप इस सर्वात्मभाव में, आसक्ति

का विषय जो साक्षात् परब्रह्म है, उसके अदर्शन से, उसकी अप्राप्ति में, विरह-सुलभ आर्ति-वेदना-होती है। यह, इस प्रकार की भगवद्-विरह-वेदना ही विगाढ भाव है– इस विगाढ-भाव के कारण, सर्वातमभाव की अवस्था में, सर्वत्र प्रिय-रूप एकमात्र भगवान् की ही स्फूर्ति रहती है, उसी का सर्वांग में, सर्वत्र जगत में अनुभव होता है। पुत्रादि में परमासक्ति रूप इस प्रकार का यह भाव सर्व अनुभवगम्य है। माता को, अपने पुत्र में, परम आसक्ति के कारण, सर्वत्र उसका पुत्र ही नजर आता है। 'प्रिय ही सर्वत्र दिखाई देने लगता है'- इसका अर्थ है- 'सर्वत्र 'प्रियत्व-' रूपभाव की ही स्फूर्ति हो रही है, क्योंकि, यहाँ 'प्रिय' के प्रति, प्रियतमा का भाव ही 'प्रिय रूप' बना हुआ है, अतः प्रियतमा को, विरह में, सर्वत्र इसी प्रिय-रूप भाव की-प्रियत्व की स्फूर्ति रहती है, अनुभव होता है, और, यही सर्वात्म-भाव है। ब्र. सू. भाष्य प्र.।

इसी आशय को ब्र.सू. ३.३.४३ के अणु-भाष्य में इस तरह स्पष्ट किया गया है– 'भगवान् में ही एकांततया अनुरक्त चित्त वाले भक्त को-भगवति अनुरक्तचित्तस्य-भगवद् अदर्शन में, भगवद्-विरह सुलभ परमार्ति व्यथित करने लगती है, यही विगाढ भाव है। भक्त को, भगवद्-वियोग में, भगवद्-अदर्शन से जो विरह-वेदना होती है, उसमें, भगवान् के प्रति भक्त का अनुरागपूर्ण-भाव ही, उसकी अनुरागात्मा ही मूल हेतु है। भक्त का यह अनुरागात्मक-भाव ही, भगवद्-वियोग में वेदना-जनक है– और यही विगाढ-भाव है- 'विशेषेण गाढः कामादिभिः भावः प्रेमा'। आसक्ति की उत्कर्षावस्था राग है, अतः विगाढ भाव, परमासक्ति रूप माना गया है, इस तरह वस्तुतः, परमासक्ति रूप यह जो विगाढ भाव है, वह सर्वात्म-भाव ही है इसका स्पष्टीकरण इस तरह है–

पूर्व में, जैसे कहा गया है कि आनन्द, परमासक्ति का जनक है। लोक में भी, जो आनन्द-जनक है, उसमें ही आसक्ति होती है। पुरुष की स्त्री में अथवा स्त्री की पुरुष में जो आसक्ति होती है वह इसलिये कि पुरुष के लिये स्त्री अथवा स्त्री के लिये पुरुष, अन्योन्य के लिये, अन्योन्य आनन्द-जनक है। श्रुतिने, आत्मा को निरतिशय-निरवधि आनन्दरूप-रसरूप कहा है, अतः प्राणी-मात्र की आसक्ति एकमात्र इस आत्मा के प्रति ही है; क्योंकि, यह आत्मा, पुत्र-मित्र-वित्त, देह, गेह, दारा आदि विश्व के सभी पदार्थों से अधिक-सर्वाधिक प्रियरूप अतएव एकमात्र आनन्द-जनक है। पुत्रादि के प्रति जो प्रेम है, वह वस्तुतः, पुत्रादि को लेकर नहीं है, अपितु, यह 'मेरा' पुत्र है, अपने इस आत्म-भाव को लेकर, 'आत्मा' के प्रति ही है। केवल-पुत्र-भाव को लेकर यह प्रीति नही है-किंतु, आत्मा से पुत्र की संबंधिता के कारण, पुत्र आत्मरूप है, इसलिये यह प्रीति है-'न पुत्रकामाय पुत्रः प्रियो भवति, आत्मनः कामाय पुत्रः प्रियो भवति'।

पुत्र की कामना से पुत्र प्रिय नहीं है, आत्मा की कामना से पुत्र प्रिय है। इस आत्मा का जो धर्म अथवा भाव है, उसे भगवद्-धर्म अथवा भगवद्-भाव कहते हैं। यह धर्म वस्तुत: आत्म-रूप ही है-'आत्मा का अंश नहीं-अंशी ही है, इसके एक अणु से-मात्रामात्र-से- यह समग्र-विश्व अनुप्राणित है, आनन्दित है, यही आत्म-धर्म 'प्रियत्व' कहलाता है-प्रिय रूप है। 'प्रियत्व' रूप यह धर्म, भगवान् का, ऐश्वर्यादि षड्धर्मों से अतिरिक्त, एक धर्म विशेष माना गया है। भगवान् अपने इस धर्म का-अपने प्रियत्व-रूप धर्म का-दान, उसी भक्त को करते हैं, जो उनमें निरतिशय अनुराग-मय चित्तवाला होता है-और, उसी को इसका अनुभव भी कराते हैं। अत:, इस प्रियत्व रूप भगवद् धर्म की स्फूर्ति भक्त को ही होती है, अन्य देह-धारियों को नहीं। भक्त, अपनी भगवद्-विरह-सुलभ विगाढ भाव की अवस्था में आविर्भूत इसी प्रियत्व का, भगवद् धर्म का सर्वत्र अनुभव करता है-यह प्रियत्वानुभव ही सर्वात्म-भाव है और, इसीलिये इस प्रकार के भगवद्-धर्म के तथा विगाढभाव के स्फुरणों में, अनुभूति में, 'सर्वात्मभाव'-पद का प्रयोग सार्थक है 'अतोविगाढभावेन सर्वत्र तथानुभवरूपं यत्कार्यं तादृशः प्रियत्वानुभवः सर्वात्मभाव इति फलति-तेन भगवद्-धर्म-विगाढभाव तथा स्फूर्तिषु सर्वात्म-भावः प्रयोग': भ. मा.-ब्र.सू.-भा. प्रकाश।

अर्थात् प्रेम-सुलभ परमासक्ति की अवस्था में, प्रेमी सर्वत्र प्रियतमा को ही देखता है–'सा सा सा सा जगति' यहाँ तक कि उसके वियोग में भी सर्वत्र निरंतर उसी की उपस्थिति का अनुभव करता है, वही दीख पडती है, लेकिन, प्रभु तो वैसे ही सर्व-रूप, सर्वत्र हैं, अत:, यदि भक्त को, प्रभुमें अपनी परमासक्ति के कारण, सर्व पदार्थ प्रभुमय दिखाई देने लगते हों तो वह स्वाभाविक है, क्योंकि, समग्र ब्रह्मांड प्रभु रूप है, उसका ही अविकृत-परिणाम-स्वरूप है।

सर्वात्म-भाव में, भक्त की स्वआत्मा के प्रति जो रति-प्रेम-है, वही रति प्रभु के प्रति हो जाती है। भक्त के लिये, प्रभु ही उसकी आत्मा रूप हो जाते हैं–और, साक्षात् यह प्रभु ही, यह 'रसो वै सः' ही, उस आत्मा के साक्षात् अनुभव रूप। भक्त, प्रभु को ही स्वकीय आत्मारूप मानने लगता है। उसका आत्म-भाव, भगवद्-भाव में परि-वर्तित हो जाता है। अत: भक्त की आत्मा से संबंधित जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी, भगवत्-संबंधि, भगवदीय हो जाते हैं। भक्त का, जगत् के पदार्थों से जो स्नेह-प्रेम-है, वह संपूर्ण भगवद्-अर्थ ही है, भगवान् के लिये ही है। इस भाव को लेकर ही उसकी उनमें प्रीति है- 'आत्मनः कामाय' प्रीति नहीं होती, 'भगवतः कामाय' प्रीति होती है। सर्वात्मभाव में आत्म-रति, भगवद् रति में परिणत होती है। प्रसंगत:, यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि सर्वात्मभाव में, आत्मा की ब्रह्म से, पदार्थ मात्र से अभेदरूपता,

शांकरके 'केवलाद्वैत' जैसी अर्थात् ज्ञानमार्गीय अभेदरूपता (Absolute-Monism) जैसी नहीं है। आत्मा से अभेद रूपता को-अभेद दर्शन को ही यदि आत्मानुभूति मानलें, तो फिर, प्रभु के प्रति प्रेम, भक्त के लिये, एक आनन्द रहित-स्थिति मात्र ही रह जायेगी। प्रेम-सुलभ आनन्दानुभव अथवा भजनानन्दोपभोग के अभाव में, प्रेम की चरितार्थता ही कहाँ ? 'जिस के लिये यह सब कुछ आत्म-रूप हो गया हो—तो वह किससे किसको देखेगा ?' यस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तर्हि केन कं पश्येत्-इस श्रुति का तात्पर्य, यदि भेद-विलोपन अथवा 'अभेद-ज्ञान' में-स्वात्मत्व रूप ज्ञान में, मान लिया जाये तो वह भजनानन्द का बाधक-कहलायेगा ऐसी स्थिति में भक्त, भजनानन्दोपभोग से वंचित ही रहेगा-'स्वात्मत्वेन ज्ञानं हि, तर्हि केन कं पश्येत् इति श्रुतेः भेदविलोकत्वेन भजनानन्दान्तरायभूतं, यदि स्वात्मत्वेन ज्ञानं संपादयेत् भजनानंदं नाद्यात्'-भ.मा.।

ज्ञान-मार्ग के अनुयायी, उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित आत्मा की ब्रह्म से अभेदता को ही 'केवलाद्वैत' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं—यह मत पुष्टि-मार्ग को सम्मत नहीं है। उनके मत में इस प्रकार की यह अभेदरूपता, सर्वात्म-भाव सुलभ परम आसक्ति से संबंधित है, ज्ञान से नहीं। सर्वात्म-भाव रूप भक्ति के रसमय-स्वरूप को सुस्पष्ट करने के लिये ही, यहां आत्मा तथा ब्रह्म की-भक्त तथा भगवान् की दार्शनिक-अभिन्नता पर भार दिया गया है-अर्थात् श्रुतियों ने तो, परम-आसक्ति की दशा में, भक्त को, भगवान् से जिस अभेदता की स्फूर्ति-होती है, उसका प्रतिपादन किया है। वास्तव में देखा जाये तो, परम-आसक्ति अथवा अति-विगाढ भाव की दशा में जिसे सर्वात्म-भाव कहते हैं, भक्त को कृष्ण से एकत्व की स्फूर्ति होती है। अभेद की यह स्फूर्ति-अथवा इस प्रकार का यह अभेद-ज्ञान, भक्ति का फलरूप नहीं है, अपितु भक्तिरस का पोषक, अश्रु-प्रलापादि व्यभिचारी-भावों में से, एक व्यभिचारी भाव-मात्र है। भक्ति–रस है, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी-भावों से ही इसकी निष्पत्ति होती है। भक्तिरस का स्थायी भाव स्नेह है—भक्तिरस के पोषक-भाव अश्रु, प्रलाप, अभेद की प्रतीति आदि व्यभिचारी भाव है जो क्षणस्थायी माने जाते हैं। तदनुसार, आसक्ति की उत्कट अवस्था में भक्त को 'मैं कृष्ण हूँ—कृष्ण ही, मैं हूँ—इस प्रकार से प्रतीति होती है। स्वयं में कृष्ण का तथा कृष्ण में स्वयं का यह विधान-अथवा व्यत्यय (Reciprocity) व्यतिहार कहलाता है। सविशेष-बुद्धि-व्यत्यय को व्यभिचारी-भाव कहते हैं—'व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत्', इतरवत्-अश्रुप्रलापादिवत् भक्तानां 'अहं कृष्णः कृष्णोऽहमिति' व्यतिहारः, विशेषणबुद्धिव्यत्ययो व्यभिचारि-भावः'। इस तरह, अभेद की स्फूर्ति, सर्वात्मभाव रूप विप्रयोगात्मक भक्ति-रस का एक-व्यभिचारी-भाव मात्र है; अतिविगाढभावेऽभेदस्फूर्तिरप्येको व्यभिचारिभावः'।

भक्ति-रस की, यह अभेद-दर्शन, अंतिम उपलब्धि नहीं है- ज्ञानी की तरह, भक्त के लिये यह निरंतर स्थिति नहीं है! क्योंकि, इस प्रकार का अभेद-ज्ञान, भजनानन्द का बाधक है, अत:, भगवान् स्वभक्त के लिये इस प्रकार के ज्ञान का अनुदान कदापि नहीं करते–'भजनानंदव्यवधायकं स्वात्मत्वेन ज्ञानं भगवता न संपाद्यते'– भ.मा.। 'तत् केन कं पश्येत'-(वह किससे किस को देखे?) इस श्रुति में जिस अभेद-रुपता का निर्देश किया गया हैं उसका सर्वात्मभाववान् भक्त की स्फूर्ति में अभाव होने के कारण, उसकी यह–स्फूर्ति, अखंड-ब्रह्म-ज्ञान-रूप नहीं हैं, किंतु, सखंड़-ब्रह्म-ज्ञान रूप है। भक्ति की अंतिम फल श्रुति ज्ञान नहीं है-ज्ञानस्य भक्तिफलत्वाऽभावात्। ज्ञान, भक्ति का एक अंग मात्र है। इस प्रकार की 'अभेद-रूपता' ही, सखंड़-ब्रह्म-ज्ञानानुभूति ही, पुष्टि-भक्ति के 'अद्वैत' का स्वरूप है।

इस प्रकार की यह सर्वात्मभाव अवस्था लौकिक-रस में भी देखी जाती है किंतु, वह-रसाभास रूप ही है। छांदोग्य-श्रुति में, कदाचित्, इसी शंका के समाधान में, सनत्कुमार ने जो कथन किया है, वह दार्शनिक होता हुआ भी, मनोवैज्ञानिक है– 'नाऽल्पे सुखमस्ति'–अल्प में सुख नहीं है–इस संक्षेप उक्ति में, इसी रसाभास का समर्थन किया गया है। अल्प-में तथा अनल्प अर्थात् भूमा में महदन्तर है। भूमा सर्वाधिक होने के कारण 'अमृत' है–जो अल्प है वह मर्त्य है लोक संबंधी है–'यो वै भूमा तदमृतम्-यदल्पं तन्मर्त्यम्'। अत: सर्वात्म-भाव, जो भूमा रूप है-अमृत है, मर्त्य अथवा लौकिक-अवस्था-विशेष नहीं। वस्तुत: अल्पही-मर्त्य है लौकिक है. क्योंकि, उसका पर्यवसान शोक में, रसाभास में होता है। शोक में–पर्यवसित होने के कारण अल्प में सुख का एकांत अभाव है–'शोके पर्यवसानात् नाऽल्पे सुखमस्ति'. ब्र.सू. ३.३.६६. परिशिष्ट.। सर्वात्मभाव के अमृत रूप में इस प्रतिपादन से यह सिद्ध होता है कि यह अवस्था काल से अपरिच्छिन्न है-'भूम्नोऽमृतत्वकथनात् कालापरिच्छिन्नत्वं बोधितम्'। लौकिक काम-रस अथवा तत्सुलभ तथाकथित सर्वात्मभाव जैसी अवस्थायें कालोपाधिक होती हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सर्वात्मभाव रूप, यह भूमा रूप रस-अवस्था किसी विरल एकांत भक्त को ही उपलब्ध होती हैं, गोपांगनायें इसी कक्षा को प्राप्त थीं– 'तेनेदं सर्वात्म-भावरूपं भूमाख्यं सुखमत्यंतैकान्तिकभक्ते एव निश्चीयते-' ब्र.सू. ३.३.६६ परिशिष्ट.।

ब्र.सू. के ३.३.५७ सूत्र में यही शंका इस तरह प्रस्तुत की गयी है। "सर्वात्मभाव से संबंधित जिन विगाढ आदि भावों का उल्लेख किया गया है, वही भाव, लोक में, शृंगार रस से युक्त स्त्री और पुरुषों में भी उपलब्ध होते हैं, तथा अन्य साहित्यिक ग्रंथों में एवं भरत-कृत नाट्यादि-शास्त्रों में भी उनका निरूपण हुआ है। सर्वात्मभाव की

अवस्था के समान ही, यहाँ भी कामातुर पुरुष को सर्वत्र उसकी प्रियतमा ही दीख पड़ती है। ऐसी स्थिति में, लौकिक-समान धर्मों से युक्त होते हुये भी, सर्वात्मभाव को अलौकिक 'अक्षर' आदि के ज्ञान से भी अधिक, मोक्ष तथा जीवन्मुक्त अवस्थाओं से भी उत्तम जो कहा गया है, वह असंगत है। सर्वसाधारण को जैसे प्रभु में मनुष्य आदि की बुद्धि है, वैसे ही गोपियों को भी, प्रभु में काम-बुद्धि थी। अतः सर्वात्मभाव, अलौकिक भाव नहीं, लौकिक भाव है—काम शेष है।"

इस प्रकार की यह शंका असंगत है—क्योंकि, यह सर्वात्मभाव तभी उत्पन्न होता है, जब, स्वयं भगवान्, भक्त का वरण करते हैं। यह वरण श्रुति प्रतिपादित है और इस प्रकार का यह वरण सर्वात्मभाव में हेतु माना गया है। यह वरण यद्यपि लौकिक-क्रिया जैसा प्रतीत होता है, वस्तुतः यह अलौकिक ही है। क्योंकि, इसकी सिद्धि वेदादि अलौकिक प्रमाण के आधार पर की गयी है। वास्तव में तो, जैसे, ग्राम-सिंह अर्थात् गांव का श्वान यद्यपि देखाव में, आकृति आदि से सिंह जैसा प्रतीत होता है, किंतु यथार्थ में वह सिंह नहीं, श्वान ही है—'वस्तुतस्तु, ग्रामसिंहस्य, सिंहरूपत्वेऽपि न तद्रूपत्वं वक्तुं शक्यते' ब्र. सू. ३.३.५७ अणु. भाष्य। इसी तरह, लौकिक पुरुष में अथवा स्त्री में प्रतिष्ठित जिस रस का निरूपण शास्त्र में किया गया है वह इसका आभास मात्र है, जिसके उदाहरण—दृष्टांत—द्वारा भगवद्-भाव से अर्थात् विगाढ भाव से संपन्न भक्त जिस रस का अनुभव करता है, उसके निगूढ-स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया गया है' भगवद्-भक्त की रीति का परिचय देने के लिए, निर्देश किया गया है। अन्यथा, उदाहरण के अभाव में इसे समझाया ही कैसे जायेगा? 'लौकिक-पुंसि नार्यां' वा तदाभासो रसशास्त्रे निरूप्यते। तत् दृष्टांतेन भगवद्-भाववद् भक्तरीतिभावनार्थम्।।" मानव की चरम आनन्दानुभूति काम-रस तक ही सीमित है, उसको उसकी इसी रसानुभूति के स्तर पर, भगवद्-रस की सर्वाधिक रसरूपता समझानी पड़ेगी। और, उसे यह समझाने के लिये, लौकिक दृष्टांत की पद्धति का अनुसरण करना पड़ेगा। इसीलिये, श्रुति ने, सर्वात्म-भाव की सर्व-विस्मारक अवस्था का निदर्शन, लौकिक-निर्वचन द्वारा ही किया है—'यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न कंचन वेद, न बाह्यं नाभ्यंतरम्'। यदि उपर्युक्त मुनिवरों का लौकिक में, कामोपाधि में तात्पर्य होता तो वात्स्यायन मुनि को यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी कि ब्रह्मचर्यपूर्वक परम-समाधि की स्थिति में, केवल लोक-यात्रार्थ ही उसने काम-सूत्र की रचना की है। उनका कथन है कि "इस ग्रंथ का संविधान राग नहीं है। इस ग्रंथ के आशय को तत्त्व को जान लेने से मनुष्य निःसंदेह जितेन्द्रिय होता है"। 'तदेतद् ब्रह्मचर्येण परमेण समाधिना—विहितं लोकयात्रार्थं न रागोऽर्थोऽस्य

संविधिः ।। एतत् शास्त्रज्ञतत्त्वज्ञो भवत्येव जितेंद्रियः"—अर्थात् कामसूत्र का ज्ञान प्राप्त करके जितेंद्रिय बनकर रसात्मक प्रभु में, अपने स्नेह का विनियोग किस तरह किया जाये जिससे अधिकाधिक भजनानन्द की अनुभूति प्राप्त की जा सके। इस रहस्य को निगूढतया स्पष्ट करने के लिए ही काम-सूत्रों की रचना की गयी है। छांदोग्य-श्रुति ने भी, सर्वात्मभाव के स्वरूप को समझाने के लिये प्रायः इसी प्रकार की लौकिक पदावलि का ही प्रयोग किया है– 'भगवान् सर्वात्मभाववाले भक्त के साक्षात् प्राण बनते हैं—इस सर्वात्मभाववान् भक्त की एकमात्र प्रभु में ही आसक्ति रहती है—वह भगवद्-मिथुन कहलाता है। भगवान् के साथ क्रीडा करता है तथा भगवान् से ही आनन्द प्राप्त करता है। वह तेजःपुंज से संपन्न स्वराट् बनता है—तथा सर्व लोकों में अव्याहत-गति से विचरण करता है'—स आत्मरतिः, आत्मक्रीडः, आत्म-मिथुनः, आत्मानन्दः, स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। यहाँ 'आत्म' पद भगवान् का वाचक है। काम भाव से आविष्ट लौकिक स्त्रीपुरुष न स्वराट् ही बनते और न सर्वलोकों में उनकी अव्याहत-गति ही होती और न कहीं श्रुति ने इसका उल्लेख ही किया। प्रभु ही, सर्वात्मभाववान् भक्त के उत्तमोत्तम सर्वाधिक विषय रूप है। भगवान् के प्रति, सर्वात्मभाव से संपन्न भक्त के भाव का यही समुज्ज्वल-स्वरूप है, जिसका लौकिक दृष्टांत द्वारा, संज्ञाओं द्वारा निदर्शन किया गया है।

श्री हरिरायजी ने, सर्वात्मभावरूप मुख्य-भक्ति की, काम-भाव से उसकी भिन्नता का प्रतिपादन करते हुए, निगूढ रसमयता का निरूपण किया है। उनके विवेचन का संक्षिप्त तात्पर्य इस तरह है–'सर्व इन्द्रियों तथा देहादि का, भगवान् में अनन्य-भाव, सर्व-भाव कहलाता है। तथा, भगवान् में स्व-पर भेद का अभाव ही अनन्य-भाव है। इस प्रकार का यह अनन्य-भाव ही आत्मभाव है। आत्म-भाव की इस अवस्था में, भक्त को, भगवान् से, स्वदेह इन्द्रियादि से संबंधित विषयों की पूर्ति की कोई आकांक्षा नहीं रहती, और यदि उसको यह आकांक्षा रहती है—तो इन्द्रियों की तथा उनके विषयों की स्फूर्ति रहने के कारण, सर्वात्म-भाव सिद्ध नहीं होता, उसमें द्वैत-भाव आ जाता है। सर्व-भाव के लिये, इन्द्रियों के विषयों का परित्याग आवश्यक है। यदि इन्द्रियों के विषय रहते हैं, तो काम-भाव उत्पन्न होता है। सर्वात्म-भाव में काम-भाव की गंध ही कहाँ? इसीलिये, प्रभु मेरे हैं, इस भाव में काम भाव है, और, मैं प्रभु का हूँ—इस भाव में सर्वात्मभाव। काम-भाव तथा सर्वात्मभाव में यही भेद है—दोनों परस्पर विरुद्ध भाव हैं। सर्वात्म-भावपूर्वक सिद्ध किया गया आनन्द ही स्वरूपानन्द है, सर्वात्म-भाववान् भक्त को ही 'भजनानंद'

प्राप्त होता है। सर्वात्मभाव में, प्रभु के साथ अनन्यता रहती है–'मैं संपूर्णतया प्रभु का हूँ, मेरा अपना कुछ है ही नहीं–और, यदि कुछ है तो वह सब प्रभु का ही है'। इस प्रकार के भाव में, इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषाओं की संभावना ही कैसी ? काम-भाव में भिन्नता है–प्रभु मेरे हैं–अर्थात् प्रभु मुझ से भिन्न हैं, मैं उनसे पृथक् हूँ इसमें, इसी भिन्नता का भाव समाया हुआ है। प्रभु के साथ, भक्त के विशिष्ट संबंध का निर्देशक अर्थात् 'मैं प्रभु का हूँ' प्रभु के साथ इस प्रकार के संबंध का ज्ञापक, तथा सर्व-त्यागात्मक ऐसा जो सर्वात्मभाव है, उसका एक मात्र चिरंतन फल 'भाव' माना गया है। सर्वात्मभाव की उत्तमोत्तम उपलब्धि 'भाव' है। इसमें 'भाव'-रूप फल की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी फल-विशेष के दान की व्यवस्था नही है। इसमें तो एकमात्र प्रदेय फल 'सर्वात्मभाव' है–यहां तो, भक्त के एकांत अभिलषित भाव के अनुरूप ही 'भगवत्-स्वरूप' की उपलब्धि है। भगवान् को, भक्त अपने ही भाव रूप में, प्राप्त करता है, भगवान् उसको, उसके ही भाव-स्वरूप से उपलब्ध होते हैं। भक्त, अपने इसी फलात्मक भाव स्वरूप के साथ निरंतर भावात्मक रमण में निरंतर निमग्न रहता है–'मन ही मन में सुरझे, उरझे, मन ही मन में विरिझे, विरिझावे'। इस भाव-स्वरूप के साथ, भक्त का रमण भी भावात्मक है, मानसिक है, ऐन्द्रिक नहीं। इन्द्रियों से संबंधित रमण, संभोग है'।

'शृंगार-रस, काम-भाव रूप है, तदतिरिक्त, रमण, सर्वात्मभाव रूप, उत्कट-भक्ति रस रूप है। सर्वात्म-भाव में, विषयों का परित्याग है, इसमें, देहेन्द्रिय आदि की स्फूर्ति नहीं रहती–यही फलात्मक स्वतंत्र भक्ति है–

**"अतः सर्वात्मभावो हि त्यागात्मापेक्षया युतः–**
**भावस्वरूपफलकः स्वसंबंधप्रकाशकः ।।**
**देहादिस्फूर्तिरहितो विषयत्यागपूर्वकः ।–**
**भावात्मा कामसंबंधी रमणादिक्रियः सदा ।।**

**स्वतंत्रभक्तिशब्दाख्यः फलात्मा ज्ञायतां जनैः"**–इस प्रकार की इस स्वतंत्र भक्ति को, श्रीमद् आचार्य चरण ने दुर्लभ कहा है। 'भक्तिः स्वतंत्रा शुद्धा च दुर्लभा'। यहां, भक्त, आनंद स्वरूपात्मक परब्रह्म का भोग करता है। विप्रयोग की यही उत्तरदलात्मक निरवधि-रस रूपता है–जिसकी एक झलक से, श्री शुकने 'वेणु-गीत' के प्रस्तुत बीस श्लोकों में, साक्षात्कार कराया है। इस स्वतंत्र-भक्ति रूप सर्वात्मभाव में, भगवान् आनन्द-रूप है, और यहाँ केवल इसी आनन्दरूपता की ही स्फूर्ति रहती है। परब्रह्म की यह आनन्द-रूपता, भक्त के ज्ञान का विषय मात्र ही है–ऐसा नहीं है, अपितु उसके अनुभव का–साक्षात् उपभोग का विषय है। यह आनन्द, मात्रज्ञेय

वस्तु ही नही, अपितु उपभोग्य वस्तु है। इस में भक्त का, 'रसो वै सः'—परब्रह्म के साथ रमण है, आत्मा की आत्मा के साथ क्रीड़ा है। भक्त के उपभोगार्थ, परब्रह्म का समर्पण है। कर्मयोगी से तपस्वी अधिक है, तपस्वी से ज्ञानी अधिक है, ज्ञानी से योगी अधिक है और इन समग्र योगियों से अधिक यह सर्वात्मभाववान् भक्त है। गोपांगनाओं ने इसी रसात्मक भगवान् का स्वरूपतः साक्षात् उपभोग किया है। इन व्रजदेवियों का यह 'भाव', विषयात्मक नहीं है अन्यथा, "संत्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं प्राप्ताः' 'सर्व विषयों का परित्याग करके एकांततया निवृत्त होकर, हम आप के चरण-कमल के निकट उपस्थित हुयी हैं"—उनके इस कथन का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता ? क्योंकि, काम-भाव में प्रवृत्ति है, सर्वात्मभाव में एकांत निवृत्ति 'प्रवृत्तिः कामभावेऽस्ति, निवृत्तिस्तु द्वितीयके'।

**भक्ति, 'रस' है:**—इस प्रकार की यह सर्वात्मभाव अवस्था 'भक्ति-रस' कहलाती है। भक्ति, रस है। जहां, आनन्दमात्र-कर-पादमुखोदरादि भगवान् में, मन सहित सर्वेन्द्रियां, एकरूपता को प्राप्त हो जाती हों, वहां भक्तिरस ही है—'यत्र मनः सर्वेन्द्रियाणां, आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि—भगवद्रूपता तत्र भक्तिः रस एव'—भ. मा। भागवत के दशम स्कंध में, जब, भगवान् कुछ समय के लिये, अन्तर्धान हो गये, तब, उनके अदर्शन से विरह-कातर गोपांगनायें उनको खोजती हुयी भी जब न प्राप्त कर सकीं, तब, पागलों की तरह अपने आप को ही इंगित करती हुयी कहने लगीं—'सखियो ! तुम कृष्ण को वृथा ही ढूंढ रही हो, देखो ! यह रहा तुम्हारा कृष्ण' !!! अपने आपको कृष्ण मानती हुयी कृष्ण के समान ही चेष्टा करने लगीं। कृष्णमय होकर, कृष्ण का अनुकरण करती हुयीं, उनकी ही लीलाओं में तन्मय हो गयीं— कोई किसी को अपनी भुजाओं में लपेट कर नृत्य करने लगी, कोई वेणु बजाने लगी, कोई कृष्ण की आवाज का अनुकरण करती हुयी, सुदूर बिछुड़ी हुयीं अन्य सखियों को प्रेम से बुलाने लगीं, कोई किसी के मस्तक पर अपने पैर रखकर, उसकी वेणी खींचती हुयी कहने लगी—अरे ! दुष्ट कालिय ! ठहर, आज मैं तेरा निग्रह करूंगा। तू जानता नहीं मैं ही 'कृष्ण' हूँ, और, अन्य सखियां, साधु-साधु पुकारती हुयी उसकी प्रशंसा करने लगीं। भक्ति-रस में निमग्न की यह रसात्मक अवस्था है।

"किंतु, यहां यह शंका होती है कि 'भक्ति', स्वतंत्ररूप से कदापि 'रस' नही मानी गयी। हाँ, नव प्रकार के जो रस हैं, उनमें से किसी एक में, इसका अन्तर्भाव अवश्य किया जा सकता है। वेद तथा पुराणों में अथवा साहित्य ग्रंथों तथा रस-शास्त्रों में कहीं भी भक्ति नाम से किसी रस का स्वतंत्रतया उल्लेख नहीं किया गया। भक्ति, नवरसों से कदापि अतिरिक्त नहीं मानी गयी। स्थायी-भाव की, विभाव

अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से, रस में निष्पत्ति होती है। प्रत्येक रस का अपना अपना एक स्थायी भाव होता है। शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। हास का हास्य, करुण का शोक, रौद्र और वीर रस का क्रोध तथा उत्साह, बीभत्स का जुगुप्सा, अद्भुत का विस्मय; भयानक का भय, तथा शांतरस का निर्वेद–यथाक्रम स्थायी भाव हैं। यह रति आदि स्थायी भाव, नायिका आदि आलंबन से उत्पन्न होता है, चंद्रोदय आदि उद्दीपन विभाव से वृद्धिगत होता है, कटाक्ष आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य बनता है, तथा उत्कंठा आदि व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होता हुआ शृंगार आदि रस में व्यक्त होता है। यही रस निष्पत्ति की प्रक्रिया है। इस प्रणाली के अनुसार, प्रथम तो, भक्तिरस का कोई स्थायी भाव ही नहीं है। भक्ति, केवल आराधना रूप होने के कारण, ज्ञान अथवा निदिध्यासन, अर्थात् ध्यान रूप उपासना मात्र है। बहुत हुआ तो यह श्रवणादि रूप नवधा-भक्ति का–नव प्रकारों में से– एक प्रकार मात्र है। और यह तो सर्व-सम्मत है कि ज्ञान का कोई स्थायी भाव नहीं, ज्ञान स्वयं स्थायी नहीं, अस्थिर है, तीन क्षण पर्यंत ही उसकी स्थिति मानी गयी है–'ज्ञानस्य त्रिक्षणावस्थास्थायित्वात्'। अब रही श्रवणादि-नव प्रकार की भक्ति, उसके स्थायी-भाव का कोई प्रमाण नही मिलता। अनेक रसों का एकही स्थायी भाव कभी नहीं सुना गया। नव-प्रकार के भक्ति रसों के लिए एक ही स्थायी-भाव-असंगत है। तदुपरांत, वाणी आदि के धर्म-रूप होने के कारण, कीर्तन, वंदन आदि में 'भाव' का अभाव ही माना जायेगा। भाव से रहित कीर्तन, वंदनादि में रसत्व कदापि संभव नहीं। 'स्नेह' को भी, भक्ति नहीं माना जा सकता, क्योंकि, स्नेह, वस्तुत: एक इच्छा-विशेष ही है, और 'इच्छा' में भक्तित्व है– ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। और, इच्छा, स्नेह से भिन्न है–ऐसा भी कहीं नहीं सुना। वस्तुत: दोनों एक ही हैं, क्योंकि, जिस पदार्थ की इच्छा की जाती है, वही स्निग्ध अथवा स्नेहास्पद मानी गयी है। अत: स्नेह की अतिशयता, स्नेह की बहुलता, 'भक्तिरस' कदापि नहीं कही जा सकती और, न कहीं रसज्ञों ने इसका इस रूप में अनुभव ही किया। अब, यदि यह कहा जाये कि अत्यंत प्रिय में, स्नेह का अनुभव होता है, अत: स्नेह को रस मानने में क्या आपत्ति है–स्नेह को रस ही मानना चाहिये, किंतु, यह भी उचित नहीं। इस प्रकार का यह स्नेह, अवश्य 'रस' कहा जायेगा, किंतु ऐसी स्थिति में, इसकी गणना शृंगार-रस में होगी, भक्ति में नहीं, क्योंकि, इस स्नेह की, स्त्री-पुरुष में समान रूप से स्थिति होने के कारण, तथा नायिका नायक रूप आलंबन से उसकी उत्पत्ति होने के कारण, यह शृंगार रस के अन्तर्गत ही माना गया है, भक्ति के अन्तर्गत नहीं। पितादि के स्नेह में, शृंगार का अभाव है, अत: पिता-आदि के प्रति भक्ति में

रसत्व की–कल्पना भी असंभव है, इसी तरह, भगवद्-भक्ति के विषय में भी यही तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है, अर्थात् भगवद्-भक्ति में भी रसत्व का अभाव है। परस्पर व्यक्तियों में भी जहाँ भक्ति-भाव देखा जाता है, वह भी इसी तरह रसत्व से रहित है। तदुपरांत, भागवत के सप्तम स्कंधीय नारद-वाक्य में स्नेह तथा भक्ति का पृथक् पृथक्–भिन्नतया-निर्देश किया गया है–'गोप्य कामात् भयात् कंसः–द्वेषात् चैद्यादयो नृपाः। संबंधात् वृष्णयः, स्नेहात् यूयं, भक्त्या वयं विभो'।।–इस श्लोक में, जिस तरह 'भयानक रस' का कंसादि-गत 'भय', स्थायी भाव है, उसी तरह 'शृंगार-रस' का, गोपिकादि गत काम-भाव रूप 'रति', स्थायी भाव है–इसके अतिरिक्त, जो देवादि विषया रति है वह 'भाव' में परिगणित की गयी है, 'शृंगार-रस' में नहीं, इसीलिये, भरत आदि प्रणीत-नाट्य शास्त्र में शृंगार आदि आठ रसों के ही निरूपण से, 'शांत' रस की भी नवमे-रस में गणना की गयी है–अर्थात् देवादिविषया रति रूप जो भाव है, वह शांत-रस का स्थायी भाव है। तदनुसार, आठ रसों के उपरांत, अमुक-रस-शास्त्रों ने 'शांत' को रस में परिगणित करके नव-रस माने हैं, भोज के मत में बारह रस हैं–किन्तु, इनमें से किसी ने भी, भक्ति की इन रसों में परिगणना नहीं की है। अतः रसों की संख्या अधिक में अधिक बारह ही है– इन रसों से अतिरिक्त कोई 'भक्ति-रस' नामक अन्य रस का उल्लेख नहीं किया गया।

इस प्रकार की उपर्युक्त शंकाओं के समाधान में यह वक्तव्य है "शास्त्रकारों ने जितने भी रसों की संख्या निर्णीत की है उनमें, उन रसों से अतिरिक्त, सांगोपांग भक्ति रस भी परिगणित किया गया है–स्वीकार किया है–श्रुति भी इसे प्रमाणित करती है। लोक में भी यहीं प्रसिद्ध है और अनुभव से भी यही सिद्ध होता है। श्री भागवत के–

**"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्–**
**गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।**
**मृत्युर्भोजपतेर्विराड़विदुषां, तत्वं परं योगिनां–**
**वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगे गतः साग्रजः"।।**

इस श्लोक के अनुसंधान में, श्रीमद् आचार्य चरण ने भक्ति को दश रसों में परिगणित किया है। उपर्युक्त श्लोक में निर्दिष्ट दशों रसों के नाम आपश्री ने यथाक्रम इस तरह गिनाये हैं –

'रौद्रोऽद्भुतश्च, शृंगारो, हास्यो, वीरो, दया तथा-भयानकश्च बीभत्सः शांतो भक्तिरसस्तथा'।। गोपालतापनीय श्रुतिने भक्ति की जो परिभाषा दी है उससे भक्ति का रसत्व स्वतः सिद्ध है। इस श्रुति के अनुसार, भगवान् की स्नेह-सेवा ही भक्ति है। प्रभु में ही, फलाकांक्षा से रहित मन की सहज स्नेहमयी प्रवणता को

–मनःकल्पन को–भक्ति कहा गया है–'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्र फलभोग-नैराश्येन मनः कल्पनम्'। इस श्रुति के भाव को और भी सरल-भाषा में गो. श्री गोपेश्वर ने इस तरह स्पष्ट किया है कि स्नेह की मनः कल्पन रूप जो पूर्ण अवस्था है उसे ही भक्ति कहते हैं- 'स्नेहस्य मनःकल्पनरूपा या पूर्णावस्था सा भक्तिः'। स्नेह ही अमृतत्व रूप फल है- स्नेहस्यैवामृतत्वं फलम्'–तदनुसार, मन के येनकेन प्रकार से, प्रभु में निवेशन मात्र को भक्ति नहीं कहा जायेगा। व्यसनात्मक स्नेह की ही मनोगति अविच्छिन्न रूप से, प्रभु-प्रवण रहती है। अर्थात् जो स्नेह, व्यसनावस्था को प्राप्त कर चुका हो, उस व्यसनात्मक स्नेह से युक्त मन की गति सहज रूप से ही प्रभु-प्रवण हो जाती है। समुद्र के प्रति, गंगा के जल प्रवाह की, जैसे, सहज अव्याहत गति है, उसी प्रकार मन की अव्याहत गति तभी संभव है, जब, वह निरुपधि स्नेह से उच्छलित हो। निश्चल मनोमात्र में, स्नेह से शून्य मन में, भक्तित्व नहीं माना गया 'व्यसनात्मकस्नेहस्यैव मनोगतिरविच्छिन्नेति'–भ. मा.। अतः, स्नेहातिशय ही भक्ति है। नारद-पंचरात्र के अनुसार माहात्म्य ज्ञान पूर्वक, सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह ही भक्ति हैं। प्रसंगतः यहाँ यह समझलेना चाहिये कि विहित-अविहित भेद से स्नेह दो प्रकार का होता है। 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु' में विहितस्नेह को भक्ति माना है–अर्थात् भगवान् में, ब्रह्मत्व के ज्ञानपूर्वक किये गये स्नेह को विहिता भक्ति तथा पुत्रत्वादि के ज्ञानपूर्वक किये गये स्नेह को अविहिता भक्ति कहते हैं। शांडिल्य-सूत्र ने भी ईश्वर में परानुरक्ति को ही भक्ति माना है। यहां परानुरक्ति का अर्थ निरवधि स्नेह, स्नेहातिशय है। वस्तुतः अनुरक्ति ही स्नेह है–स्निग्ध ही अनुरक्त कहलाता है।

स्नेह को इच्छा विशेष कहना अप्रामाणिक है। सुख की कामनावाली इच्छा कदापि स्नेह नहीं मानी गयी तब तो, स्वर्ग की कामना को भी स्नेह मानना पड़ेगा। तदुपरांत, पुत्रादि विषयक जो स्नेह है, उसमें इच्छा का अभाव होने के कारण, उस स्नेह में, स्नेहत्व के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, क्योंकि, शंका करनेवाले के मत में स्नेह को इच्छा ही माना गया है, अतः, जिस स्नेह में इच्छा का अभाव है, उसमें स्नेह का अभाव ही कहा जायेगा। अब यदि यह कहा जाये कि जिस वस्तु की कामना –इच्छा–की जा रही है, उससे संबंधित इच्छा को स्नेह कहते हैं तो यह भी उचित नहीं, तब तो, स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा में तथा शत्रु के हनन-वध करने की इच्छा में भी, स्नेह का ही प्रयोग किया जाने लगेगा !!! किंतु, इस प्रकार की इच्छा के लिये स्नेह पद का प्रयोग कहीं भी देखने में नहीं आया–ननूक्तमिष्यमाणविषयिणी सा स्नेहः। तन्न। स्वर्गस्य शत्रुहननादेश्चेष्यमाणत्वात्–तद्विषयकेच्छायां स्नेहादिपदप्रयोगस्य क्वाप्यदर्शनात्'। जिस वस्तु की जिसे इच्छा है, उस वस्तु के विषय में वह यही

कहेगा कि 'मैं इच्छा करता हूँ' किन्तु, वह कदापि यह नहीं कहेगा कि मैं स्नेह करता हूँ'। 'मैं इच्छा करता हूँ, तथा "मैं अनुरक्त हूँ" इन दोनों में पृथक् पृथक् भाव का अवबोध होता है–'विरुद्धानुव्यवसायात्'। अत: आराध्य-रूप होने के कारण, स्नेह न ज्ञान है, और न निदिध्यासन रूप उपासना ही। और, इसीलिये, स्नेह यत्न भी नहीं है। स्नेह कदापि प्रयत्नजन्य नहीं–प्रयत्नाजन्यत्वात्। स्नेह, द्वेषादि भी नहीं है–क्योंकि स्नेह, अनुकूल बुद्धिवेद्य अतएव सुखरूप है–'मनोनुकूलपदार्थेषु सुखसंवेदनम्'। द्वेष, प्रतिकूल बुद्धिवेद्य अतएव दु:ख रूप है। फलाकांक्षा से रहित होने के कारण, स्नेह, लौकिक सुख-रूप भी नहीं है।

स्नेह, मन का एक आभ्यंतरिक धर्म विशेष है। मन की एक आंतरिक वृत्ति मात्र है। मन का निगूढ धर्मरूप यह 'स्नेह' क्षणिक नहीं है, कालान्तर में भी, बहुत काल के पश्चात् भी, अपने कार्य-स्वरूप से प्रकट रहता है–नष्ट नहीं होता–कार्यरूप में इसकी निरंतर स्थिति मानी गयी है। दीर्घकाल के पश्चात् भी, पुत्रदर्शन से, माता के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं–अश्रु आदि स्नेह के ही कार्य रूप अनुभाव हैं। स्नेह-प्रेम-की उत्पत्ति में कोई हेतु नहीं माना गया। एक बार उत्पन्न हो जाने पर वह अपने अविकल स्वरूप से स्थित रहता है–न इसका क्षय है और न वृद्धि–'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि–क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यद्वर्धते'। यदि यह कहा जाये कि स्नेह उत्पन्न होने के पीछे वस्तुत: नष्ट ही हो जाता है और उसके कार्यरूप जो अश्रु आदि है–वही संस्कार रूप से वर्तमान रहते हैं–इसलिये स्नेह अस्थिर ही है और अस्थिर होने के कारण 'स्नेह' स्थायीभाव में परिगणित नहीं किया जा सकता, तो यह कथन असंगत है। यदि स्नेह को अस्थिर मान लें, तो फिर, निर्वेद, जो शांत-रस का स्थायी भाव है, उसे भी अस्थायी मानना पडेगा। 'शांतोऽपि नवमो रस:'–शांत की परिगणना 'रस' में की गयी है और निर्वेद उसका स्थायीभाव कहा गया है–'निर्वेद: स्थायिभावोऽस्ति'। यदि निर्वेद अथवा वैराग्य-स्थायी भाव माने जा सकते हैं, तो स्नेह को स्थायी भाव मानने में क्या आपत्ति है? 'स्नेहस्यास्थिरत्वात् कथं स्थायिभावत्वमिति चेत् न निर्वेदादिवत् उपपत्ते:'। जगत के प्रति निस्नेहता यदि स्थायीभाव माना जा सकता है, तो फिर, स्नेह को स्थायीभाव स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

यद्यपि रस आठ प्रकार के ही हैं, फिर भी, सर्वसम्मति से शांत रस भी नवम-रस में परिगणित किया गया है–'निर्वेद: स्थायिभावोऽस्ति शांतोऽपि नवमो रस:' इसी तरह, भक्तैक-अनुभव-गम्य भक्ति रस की भी दशम-रस में गणना करना सर्वथा उपयुक्त है। वास्तव में देखा जाये तो, साहित्यकारों ने प्रमुखतया उन रसों का ही

निरूपण किया है, जो प्रायः सर्व अनुभव गम्य हैं। शांतरस की अनुभूति अमुक व्यक्तियों तक ही सीमित है, वैराग्य-भाव दुर्लभ है। भक्ति-रस का अनुभव कहीं कभी किसी विरल महानुभाव को ही होता है—महाभाग्य से ही प्रीति उत्पन्न होती है 'महता भाग्येनैव प्रीतिर्जायते'—कहीं युगों में ऐसे गुणातीत पुण्यशाली अवतरित होते हैं, इसीलिये, 'भक्ति-रस' दुर्लभ है और इसीलिये, भक्ति-रस के निरूपण के प्रति मानस-शास्त्री उपेक्षित ही रहे"।

जिनको इस रस का अनुभव है, उनके मत में 'स्नेह', भक्ति-रस का स्थायी भाव है। भारतीय रस मीमांसकों ने, पुत्रादि को, स्नेह का आलंबन विभाव माना है। चेष्टा, विद्या, शौर्य आदि इसके उद्दीपन विभाव है; आलिंगन, संस्पर्श, शिर-चुंबन, दर्शन, पुलक, आनंदाश्रु, दुग्ध-स्राव आदि इसके अनुभाव है; अनिष्ट-शंका, हर्ष, गर्व आदि इसके व्यभिचारी-संचारी-भाव हैं। इस तरह पुत्रादि के दर्शनादि से, मातादि में स्नेह की अभिव्यक्ति अथवा निष्पत्ति तथा वृद्धि होती है। कृष्ण के संदेश वाहक, उद्धव का जब मथुरा में आगमन हुआ तब उनसे, अपने पुत्र की नामावली तथा उससे मथुरा में आचरित लीलाओं का वर्णन सुनकर माता यशोदा विह्वल हो उठीं—उसकी आंखों में से आंसू तथा स्तन-युगल से दूध की अजस्र धारायें बहने लगीं। पिता, भ्राता तथा मित्र आदि के विषय में भी स्नेह निष्पत्ति का यही प्रकार देखने में आता है। "उसका हृदय वज्र के समान कठोर है, जो हरिनामावलि के कीर्तन से द्रवीभूत नहीं होता, जिसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित नहीं होती"—इससे अधिक और कौनसी रसमय स्थिति हो सकती है? भक्ति में रसत्व है और वह स्पष्ट है। भागवत में जिस रस का निरूपण किया गया है, वह वस्तुतः भक्ति रस ही तो है—"यह भागवत, निगम-कल्पतरु का अमृत-द्रव से परिपूर्ण साक्षात् रसरूप फल है, इसके श्रवण से, परम-पुरुष श्रीकृष्ण के प्रति शोक और मोह का नाश करनेवाली साक्षात् भक्ति का उदय होता है"। इन अवतरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि भागवत-संहिता का प्रणयन तथा उद्बोधन, भक्ति-रस की अनुभूति के लिये ही है। भागवत का प्रतिपाद्य विषय—'भागवत-रस' है और यह 'भागवत-रस' ही भक्ति-रस है—'पिबत भागवतं रसमालयं'। इसीलिये लौकिक-शृंगार रस से, यह भक्ति-रस सर्वथा भिन्न है, तथा भक्त गण, शृंगार-रस से भिन्नतया ही इस भक्ति-रस का अनुभव करते हैं। और, जिन विद्वानों का यह कथन है कि संयोग तथा विप्रयोग ये दोनों, शृंगार-रस की ही अवस्था विशेष के भेद हैं, वह वस्तुतः ऊपर ऊपर से ही रमणीय लगता है क्योंकि, संयोग-विप्रयोग ये दोनों ही, 'स्नेह' की भी अवस्था विशेष मानी जाती हैं। मातादि को भी पुत्रादि के प्रति अनिषिद्ध-संयोग सुख का तथा विप्रयोग सुलभ विह्वलता का अनुभव होता है।

वास्तव में देखा जाये तो 'रति', स्नेह-विशेष ही है, श्रुति ने 'आत्मरति' का उल्लेख किया है–'तदंध्यवरयत् कूटस्थो रतिः आत्मनि अतो भवेत्', 'पुनश्च भूयाद् भगवत्यनन्ते-रतिः'। भगवान् अनन्त में मेरी पुनः रति हो'। देवादि विषया जो रति है वह भाव कहलाती है–'देवादिविषया रतिर्भावः' इत्यादि वाक्यों से भी यही सिद्ध होता है कि रति, स्नेह ही है। लोक में भी रति का अर्थ, स्नेह ही किया गया है। मैं उससे स्नेह करता हूँ, मैं उसमें अनुरक्त हूँ, आसक्त हूँ इत्यादि में स्नेह, अनुरक्ति, आसक्ति, रति आदि एक दूसरे के पर्याय हैं। कोष में भी प्रेम अर्थात् रति को स्नेह का पर्याय माना है–'प्रेमा ना प्रियता हार्द प्रेम स्नेहः' इति कोषात्। ऐसी स्थिति में केवल शृंगार में ही रसत्व है ऐसा नहीं है, स्नेह में भी रसत्व है। इन दोनों में ही रसत्व है। वास्तव में, स्नेह और शृंगार इन दोनों में ही पृथकतया रसत्व है, क्योंकि, दोनों का स्थायिभाव-रति ही है। तदनुसार, नायिका में नायक की, तथा नायक में नायिका की जो रति है, वह शृंगार-रस है। माता आदि की पुत्र आदि में तथा पुत्र आदि की माता आदि में जो रति है, वह केवल स्नेह रस है। किंतु भगवद् विषयक तथा निरुपाधिक ऐसी यह उभय-विध रति ही, अलौकिक होने के कारण, मुख्य-रस-रूप मानी गयी है। अर्थात् शृंगार-रस रूप रति तथा स्नेह-रस रूप रति–यह उभय-विध रति लौकिक एवं सोपाधिक है। किंतु, प्रभु के प्रति यह दोनों ही प्रकार की रति प्रभु-विषयक होनेके कारण अलौकिक एवं निरुपाधिक है–अतः इस प्रकार की उभय-विध रति ही 'मुख्य रस' रूप है, भक्ति, रस रूप है, क्योंकि श्रुति ने भगवान् को–रसो वै सः–रस रूप माना है। और, सोपाधिक होने के कारण, लौकिक-रस रसाभास रूप हैं। अतः जितने भी रस माने गये है, उनसे अतिरिक्त, अधिक तथा भिन्न, यह भक्ति-रस है। साधन-रूप होने के कारण श्रवणादि नवधा-भक्ति में, भक्ति शब्द का प्रयोग गौण-रूप से ही किया जाता है। नवधा-भक्ति, कदापि 'मुख्य-भक्ति नहीं''–गो. श्री पीतांबर 'भक्तिरसत्ववादः'।

रस का साक्षी मन है–अतः रस के विवेचन में अनुभव की शरण लेनी पड़ती है। भक्ति-रस की अनुभूति दुर्लभ है, क्योंकि, यह साक्षात् वह रस है, जिसकी एक मात्रा-मात्र से यह समग्र ब्रह्मांड अनुप्राणित है। इस रस की निगूढ-अनुभूति गोपांगनाओं को ही हुयी। परब्रह्म के 'चित्' स्वरूप का अनुभव ज्ञान, तप आदि साधनों से अवश्य किया जाता होगा, किंतु उसकी रसरूपता का उपभोग, भगवद्-अनुग्रह ऊपर ही निर्भर है। गोपांगनाओं ने श्रीकृष्ण को काम-रस के आग्रह से अवश्य भजा होगा–'गोप्यः कामात्', किंतु भगवान् ने अनुग्रह पूर्वक इन व्रजदेवियों को, उस 'रस' से साक्षात्कार कराया जो आत्मा का 'प्रियत्व'-रूप धर्म है, जो रसो वै सः कहलाता है; शृंगार रस से

संबंधित लौकिक रसाभास का नहीं। श्रीमद्-आचार्य-चरण द्वारा प्रतिपादित परब्रह्म श्रीकृष्ण पुष्टि-प्रभु हैं, अनुग्रहात्मक हैं। अत:, इस पुष्टि-प्रभु ने इन नि:साधन गोपांगनाओं को, जो एकांत तामस कक्षा के जीव थे, और, इसीलिये, श्रीकृष्ण में ही काम-भाव को लेकर अनन्यतया समासक्त थे, अपने इस 'अलौकिक रस' की सांगोपांग-रस-निष्पत्ति के प्रकार से अनुभूति करायी। भगवान् का यही अचिंत्य-अनुग्रह है। कहं काम-भाव से आतुर व्रज की ग्वालिन और कहां 'रसो वै स:' से साक्षात्कार !!! अत:, सर्व-प्रथम भगवान् ने इनको इस रस के अनुभव की योग्यता से संपन्न किया। रस-निष्पत्ति की मर्यादा के अनुसार, उनमें सर्व प्रथम अपने प्रति प्रेमभाव की स्थापना की। यहं यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि यह प्रेम, लोकानुभूति के स्तर का नहीं है। अत: इस प्रकार के प्रेम की, गोपीजन में स्थापना करने के पूर्व, भगवान् ने इनको, इनकी पंचपर्वा अविद्या से मुक्त किया। देहाध्यास इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अंत:करणाध्यास तथा स्वरूप-विस्मृति—यही आधिभौतिक अविद्या के पाँच-पर्व हैं। इस प्रकार की आधिभौतिक अविद्या से मुक्त होने पर ही, प्रेम का, उसके अलौकिक स्वरूप में, उदय होता है। यह आधिभौतिक अविद्या, साक्षात् पूतना ही थी। पूतना के संहार द्वारा, भगवान् ने इन गोपीजनों की इसी अविद्या को निरस्त किया। प्रभु के प्रति, प्रेम अथवा रति-भाव तभी संभव है, उसका उदय तभी होता है, जब जीव, आधिभौतिक अविद्या से मुक्ति प्राप्त कर ले। प्रेमोत्पत्ति के अनन्तर, भगवान् ने इन गोपांगनाओं में, अपने प्रति 'आसक्ति'-भाव उत्पन्न किया। यह आसक्ति, निरी-लौकिक—आसक्ति की स्तरवाली नहीं है—आध्यात्मिक—अविद्या से मुक्त होने पर, जिस आसक्ति का उदय होता है, वही यह आसक्ति है। गोपांगनाओं को, इस आसक्ति से संपन्न करने के लिये, भगवान् ने, इनको प्रथम इनकी आध्यात्मिक अविद्या के उपर्युक्त पर्व-पंचक से मुक्त किया। धेनुकासुर, कालीय-नाग, प्रथम-दावाग्नि, प्रलंबासुर तथा द्वितीय दावाग्नि ही इस आध्यात्मिक अविद्या के यथाक्रम पांच पर्व हैं। भगवान् ने अविद्या के पर्व-पंचक रूप इन पांचों ही धेनुकादि अनिष्टों को निरस्त किये- तथा गोपांगनाओं में निरुपधि-आसक्ति का आविर्भाव हुआ। प्रेम तथा आसक्ति के अनन्तर व्यसन भाव का, गोपांगनाओं में उदय हुआ—व्यसन भाव से संपन्न गोपांगनायें कृतार्थ हुयीं—'यदा स्यात् व्यसनं कृष्णे कृतार्थ: स्यात्तदैव हि। तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय आत्मा से संबंधित आनन्द का निरूपण किया गया है। श्रीमद् आचार्य चरण ने इनको अगणितानन्द परब्रह्म के ही विभूति स्वरूप माने हैं। प्रेमावस्था का आनन्द, अन्नमय आत्मानंद के स्तर का है। आसक्ति तथा व्यसनावस्था का

आनन्द यथाक्रम प्राणमय तथा मनोमय आत्मानन्द के स्तर का है। अन्नमय आत्मानंद की अपेक्षा प्राणमय आत्मा का आनन्द अधिक है। तथा प्राणमय आत्मानंद की अपेक्षा मनोमय आत्मा का आनन्द अधिक है। इस तरह अपने अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय-स्तरीय आनन्द का अनुभव यथाक्रम प्रेम, आसक्ति तथा व्यसन सुलभ अवस्थाओं में कराते हुये भगवान् ने इन व्रजदेवियों को विज्ञान-मय आत्मा के आनन्द से, ब्रह्मानंद से-संपन्न किया। यह विज्ञानमय आत्मा ही अक्षर ब्रह्म है। अक्षर-ब्रह्म गणितानंद है। इसेही ब्रह्मानंद कहते हैं। ब्रह्मानंद से संपन्न भक्त ही, भजनानंद का-श्री पुरुषोत्तम के स्वरूपानंद का-उपभोग करने के योग्य माना गया है। यह भजनानंद हीं तैत्तिरीय उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित 'आनन्दमय' आत्मा है। रसो वै स:' है, श्रीमद्-आचार्य-चरण-निरूपित 'महानंद' है। 'ते तु ब्रह्म-ह्रदं नीता: मग्ना: कृष्णेन चोद्धृता:'-'ब्रह्मानंदात् महानंदो भजने वर्तते स्फुटम्'। तैत्तिरीय उपनिषद् में उपर्युक्त भजनानंद पर्यंत अवस्थाओं का यथाक्रम निरूपण इस तरह किया गया है-'अस्मात् लोकात् प्रेत्य-एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति-एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति-एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति-एतं विज्ञान-मयमात्मानमुपसंक्रामति-एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति'। इस तरह लौकिक आनंद की-रस की-अल्पताओं से मुक्त होती हुयीं, रस की बह्मानंदरूपता में अवगाहन करती हुयीं-गोपांगनायें भजनानंद में-महानंद में-विनिमग्न हो गयीं। इसी भूमारूप सर्वात्मभाव का, जो भजनानंद कहा गया है, निरूपण, श्री भागवत के वेणु-गीत में किया गया है-यही 'रसो वै स:' है-यही भक्ति-रस का स्वरूप है। सर्वात्मभाववान् भक्त की यही आत्म-रति सुलभ वह रसात्मक अवस्था है-जिसे स्वरूपानंद-भजनानंद कहते हैं-जो भूमारूप है-सर्वाधिक है। यदि श्रीकृष्ण नहीं होते तो इस प्रकार के अलौकिक रस का स्वरूप अज्ञात ही रहता। गोपांगनाओं के साथ श्रीकृष्ण के संबंध को, इस परिप्रेक्ष्य में, केवल काम-क्रीडा कहना नास्तिक के लिये भी परम असहिष्णुता कहलायेगी भले हीं श्रीकृष्ण परब्रह्म हो अथवा मनुष्य। श्रीकृष्ण की इस कथा को सुनानेवाला श्री शुक है, वह कदापि काम-रस का, श्री परीक्षित जैसे सर्वत: निवृत्त श्रोता के समक्ष-निरूपण नहीं करेगा-मनुष्य तो दूर रहा-भले ही फिर वह परमात्मा से ही क्यों न संबंधित हो। फ्रायड़ वर्गमेन का विश्लेषण काम-रस (Sex) तक ही सीमित है। 'रस' के यथार्थ स्वरूप के परिचयार्थ-श्री भागवत का अवश्य अध्ययन करना चाहिये।

श्री वेणु-गीत में गोपांगनाओं की इसी रसानुभूति का निरूपण, श्री वेदव्यास ने सर्वगम्य बनाने के लिये लौकिक निर्वचन तथा शैली के आधार पर किया है।

गोपांगनाओं की सर्वात्मभाव सिद्धि ही तो श्री भागवत का विषय है 'सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीभिरधोक्षजे–विरहेण महाभागा ! महान्मेऽनुग्रहः कृतः ? श्री उद्धव गोपांगनाओं के प्रति कृतज्ञ हैं, इनके द्वारा ही तो 'रस' के लोकातीतस्वरूप से उसने साक्षात्कार किया।

इसी रस की अलौकिक झांकी श्री वेणु-गीत में करायी गयी है। 'श्री वेणुगीत' लोक और वेद से अतीत-गुणातीत भगवदीयों का महाकाव्य है–जो अक्षय है–अमर है, नित्य प्रतिक्षण नूतन है, भगवद्-अधर-सुधा रूप है। श्रीमद् आचार्य चरण ने अपनी श्रीसुबोधिनी द्वारा इस 'रस' के अन्तरतम-स्वरूप को प्रकट किया है। यदि सुबोधिनी नहीं होती तो यह 'रस' मनुष्य को अविदित ही रहता। श्री सुबोधिनी इस रस की मधुर मधुर वर्षा की आह्लादक फुहार रूप है, जिसका प्रत्येक जल-बिंदु, गोपांगनाओं की रसानुभूति का सजीव-विग्रह है।

**"वेणु-गीत पुनि युगल-गीत की रसबरषा बरसाई"। गो. श्री हरिरायजी**

निवेदक

**आर. कलाधर भट्ट**

# प्रारंभ

दशम-स्कंध, श्रीमद्-भागवत का हृदय है—रसरूप हृदय। इसमें कुल ९० अध्याय है—किंतु, श्रीमद् आचार्य चरण ने, इनमें से १२-१३-१४ इस प्रक्षिप्त-अध्याय त्रयी को बाध करके, कुल ८७ अध्याय ही माने हैं। इन ८७ अध्यायों में, पूर्वार्ध दशम-स्कंध के ४६ तथा उत्तरार्ध दशम-स्कंध के ४१ अध्याय हैं। दशम-स्कंध के इन अध्यायों का, श्रीमद् आचार्य चरण ने, विषय के अनुसार, इतना सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध वर्गीकरण किया हैं कि समग्र स्कंध का निगूढ तात्पर्य सहज ही हृदयंगम हो जाता है। प्रथम चार अध्यायों का जन्म-प्रकरण है, फिर अग्रिम २८ अध्यायों का तामस-प्रकरण है। इससे अग्रिम २८ अध्यायों तथा २१ अध्यायों के यथाक्रम राजस तथा सात्विक-प्रकरण हैं; अंतिम छः अध्यायों का गुणप्रकरण है। इस तरह संपूर्ण दशम-स्कंध, जन्म-प्रकरण, तामस-प्रकरण, राजस-प्रकरण, सात्विक-प्रकरण तथा गुणप्रकरण—इन पांच प्रकरणों में विभक्त है। इन पांचों प्रकरणों में से, द्वितीय तामस प्रकरण तथा तृतीय राजस प्रकरण, यथाक्रम प्रमाण, प्रमेय, साधन तथा फल संज्ञा वाले ४-४ अवांतर प्रकरणों में वर्गीकृत किये गये हैं। चतुर्थ सात्विक प्रकरण के यथाक्रम प्रमेय, साधन तथा फल-ये तीन ही-अवांतर-उप-प्रकरण हैं—इसमें प्रमाण नामक उपप्रकरण नहीं है। क्योंकि, 'सत्वात् संजायते ज्ञानम्' इस उक्ति के अनुसार सत्व, ज्ञान का मूल अतएव स्वयं प्रमाण ही है। इस तरह श्रीमद्-भागवत का यह हृदयभूत दशम-स्कंध, पांच प्रकार से—

१. चार अध्यायों सहित, जन्म-प्रकरण के रूप से

२. चार अवांतर प्रकरणोंवाले तामस-प्रकरण के रूप से

३. चार अवांतर प्रकरणों वाले राजस-प्रकरण के रूप से

४. तीन अवांतर प्रकरणों सहित सात्विक-प्रकरण के रूप से तथा

५. छः अध्यायों सहित-गुण प्रकरण के रूप से श्रीमद्-आचार्य-चरण के हृदय-कमल पर विराजमान है—

**'चतुर्भिश्च, चतुर्भिश्च, चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा।**
**षड्भिर्विराजते योऽसौ, पंचधा हृदये मम॥**

अध्यायों का, यह यथाक्रम संनिवेश-विन्यास दशम स्कंधगत निरोध का, सर्वात्म-भावरूप भक्तिरस का, सहज अवबोध करा देता है। श्रीमद्-आचार्य-चरण ने, श्रीभागवत के निगूढ-अर्थ को सात प्रकार से सिद्ध किया है—शास्त्र से, स्कंध से, प्रकरण से अध्याय से, श्लोक से, वाक्य से तथा अक्षर से—प्रथम, चार प्रकार से अर्थ का निरूपण, तत्दार्थ-दीप निबंध के भागवतार्थ-प्रकरणमें तथा शेष तीन प्रकार से अर्थ का प्रतिपादन, श्रीसुबोधिनी में किया गया है। लोकोत्तर प्रतिमा से यदि साक्षात्कार करना हो तो, श्रीसुबोधिनी का अध्ययन अवश्य करें। इस संदर्भ में, श्रीमद्-आचार्य-चरण का यह कथन कि, "श्रीभागवत-गूढार्थ के प्रकटीकरण की सामर्थ्य मेरे अतिरिक्त-अन्य किसी में भी नही है—" कितना निर्भीक-सहज तथा सार्थक है!!!

दशम-स्कंध का प्रतिपाद्य विषय 'निरोध-लीला" है, और, इसीलिये, इसको निरोध-स्कंध भी कहते हैं। निरोध-सिद्धि, साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम ही करा सकते हैं। जीवों को अपने प्रति निरोध सिद्ध कराने के लिये, पूर्ण पुरुषोत्तम का स्वरूपत: प्रादुर्भाव आवश्यक है। फलरूप में पूर्ण पुरुषोत्तम की प्राप्ति ही तो निरोध-सिद्धि है, और, इसीमें, अन्य मर्यादा-ज्ञान आदि मार्ग की अपेक्षा, पुष्टिमार्ग की अधिकाधिक विशिष्टता है। मर्यादा में, जीव, साधनों द्वारा प्रभु में अपनी चित्तवृत्ति का निरोध करता है, पुष्टि-मार्ग में, सर्व-साधनों से रहित जीव का निरोध, साक्षात्, पूर्ण पुरुषोत्तम ही कराते हैं, अर्थात्, भगवत्-प्राप्ति के सभी साधनों से शून्य जीव को फल-रूप से स्वकीय-प्राप्ति कराने में, साक्षात् प्रभु ही साधन बनते हैं। प्रभु की उपलब्धि में, साक्षात् प्रभु ही एकमात्र साधन है– "सोइ जानत जेहिं, देउ बताई'। नि:साधनता ही जहां फल-प्राप्ति में साधन बन जाती हो, वह—पुष्टि-मार्ग कहलाता है, अर्थात्, पुष्टि-मार्ग में फल ही, अपनी प्राप्ति में साधन बनता है।

"सर्व-साधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम्। फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्ग: स कथ्यते"। पुष्टिमार्ग में पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूपत: फल-रूप हैं। यही फलरूप पूर्ण पुरुषोत्तम, नि:साधन जीवों को, अपनी उपलब्धि कराने में, स्वयं हेतु, स्वरूपत:साधन, बने हैं। अपनी प्राप्ति कराने के लिये ही अर्थात् नि:साधन जीवों में निरोध-सिद्ध कराने के लिये, पूर्ण पुरुषोत्तम प्रादुर्भूत हुये। तदनुसार, प्रथम-जन्म-प्रकरण के प्रारंभिक चार अध्यायों में इसी चतुर्मूर्ति परिपूर्ण पुष्टि पुरुषोत्तम के प्राकट्य का निरूपण किया गया है।

जिस प्रकारके मानसिक क्रम से, तासन-राजस तथा सात्विक प्रकृति वाले जीव की संपूर्ण-वृत्तियाँ प्रभु में ही निरुद्ध की जा सकती हैं, उसी क्रम से भगवान् ने अपनी

भिन्न-भिन्न लीलायें प्रकट की हैं। तदनुसार, अग्रिम, तामस–राजस तथा सात्विक प्रकरणों में भगवान् की उन लीलाओं का वर्णन है जिनके द्वारा इन त्रिविध-जीवों को निरोध सिद्ध कराया गया। भगवान् की सप्तविध लीलायें प्रसिद्ध हैं– षड्विध लीलायें अपने ऐश्वर्यादि षड्-विध धर्मों से, तथा, सप्तम लीला, अपने धर्मी-स्वरूप से। भगवान् की इन सप्त-विध लीलाओं के आग्रह से ही, तामस आदि प्रकरणों के अवांतर प्रकरणों का, सात-सात अध्यायों में वर्गीकरण हुआ है।

जन्म-प्रकरण के अनन्तर ही, तामस प्रकरण का जो निरूपण किया गया, उसका अभिप्राय यह है कि राजस तथा सात्विक जीवों की अपेक्षा, तामस-प्रकृति के जीवों को निरोध-सिद्धि, सहज ही प्राप्त करायी जा सकती है। कर्म में ही रुचि रखने वाले राजस जीव को तथा ज्ञान के अटपटे पंथ में भटकने वाले सात्विक जीव को, फल-रूप पुष्टि-पुरुषोत्तम की बहुधा विस्मृति ही रहती है, तो फिर, उनमें निरोध-सिद्धि की संभावना ही कैसी? तामस जीव स्वभावत: अकर्मण्य अतएव नि:साधन होते हैं। मूढ प्रकृति के कारण, ज्ञान उनमें प्रवेश ही नहीं कर पाता। ऐसे जीवों को निरोध सहज ही पूर्णतया सिद्ध होता है, क्योंकि, स्वभावत:मूढ होने के कारण, तामस-जीव में, एक बार किसी विषय के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाने पर, सहसा नहीं हटती, अविचल ही रहती है। जहाँ पुष्टि-पुरुषोत्तमका प्रादुर्भाव हुआ, उस व्रज के निवासी प्राय: ऐसी ही प्रकृति के जीव थे–"दिनभर खाना, रातभर सोना, अहून्यापृतं-निशिशयानं-यही उनके जीवन का इति-वृत्त था। इतना ही नहीं, भगवत्-प्राप्ति के सभी-साधनों से रहित अतएव नि:साधन थे। ऐसे ही नि:साधन एवं तामस-व्रजजनों को शरण में लेने के लिये, उनको फलरूप में अपनी प्राप्ति कराने के लिये, पुष्टि-पुरुषोत्तम स्वरूपत: प्रकट हुये। प्रभु ने, अपनी अनेक-विध मुग्ध एवं अलौकिक लीलाओं द्वारा, व्रजजनों में सहज ही अपने प्रति आसक्ति उत्पन्न कर दी–और यह आसक्ति ही उनका एकमात्र स्वभाव बन गयी, यहां तक कि जब स्वयं प्रभु ने इन-गोपाङ्गनाओं को धर्मोपदेश दिया कि आप लोग मेरे में जो आसक्ति रखती हो, वह लोक और मर्यादा के विरुद्ध है, तो उनको बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि, उन्होंने तो कृष्ण में ही अपनी एकांत रतिको अपना एकांतधर्म माना हुआ है, भलें ही कृष्ण, फिर, परपुरुष हो अथवा पुरुषोत्तम। लोकधर्म अथवा वेद-धर्म, लोक और वेद के लिये है, हमारे लिये नहीं। और, यही मन्तव्य उनका उद्धव के ज्ञानोपदेश के प्रति रहा। तदनुसार सर्वात्म-भावरूप यह निरोध, तामस व्रजजनों को ही सिद्ध कराया गया और उनको ही सर्वश: सिद्ध हुआ। इसीका निरूपण तामस-प्रकरण में किया गया है।

तामस-प्रकरण के चार अवांतर प्रकरण हैं–५वें अध्याय से ११वें अध्याय पर्यंत, प्रमाण प्रकरण में, प्रभु ने अपनी बाल-लीलाओं द्वारा, अपने प्रति, गोप तथा गोपीजन

में, प्रथम, प्रेम-भाव उत्पन्न किया, फिर, इसी प्रकरण के १२वें अध्याय से १८ वें अध्याय पर्यंत-प्रमेय प्रकरण में गोचारणादि लीलाओं द्वारा, आसक्ति-भाव उद्‌बुद्ध किया तथा १९वें अध्याय से २५वें अध्याय पर्यंत-साधन प्रकरण में, गोवर्धन-उद्धरणादि लीलाओं द्वारा, इनमें व्यसन-भाव सिद्ध किया। इस तरह, प्रमाण-रूप प्रेम से, प्रमेय--रूप आसक्ति से तथा साधन-रूप व्यसन से, व्रजजनों को संपन्न करके, २६वें अध्याय से ३२वें अध्याय पर्यंत फल-प्रकरण में, रासोत्सवादि लीला द्वारा, इनको अपने स्वरूपानंदरूप फल की प्राप्ति करायी। इस योजना के अनुसार, १२वें अध्याय से १८वें अध्याय पर्यंत, आसक्ति-निरोध रूप प्रमेय-प्रकरण है। प्रस्तुत ''श्रीवेणु-गीतम्', तामस प्रकरणान्तर्गत, अवांतर-प्रमेय प्रकरण के १८वें अध्याय का प्रसंग है-जिसमें गोपीजन की आसक्ति सिद्ध की गयी है।

पुष्टि-भक्ति की परमोत्कृष्ट-उपलब्धि-भजनानन्द है। इसकी निगूढ एवं उत्कट अनुभूति, विविध-प्रकार से, निरुद्ध जीव ही कर सकते हैं। प्रेम-आसक्ति तथा व्यसन की यथोत्तर सिद्धि के उपरांत, प्रभु, स्वभक्त को सर्वात्मभाव-सुलभ भजनानन्द का दान करते हैं। जिस अनुग्रही जीव को, प्रभु, भजनानंद से संपन्न करना चाहते हैं, उसमें, प्रथम, प्रेम-भाव सिद्ध करते हैं, फिर, आसक्ति, और अन्त में, व्यसन अर्थात् सर्वात्म-भाव। यहाँ ये प्रेम, आसक्ति तथा व्यसन, जीव-साध्य शारीरिक-स्तर की वृत्तियाँ नहीं हैं। इसीलिये, प्रेम-निरोध सिद्ध कराने के पूर्व, प्रभुने, व्रजजनों को, प्रथम, आधिभौतिक अर्थात् स्थूल देहाध्यास रूप अविद्या से मुक्त किये। उनकी यह आधि-भौतिक-अविद्या, वस्तुतः पूतना ही थी। इसी-तरह, आसक्ति-निरोध की सिद्धि का दान करने के पूर्व, प्रभुने इनकी आध्यात्मिकी अर्थात् सूक्ष्म-देहाध्यास रूप अविद्या के पांचों पर्वों का नाश किया। धेनुकासुर-प्रलंब आदि ही इस अविद्या के पांच-पर्व हैं। आसक्ति-निरोध-वाले इस प्रमेय प्रकरण के प्रथम पांच अध्यायों में-१२ अध्याय से १६वें अध्याय पर्यंत, अविद्या के इन पंच-पर्व रूप अनिष्टों की संहार लीला का निरूपण किया गया है। इसी प्रकरण के सोलहवें अध्याय के अनन्तर, सतहरवें अध्याय में वर्षा तथा शरद्-ऋतु का वर्णन है। अठारहवें अध्याय के प्रस्तुत 'श्रीवेणु-गीतम्' में गोपांगनाओं द्वारा, आसक्ति-निरोध की विह्वल अवस्था में किये गये भगवद्-गुणों के संकीर्तन का वर्णन है।

यहाँ, यह समझ लेना चाहिये कि प्रमेय-प्रकरण का यह आसक्ति-निरोध 'मध्यम'-निरोध कहलाता है क्योंकि, इसके पूर्व-गामी प्रमाण-प्रकरण का प्रेम-निरोध, इससे न्यून-सामान्य है, तथा इससे, उत्तर-गामी-अर्थात् अग्रिम साधन-प्रकरण का व्यसन-निरोध, इससे-(आसक्ति-निरोध से)-'उत्तम' है। गोप तथा गोपांगनाओं के

अतिरिक्त, अन्य व्रज-जनों को 'निरोध'– स्वल्प-मात्रा में ही सिद्ध कराया गया है। सर्वाधिक-निरोध का दान तो गोपांगनाओं को ही उपलब्ध हुआ।

—:०:—

## तामस-प्रकरण के अवांतर-प्रमेय प्रकरण का
## –अष्टादश-अध्याय–

कारिका:–अष्टादशे गोपिकानामासक्तिर्वर्ण्यते स्फुटा।
वर्ण्यवर्णकभेदेन गोपानामपि सोच्यते ।१।
प्रवेशबोधने तासामुद्बोधाय निरूपिते।
तद् गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति हि ।२।
आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृतम्।
उद्बोधकं च हरिणा कृतम् नान्येन केनचित् ।३।

**व्याख्या :**–प्रस्तुत प्रमेय प्रकरण के सप्तदश अध्याय में वर्षा तथा शरद का वर्णन है। वर्षा के कारण, व्रजजन, ताप क्लेश से मुक्त हो गये थे, किंतु, व्रजदेवियों का ताप-विरह-ताप-बढता ही रहा – और साथ ही आसक्ति भी–"जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृत-चेतसः"। वैसे, वर्षा के अनन्तर शरद् ऋतु में तापात्मक-पित्त का प्रकोप होता ही है। पित्तरागात्मक माना गया है। अतः वर्षा के साथ ही शरद्-वर्णन में विशेष तात्पर्य है। अपनी चरम-सीमा को प्राप्त आसक्ति, हृदय को संगीतमय बना देती है-इसी संगीत की बाह्य-अभिव्यक्ति कीर्तन है–भगवद्-गुणासक्ति का रागानुसार किया गया गान, कीर्तन कहलाता है–"गानं रागानुसारेण भगवद्-गुणोपनिबंधयुक्तानां कीर्तनम्' श्रीसुबो.।

प्रस्तुत अष्टादश-अध्याय में, आसक्ति की अभिव्यक्ति रूप, गोपीजन द्वारा किये गये गुणगान का वर्णन है। जिसके प्रति आसक्ति होती है, उसकी अनुपस्थिति में उसके गुणानुवर्णन द्वारा, आसक्ति-भारानुभरित हृदय को शांति मिलती है– 'पूरोत्पीडे तड़ागस्य परीवाह : प्रतिक्रिया'–भवभूति। सरोवर में जब पूर का पानी नहीं समाता, तब, वह, उभराकर बाहर बहने लगता है। आसक्ति का संगोपन असाध्य है, गुण-वर्णन के रूप में वह बाहर प्रकट हो ही जाती है। आसक्ति कारण है, गुणगान कार्य। गोपाङ्गनाओं में यह आसक्ति पूर्व से ही विद्यमान थी, किंतु, वह अभीतक अस्फुट ही रही थी। गुण वर्णन रूप में प्रकट नहीं हुयी थी। प्रस्तुत अष्टादश अध्याय में वह उमटकर बाहर आ गयी। गोपाङ्गनाओं की, प्रभु-प्रति चिर-संचित आसक्ति, परितः सुधावर्षण करती हुयी, गुण-कीर्तन के रूप से बाहर उभराने लगी। इससे पूर्व भी

गोपाङ्गनाओं में आसक्ति विद्यमान थी–किंतु अस्पष्ट रूप में, इसीलिये इस प्रमेय प्रकरण में, गोपीजन की आसक्ति का निरूपण सामान्य रूप से ही हुआ है, किंतु, इसी प्रकरण के प्रस्तुत अष्टादश अध्याय में, इसी आसक्ति का स्फुट रूप से सविशेष प्रतिपादन किया गया है। तदनुसार संपूर्ण प्रकरण का तथा उसके प्रस्तुत अध्याय का परस्पर में यही सामान्य-विशेष-भावरूप संबंध है–संगति है 'इति सामान्य-विशेषभावः प्रकरणाध्याययोः संगतिः' श्रीमत्प्रभु.।

**गोपानामपि सोच्यते** :–गोपों में भी प्रभु के प्रति आसक्ति है–किंतु, गोपीजन की तरह, गुण वर्णन द्वारा, इतनी सुस्पष्ट तथा बाहर प्रकट नहीं है। श्रीमद् भागवत में गोप-कृतगुण-संकीर्तन का प्रायः अभाव ही है। इसका एक कारण है-प्रभु का वर्णनीय चरित्र दो प्रकार है। दिवा-चरित्र तथा रात्रि-चरित्र। इस द्विविध चरित्र के वर्णक-वर्णन करने वाले भी दो प्रकार के हैं–एक गोपीजन दूसरे गोप-गोपीजन दिवा-चरित्र के तथा गोप-वर्ग रात्रि-चरित्र के गायक हैं। इधर वृंदावन में, भगवान् अपने गोप-वयस्यों के साथ दिनभर, अनेक प्रकार की लीलायें करते रहते हैं, और उधर गोकुल में– एकत्रित भगवद्-विरह-विकल गोपागनायें, अन्तर्मुख-योगी के समान, इन्हीं लीलाओं का, अन्तःकरण में साक्षात् अनुभव-पूर्वक वर्णन करती रहती हैं, मानों प्रत्येक लीला उनके समक्ष ही घटित न हो रही हो!! गोचारणोंपरांत, गोधूलि-वेला में, गोरज-च्छुरित भगवान् जब वृंदावन से ब्रजकी ओर आते हैं, 'इहि विरियां वनते ब्रज-आवहिं.' तब यहाँ ब्रज में, उनकी रात्रिलीला का प्रारंभ होता है। भगवत्-आचरित इस रात्रि-चरित्र के वर्णक गोपसखा हैं। प्रभु का यह रात्रि-चरित्र नितांत गोप्य है, अतः श्रीशुक्र ने, गोप-कीर्तित इस चरित्र का कहीं भी उल्लेख नहीं किया और, यही कारण है कि गोप-कृत भगवद्-गुण संकीर्तन का, भागवत में कहीं भी वर्णन नहीं मिलता, और, यत्किंचित् जो उपलब्ध भी है, वह अस्पष्ट शैली में। इसी प्रमेय-प्रकरण के द्वादश अध्यायान्तर्गत, एक श्लोक में, गोपों की भगवद् आसक्ति का, सांकेतिक पदों में, वर्णन किया गया है यथा– 'अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः– गायन्तिस्म महाराज! स्नेहक्लिन्नधियः शनैः''–'स्नेहार्द्र मतिवाले अन्य गोप-वयस्य, भगवान् की प्रिय एवं मनोज्ञ लीलाओं का धीरे धीरे गान करने लगे'। इस श्लोक में, गोप सखा, भगवान् की जिन लीलाओं का गान करने लगे उनका निर्देश केवल (अनु-रूपाणि एवं मनोज्ञानि)'-'प्रिय तथा मनोज्ञ' पदों द्वारा ही किया गया है, किंतु वे लीलायें कौन सी थीं? इस विषय में, श्री शुक ने स्पष्टतया कुछ नहीं कहा और न स्पष्टतया कुछ कहना ही चाहते थे, और इसीलिये तो उपर्युक्त श्लोक में 'शनैः' शब्द का प्रयोग किया गया है। कोई स्पष्ट न सुन ले, अतः गोपसखा, लीला का गान ऊंचे स्वरमें

नहीं किंतु शनैः—मंदस्वर में ही कर रहे थ। अथवा, रात्रि का समय है, भगवान् शयन कर रहे हैं, उनकी शयन-लीला में विक्षेप न हो, अतः 'शनैः' स्वर में गा रहे हैं। किंतु, गोप कृत गुण-वर्णन का स्पष्ट उल्लेख नहीं किये जानें के कारण यह नहीं मान लेना चाहिये कि उनमें प्रभु-प्रति आसक्ति का अभाव है। उनमें भी गोपीजन के समान ही, प्रेम तथा आसक्ति है। 'गोपीजन ने प्रभु की दिवस लीला का गान किया' इस कथन से यही तो सिद्ध होता है कि रात्रि लीलाका गान गोप-वयस्यों नें ही किया। 'अन्ये तदनुरूपाणि' श्लोक में गोपकृत भगवद्-गुण-गान का ही निर्देश किया गया है। कोई किसी का गुणगान तभी करता है जब उसकी, उसमें आसक्ति हो। गुणवर्णन कार्य है, आसक्ति कारण। गोप तथा गोपीजन-इन दोनों ने ही भगवद्-गुणों का वर्णन किया है, अतः दोनों में ही प्रभु के प्रति समान रूप से आसक्ति है। अपनी अपनी आसक्ति के अनुसार, गोपों ने भी भगवद्-गुण वर्णन किया है, और, गोपाङ्गनाओं ने भी। किंतु, गोपों ने रात्रिचरित्र का वर्णन किया है। भगवान् का रात्रि-चरित्र गोप्य है। अतः यह गोप्य ही रहा,—इससे यह कदापि नहीं मान लेना चाहिये कि प्रभु में गोपों की आसक्ति नहीं है। गोपों में भी आसक्ति है। गोपों का भी प्रभु ने निरोध किया है; क्योंकि, गोपीजन में निरोध सिद्ध करने के लिये भी, गोप वयस्यों में निरोध सिद्ध कराना आवश्यक है।

गोप वयस्यों में प्रभु के प्रति आसक्ति है, यह उनके आचरण से भी जानी जा सकती हैं। जिस तरह, प्रभु के दिवाचरित्र का गुण-वर्णन, स्वसमान आसक्ति, व्यसन तथा शील से समन्वित गोपाङ्गनायें परस्पर में ही सीमित रखती हैं, उसी तरह गोप वयस्य भी, भगवत्-कृत रात्रि-चरित्र का वर्णन, इसी रस से संसिक्त गोपाङ्गनाओं के समक्ष ही करते हैं। यहाँ, यह नहीं समझ लेना चाहिये कि गोपों की गुण वर्णन रूप यह वृत्ति, केवल कुतूहलात्मक ही है। वस्तुतः उनका यह आचरण उनकी भगवदासक्ति का ही ज्ञापक है। यद्यपि, गोप-सखा सभी बालक हैं, बाल-सुलभ-चंचल प्रकृति के होते हुये भी, उन्हें यह निश्चय हो गया है कि उनमें आविर्भूत यह भगवदासक्ति एवं तदनुरूप भगवान् द्वारा आचरित चरित्र की यह अनुभूति, यत्र तत्र सर्वत्र व्यक्त कर देने के लिये नहीं है। अपनी आसक्ति को कोई सर्ववेद्य नहीं बनाता। आसक्ति, स्वसमान आसक्ति वालों की ही अनुभूति एवं आनन्द का विषय बन सकती है। अतः, यदि ग्वाल-बाल अपनी इस भगवदासक्ति का स्वसमान आसक्त गोप तथा गोपीजन के अतिरिक्त, अन्य सर्व-साधारण के समक्ष, वर्णन करते फिरते तो वह उनकी बालसुलभ कौतुक वृत्ति ही मानी जाती, आसक्ति नहीं। गोपीजन जैसों के समक्ष चरित्र-गुण संकीर्तन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोपों में भी भगवदासक्ति है 'गोपानामपि सोच्यते'।

गोप वयस्यों में भी भगवद् आसक्ति है, इसीलिये, भगवान् उनको अपनी अंतरंग क्रीडाओं में नियमित साथ ही रखते हैं। प्रस्तुत अध्याय के प्रथम श्लोक में–सगोगोपालकोऽच्युतः–गोप-वयस्यों सहित, भगवान् के वृंदारण्य में प्रवेश का कथन है, और इसी अध्याय के सप्तम तथा अंतिम श्लोक में भी–'अनुनिवेशयतो वयस्यैः तथा गागोपकैरनुवनं नयतः'–गोप-वयस्यों सहित भगवान् के वृंदावन-प्रवेश का वर्णन मिलता है। परम-आसक्त को ही अंतरंग-संगति मिलती है। अंतरंग-क्रीडा के अतिरिक्त, यदि भगवान् अन्य कार्य के लिय वृंदावन में प्रवेश करते, तो जैसे कात्यायनी-व्रत-वरदान प्रसंग में प्रभु गोपसखाओं के बिनाही वहाँ पधारे थे, वैसे ही यहाँ अकेले ही प्रवेश करते। किंतु, यहां प्रभु को अंतरंग-क्रीडा अभिप्रेत है, अतः उन गोप वयस्यों को ही साथ में लिये जो उन में आसक्ति रखते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि गोपों को भी प्रभु में आसक्ति थी, किंतु गोपीजनकृत गुण-वर्णन की तरह उसका स्फुट कथन नहीं हुआ। रात्रि-चरित्र से संबधित होने के कारण वह गोप्य ही रहा।

**प्रवेशबोधने . . . निरूपिते :**–गोपीजन की आसक्ति को उद्‌बुद्ध करने के लिये भगवान् ने वृंदारण्य में प्रवेश किया और इसी अभिप्राय से वेणु-कूजन भी किया। भगवान् में आसक्त ही गुणों में आसक्त होते हैं।

प्रेम के अनन्तर ही आसक्ति का उदय होता है। अतः प्रथम, प्रेम का निरूपण किया गया। यह प्रेम, भगवत्-कृत है, भगवान् ने ही गोपीजन में प्रेम-भाव का रोपण किया, तथा प्रेमोद्‌बोधनपूर्वक आसक्ति का उद्दीपन भी भगवान् ने ही किया है, किसी अन्य ने नहीं।

**व्याख्या**–यहाँ यह शंका होती है, कि गोपाङ्गनाओं ने भगवान् के गुणों का कीर्तन किया है। भगवान् का नहीं, अतः इनकी भगवान् में जो आसक्ति है, वह भगवान् के गुणों के कारण है। अर्थात् गोपीजन की मुख्य आसक्ति गुणों के प्रति है, भगवान् के प्रति, उनकी आसक्ति गौण है। गुण-वर्णन से, उनकी गुणासक्ति ही स्पष्ट होती है, भगवदासक्ति नहीं –'गुणवर्णनात् गुणासक्तिरेव तेषां स्फुटा न तु भगवदासक्तिः'। तदुपरांत, यह कोई नियम नहीं कि यदि गुणों में आसक्ति हो, तो गुणी में भी आसक्ति होनी ही चाहिये'। ये गुणासक्तास्ते गुणिन्यासक्ता भवन्ति–इति न नियम इति भगवदासक्तिर्गौणी''। मुख्य आसक्ति गुणों में ही होती है, अतः गोपीजन की भगवदासक्ति गौण है। इस तरह की यह शंका असंगत है, क्योंकि, गुणासक्ति तभी संभव है, जब प्रथम, गुणी में आसक्ति हो; गुणी में आसक्ति के कारण ही, उसके गुणों में आसक्ति होती है। गुणों में आसक्ति रूप जो कार्य है, उसका मूल कारण, गुणी में आसक्ति है। आसक्ति कारण है, गुण-गान उसका कार्य, अतः

गोपीजनकृत गुणगान से, उनकी भगवदासक्ति ज्ञात हो जाती है। कार्य से ही, कारण का अनुमान किया जाता है, "गुणासक्त्या, भगवदासक्तिर्ज्ञापिता भवति"। गोपाङ्गनाओं ने जो गुणगान किया, वह प्रभु में अपनी आसक्ति के कारण ही तो किया। प्रस्तुत अध्याय में, गोपाङ्गनाओं की भगवदासक्ति का ही प्रतिपादन हुआ है।

**आसक्तिः प्रेमपूर्वैव**–प्रेम, आसक्ति का ही पूर्वभाव है, एवं प्रेम का उत्तरभाव आसक्ति। अतः, आसक्ति-निरूपण के पूर्व, आसक्ति के पूर्वभाव प्रेम का प्रतिपादन, तामस प्रकरण के अवान्तर प्रमाण-प्रकरण में किया गया है। प्रेम के अनन्तर ही आसक्ति का उदय होता है। प्रेम की परिपुष्ट कक्षा ही वस्तुतः आसक्ति है। गोप सखा तथा गोपीजन में, प्रभु-प्रति, प्रथम, प्रेम का उद्गम हुआ, तदनन्तर, इसी प्रेम के उत्तर-भाव, आसक्ति का। इस क्रम से भी, उनकी भगवदासक्ति मुख्य ही है–गौण नहीं, क्योंकि, प्रेम का सीधा संबंध पदार्थ से ही माना गया है, पदार्थ की गुण आदि बाह्य उपाधियों से नहीं। किसी पदार्थ से प्रेम, उस पदार्थ की बाह्य उपाधियों को लेकर नहीं होता–'न खलुबहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते'। अतः गोपाङ्गनाओं की आसक्ति का अर्थात् प्रेम के उत्तर-भाव का मुख्य आश्रय स्वयं प्रभु ही है। यदि प्रेम के उद्गम में, बाह्यगुण आदि उपाधियाँ निमित्त नहीं हैं, तथापि, कोई हेत्वन्तर तो होना ही चाहिये। भवभूति के मत में यह हेत्वन्तर अनिर्देश्य है, किसी भी आन्तर हेतु को लेकर प्रेम हो जाता है–'आन्तरः कोऽपि हेतुः'। प्रेम के उद्गम में वह आन्तर हेतु कौन सा है? इस विषय में भवभूति मौन हैं। श्रीमद्-आचार्य-चरण कहते हैं कि प्रेमोद्गम में एकांत हेतु श्री हरि हैं, श्री हरि ने स्वरूपतः, गोपाङ्गनाओं में, अपने प्रति इस प्रेम भाव को सिद्ध किया 'प्रेमापि हरिणा कृतम्'।

आसक्ति, प्रेम का उत्तरभाव है, प्रमाण-प्रकरण में प्रेम-भाव का दान, गोपाङ्गनाओं को, हो चुका है, प्रमेय-प्रकरण के प्रस्तुत अष्टादश अध्याय के प्रथम श्लोकगत वृंदावन में भगवत् प्रवेश के कथन द्वारा तथा द्वितीय श्लोकोक्त वेणु कूजन के द्वारा, प्रेमोत्तरभाविनी इसी आसक्ति के उद्बोधन का निरूपण किया गया है। वस्तुतः उद्बुद्धप्रेम ही आसक्ति को जन्म देता है, गोपाङ्गनाओं में, भगवान् ने, अपने वृंदावन-प्रवेशद्वारा तथा प्रवेशानन्तर वेणु कूजन द्वारा, उनके आसक्ति-भाव को जाग्रत किया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोप तथा गोपीजन में भगवदासक्ति ही मुख्य है, गुणासक्ति नहीं–यदि गोपसखाओं में, भगवदासक्ति अथवा प्रेम-भाव गौण होता तो भगवान् कदापि इनको अपने साथ नहीं लाते, और यदि गोपीजन में यह भाव गौण होता, तो भगवान् वृंदावन में पदार्पण ही नहीं करते और न ही वेणु कूजन द्वारा, उनमें प्रेमभाव उद्बुद्ध करते–अर्थात् यदि गोपाङ्गनाओं में–गुणासक्ति ही मुख्य होती तो

भगवान्, प्रथम, वृंदावन में प्रवेश नहीं करते, और कदाचित् प्रवेश करते तो भी, वेणु-कूजन द्वारा, उनकी आसक्ति का उद्बोधन नही करते। तदुपरांत, गोपाङ्गनायें यह जानती हैं कि भगवान् का उनके प्रति प्रेम है। प्रेम है, इसीलिये तो वृंदारण्य में पधारे हैं, और वह भी अकेले नहीं, अंतरंग वयस्यों सहित!!! भगवान् का वृंदारण्य में प्रवेश, गोपीजन-प्रति, इसी प्रेम भाव की संपूर्णता का सुचक हैं। तदनुसार, अपने प्रति–भगवान् के प्रेम की इस अभिव्यक्ति से गोपाङ्गनाओं का प्रेम स्वत: उद्बुद्ध हो उठा, अत: इनके प्रम का मुख्य आश्रय, प्रभु ही हैं–गुण नहीं।

**उद्बोधकं च हरिणाकृतम्**–और यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि गोपीजन की इस आसक्ति का उद्बोधन, भगवत् कृत वेणु-कूजन के अतिरिक्त, किसी अन्य लौकिक हेतु से संपादित किया गया है। यहाँ वृंदावरण्य में, उस समय, कोकिलादि का मधुर कूजन तथा मधुपसमूह का मादक गुंजन भी हो रहा था, किंतु, गोपीजन की आसक्ति का उद्दीपन तो, वेणु-कूजन से ही हुआ। गोपाङ्गनाओं का प्रभु-प्रति प्रेम तथा आसक्ति अलौकिक हैं, अत: इनके उद्दीपक हेतु भी अलौकिक होने चाहिये। कोकिलादि के लौकिक कूजन, अलौकिक भाव के उद्बोधन में, कदापि उद्दीपक-विभाव नहीं बन सकते। अत: वेणु-कूजन ने ही गोपीजन की आसक्ति को उद्बुद्ध किया। तदुपरांत, यह वेणु-कूजन अन्य-कृत भी नहीं है–'कृतं नान्येन केनचित्'। अन्यकृत वेणु-कूजन से भगवद्-विषयक प्रेम उद्बुद्ध नहीं हो सकता। अत: स्वयं हरि ने हीं वेणु कूजन द्वारा यह उद्बोधन किया है–उद्बोधनं च हरिणा कृतम्'। यहाँ श्रीमद्-आचार्य चरण का यह अभिप्राय है कि गोपाङ्गनाओं में जो प्रेम अथवा आसक्ति है उसकी सिद्धि, जीवकृत श्रवणादि साधनों से कदापि संपाद्य नहीं है। इस प्रेम का, आसक्ति का–दान, गोपाङ्गनाओं को, स्वयं हरि ने स्वरूपत: किया है, और उसका उद्बोधन भी श्रीहरि द्वारा हीं संपादित हुआ है। प्रमाण-प्रकरण में भगवान् ने स्वाचरितलीलाओं द्वारा, गोपीजन में प्रथम, प्रेम की, तदनन्तर, प्रमेय-प्रकरणीय चरित्र द्वारा, आसक्ति-भाव की, स्थापना की। अन्त में, वेणुनाद द्वारा, गोपाङ्गनाओं की उच्छलित भगवदासक्ति, गुण-गान रूप में बाहर उभर पड़ी, अत:, गोपाङ्गनाओं में, गुणगांन रूप आसक्ति के मुख्य विषय श्री हरि ही हैं।

प्रेम तथा आसक्ति का दान, वृंदावन में प्रवेश, वेणु का कूजन–चुकूज-वेणुम्-तथा आसक्ति-भाव का उद्दीपन, यह इतना ही नहीं, अपितु, कुसुमित-वनराजि, सघन-निकुंजों से आच्छादित पर्वत की उपत्यकायें, कलकल करतीं निर्झरणियाँ, विकसित-कमल पंक्तियों से–सुवासित सरोवर आदि अन्य उद्दीपक–विभावादि सामग्री का संपादन भी, व्रजदेवियों की चरम रस-निष्पत्ति के लिये स्वयं हरि ने ही

किया है। पुष्टि-मार्ग में भक्त, भगवान् का वरण नहीं करता–किंतु, भगवान्, स्वेच्छित जीव का, अपने भक्त के रूप में वरण करते हैं। भगवान् जिस जीव को अंगीकार करते हैं, उसी जीव को, भगवान् प्राप्त होते हैं–यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। अतः, स्वप्राप्ति में, भक्त के लिये, समग्र साधन, भगवान् स्वयं ही सिद्ध कर देते हैं। गोपांगनायें, भगवद्-अनुग्रहीत जीव हैं। इनको भगवत्-स्वरूप की साक्षात् अनुभूति के योग्य बनाना है, इसीलिये, इनके निरोधार्थ, प्रथम, प्रमाण प्रकरण द्वारा, उनमें प्रेम-निरोध स्थापित किया। भगवान् ने अपनी शैशव-कालीन मधुर एवं मुग्ध लीलाओं से व्रजजनों में इसी प्रेम-भाव को उद्‌बुद्ध करते हुये, वृंदावन में स्वप्रवेश द्वारा तथा वेणु-कूजन द्वारा, उसे आसक्ति-भाव में परिणत कर दिया, आसक्ति-निरोध सिद्ध किया। यह समग्र-आयोजन श्री हरि ने स्वयं स्वरूपतः संपादित किया है, अन्य ने नहीं–क्रतं नान्येन केनचित्'।

**कारिका–'आसक्त्या वर्णनं तस्मात् विद्यान्ते वर्ण्यते स्फुटम्'–**

**अर्थः**–अक्षण्वतां-श्लोक से, आसक्ति-पूर्वक किया गया भगवद् गुण-वर्णन, फल-रूप ही है, साधन-रूप नहीं। फलरूप होने के कारण ही इस भगवद्-गुण संकीर्तन का, श्लोक-पंचक रूप पंचपर्वा-विद्या के अंत में, अर्थात् 'बर्हापीडं'–इस पंचम श्लोक के अनंतर, प्रारंभ हुआ है। ३½।

**व्याख्याः**–श्रीमद् आचार्य चरण ने उपर्युक्त कारिका में 'विद्या' शब्द का प्रयोग किया है। प्रस्तुत, अष्टादश-अध्याय के प्रथम पांच श्लोकों की संगति एवं उनका स्वारस्य हृदयंगम करने के लिये, उपर्युक्त विद्या के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। यहाँ विद्या का अर्थ, उसकी परिशुद्ध पुष्टिमार्गीय परिभाषा के अनुसार किया गया है। यह विद्या लीलास्थ जीवों से संबंधित अतएव अलौकिक मानी गयी है। यह, उपासनात्मक-विद्या से भिन्न है। उपनिषद् में 'मधु-विद्या, ब्रह्म-विद्या' आदि से इसी उपासनात्मक विद्या का निर्देश किया गया है। पुष्टिमार्ग में, विद्या का अर्थ है, भगवत्-साक्षात्कार, अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान, अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्म के स्वरूप, गुण तथा लीला का अनुभव हो उसे विद्या कहते हैं, अतः, 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इस मंत्र में जिस विद्या का निर्देश किया गया है वह पुष्टि-मार्गीय विद्या है। यहाँ, अमृत का अर्थ है–'भगवत्-स्वरूप सौंदर्यामृत', और, यही पुष्टि-पथ का परमोत्कृष्ट-फल है। स्नेह, आसक्ति, व्यसन आदि आधिभौतिक मानसिक-वृत्तियाँ, विद्या से संवलित होने पर एक अलौकिक रस-रूप-वृत्ति में परिणत हो जाती हैं–जिसे 'भक्ति' कहते हैं। 'भक्त्या मामभिजानाति'–भक्ति से ही मुझे जाना जा सकता है, यहाँ, जिस भक्ति का उल्लेख किया गया है, वह ब्रह्म-भाव की प्राप्ति के अनन्तर, उदय होने वाली विद्योपेत 'भक्ति' है। विद्या से रहित भक्ति, केवल आसक्ति मात्र है। विद्योपेत–

आसक्ति ही, भक्ति है। भगवान् के जिस स्वरूप का वर्णन 'वर्हापीडं' श्लोक में किया गया है, उस स्वरूप का अनुभव अर्थात् अभिज्ञान, इसी विद्योपेत-भक्ति से संपाद्य है।

यह विद्या, पंचपर्वात्मिका है, वैराग्य, सांख्य, योग, तप तथा भक्ति—यही इसके पांच पर्व हैं। प्रत्येक पर्व का स्वरूप भी विलक्षण है। भगवत्-स्वरूपातिरिक्त पदार्थ में से आसक्ति की निवृत्ति ही 'वैराग्य' है; परब्रह्म रसात्मक है—यह ज्ञान ही 'सांख्य' है; भगवान् में चित्त की तद्रूपता 'योग' है; भगवद्-वियोग में, विरह-सुलभ ताप क्लेश की अनुभूति, 'तप' है; धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय की कामना से रहित, प्रभु में एकांत आसक्ति ही 'भक्ति' है।

प्रस्तुत, अष्टादश अध्याय के प्रथम पाँच श्लोकों से इसी पंच-पर्वा विद्या का निरूपण किया गया है। यह श्लोक-पंचक, पंचपर्वाविद्या रूप है। प्रत्येक श्लोक से इस विद्या के यथाक्रम प्रत्येक पर्व का प्रतिपादन हुआ है। प्रथम श्लोक से वृंदावन में, भगवत् प्रवेश का, द्वितीय श्लोक से भगवत्-कृत वेणु-कूजन का, तथा तृतीय श्लोक से, स्वसखियों के समक्ष कामासक्त गोपाङ्गनाओं ने, भगवद्-गुण वर्णन का जो उपक्रम किया, उसका कथन हुआ है। चतुर्थ श्लोक से, गोपाङ्गनाओं ने, जब भगवद्-गुणानुवर्णन का प्रारंभ किया, तब, वर्णनारंभ करते ही, उनमें, श्रीकृष्ण के गुण वर्णन से, भगवान् के भ्रू-विलास आदि शृंगार-चेष्टाओं की बलवत् स्मृतियों का ज्वार उमड़ पड़ा, तत्सुलभ स्मर वेग से उनका चित्त चंचल हो गया, परिणामतः उनकी, भगवद्-गुण-गान की गति तत्क्षण रुद्ध हो गयी—'नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप!' वेणु कूजन से गोपीजन की आसक्ति अवश्य उद्बुद्ध हुयी, एवं तदनुसार, उन्होंने आसक्ति के उभार से भगवद् गुण वर्णन का प्रारंभ भी किया, किंतु, यह वर्णनोपक्रम, वहाँ ही, चतुर्थ-श्लोक से ही स्थगित हो गया, क्योंकि, उनमें अभी भगवद्-विद्या शक्ति का, उसके पांचों पर्वों सहित आविर्भाव नहीं हुआ था।

चतुर्थ श्लोक में, जिस आसक्ति से, गोपीजन ने भगवद्-गुण-वर्णन का प्रारंभ किया, उसमें विद्या के पंचम-पर्व भक्ति का आविर्भाव नहीं हुआ था। भगवत्-स्वरूपानुभव से रहित यह 'आसक्ति,' केवला 'आसक्ति' अर्थात् निरी आसक्ति मात्र ही थी। भगवत्-स्वरूप, गुण तथा लीला के अनुभव विना, केवल आसक्ति-द्वारा, भगवद् गुणों का वर्णन असंभव है। गोपीजन की आसक्ति में, अभी श्लोक चतुष्टय द्वारा, विद्या के पर्व-चतुष्टय का ही आविर्भाव हुआ है, विद्या का पंचम पर्व अभी शेष है, उनकी आसक्ति अभी विद्या के अंतिम 'पर्व' भक्ति से संवलित नहीं हुयी है। अतः, गोपाङ्गनाओं का गुण-वर्णन, 'तद्वर्णयितुमारब्धाः' इस चतुर्थ श्लोक से ही अटक गया। गोपाङ्गनायें विह्वल हो गयीं। उनकी, इस निःसाधन दशा में, स्वयं

भगवान् ने, उनको, वर्हापीडं—इस पंचम श्लोक से, विद्या के पंचम-पर्व-'भक्ति' का सांगोपांग दान किया। अर्थात् जब गोपाङ्गनायें, चित्त-विक्षेप से, भगवत्-स्वरूप, गुण तथा लीला के वर्णन में असमर्थ हो गयीं, तब, भगवत् प्रेरित श्री शुक न, 'वर्हापीड़' श्लोक के निरूपण द्वारा, गोपाङ्गनाओं को, भगवत्-स्वरूप, गुण तथा लीला का अवबोध कराया। गोपाङ्गनाओं को भक्त्यात्मक-आसक्ति सिद्ध हो गयी। वर्हापीडं श्लोक में परिकर सहित, इसी ब्रह्म-स्वरूप के ज्ञान का निरूपण है। इस श्लोक की प्रथम दो पंक्तियों में, भगवत्-स्वरूप का, तृतीय पंक्ति में उनके गुणका तथा अंतिम पद में उनकी लीला का प्रतिपादन है। भगवान् के स्वरूप, गुण तथा लीला का अनुभव ही ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान है, ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान, विद्या से ही संपाद्य है। विद्या सहित यही आसक्ति, भक्ति है। इसी आसक्ति की अद्भुत एवं दुर्लभ अभि-व्यक्ति वेणु-गीत में है। सेवकादि परिकर तथा विभावादि सामग्री से संपन्न साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम, स्वरूप से, गुण से तथा लीला से, वेणु-गीत में आविर्भूत हैं। गोपीजन की भगवदासक्ति ही वेणु-गीत का प्रतिपाद्य विषय है—'तदत्र अध्यायार्थत्वेन निरूपितं-अष्टादशे गोपिकानामासक्तिर्वर्ण्यते स्फुटा'। विद्या का. भगवान् ने, जब गोपीजन को दान किया, तत्पश्चात् ही गोपीजन में, भगवद् गुण वर्णन रूप भगवत् प्राप्ति सिद्ध हुयी। विद्या के अंत में, उसके फल रूप से, गुणगान का प्रारंभ हुआ, इसलिये, गुणगान, ब्रह्म-विद्या से भी अधिक, उसका भी फल रूप है—'ब्रह्म-विद्यातोप्यधिकं, तस्या अपीदं फलम्'। इस विद्या की सिद्धि केवल गोपाङ्गनाओं को ही प्राप्त हुयी।

यह विद्या दो प्रकार की है—मूर्त तथा अमूर्त। वर्हापीडं श्लोक में अमूर्त-विद्या का निरूपण है। नाद-ब्रह्म ही अमूर्त-विद्या है। भगवान् ने, प्रथम, गोपीजन के अंत:करण में, इसी नाद-ब्रह्मरूप अमूर्त विद्या की अनुभूति करायी, तदनन्तर, अंत:-करण में ही, इस विद्या के साक्षात् फलरूप में, अपने स्वरूप का, वेणु-नाद द्वारा, अनुभव कराया। विद्या से ही श्रीहरि की प्राप्ति सुलभ है, 'पंचपर्वेतिविद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेत्'। अंत:करण में भगवत्-स्वरूपानुभव तथा देह की समस्त इन्द्रियों से भगवत्-स्वरूपानंद का उपभोग, तब तक संभव नहीं, जब तक विद्या का प्रादुर्भाव न हो। वेणु गीत में नाद-द्वारा, अमूर्त विद्या का, गोपीजन के अंत:करण में, प्रादुर्भाव हुआ, अत: इसके फलरूप से भगवत्-स्वरूपानुभव भी, अंत:करण में ही हुआ। इसी आंतर-रमणरूप भगवदात्मक अनुभव की परम रमणीय अभिव्यक्ति, गोपाङ्गनाओं ने प्रस्तुत वेणु-गीत में की है। अग्रिम, रासोत्सव प्रसंग में, गोपीजन को, मूर्त-विद्या का दान किया जायेगा, जिसके फलस्वरूप, उनको बाह्य-रमण द्वारा, सकल इन्द्रियों से, अंग से अंगसंबंध पूर्वक, साक्षात् स्वरूपानंद के उपभोग की सिद्धि प्राप्त होगी।

अर्थात्, प्रस्तुत प्रसंग में, गोपाङ्गनाओं को, जिस विद्या का दान किया गया तथा तत्सुलभ जिस फल का अनुभव कराया गया, वह दोनों ही अर्थात् विद्या तथा उसका फल अमूर्त हैं, क्योंकि इनकी अनुभूति अंत:करण में ही हुयीं। रासोत्सव प्रसंग में, विद्या और उसके फलरूप स्वरूपानंद का अनुभव, साक्षात् रमण द्वारा, वाहर ही हुआ, अत: यह विद्या और उसका फल दोनों ही मूर्त हैं।

इस तरह, 'वर्हापीडं' इस पंचम श्लोक से, विद्या के अंतिम-पर्व भक्ति का, 'भक्त्यात्मिका' आसक्ति का उदय हुआ, कामासक्ति निवृत्त हुयी। 'भक्त्या मामभिजानाति' में, ब्रह्मभाव के पश्चात् उदय होने वाली भक्ति का ही निर्देश किया गया है। अत:, भगवत्-स्वरूपानुभव, ब्रह्मभाव की सिद्धि से भी अधिक है, इसी भगवत्-स्वरूपानुभव की सिद्धि, गोपाङ्गनाओं को प्राप्त हुयी। बर्हापीडं श्लोकान्तर्गत जिस भगवत् स्वरूप, गुण तथा लीला का अनुभव-अभिज्ञान-गोपाङ्गनाओं को हुआ, उसी की अभिव्यक्ति उन्होंने 'अक्षण्वतां' इस सप्तम श्लोक से आरंभ की है– **एवं च** बर्हापीडं इति श्लोकोक्तभगवत्-स्वरूपानुभवो ब्रह्मभावोत्तरभाविभक्त्या भवति–भक्त्या मामभिजानाति इति अभिज्ञारूप:। स चाग्रे 'अक्षण्वतां', 'इत्यादौ स्फुट:'–प्रकाश.।

'अक्षण्वतां' श्लोक से गोपीजन द्वारा आसक्तिपूर्वक किया गया भगवद्-गुण-वर्णन, फलरूप है, साधन-रूप नहीं, क्योंकि, यह गुणवर्णन, श्लोक पंचात्मक रूप पंच-पर्वा विद्या के अंत में किया गया है– अर्थात् गोपीजन को, पंचमश्लोक–'बर्हापीडं' द्वारा, पंचपर्वात्मक विद्या का दान दिया गया तब उनकी आसक्ति विद्या, से संवलित हुई, तदनुसार, इस तरह, विद्या की प्राप्ति होने पर, उन्होंने जो भगवद्-गुण वर्णन किया, वह फल-रूप ही था, साधन-रूप नहीं।

'अक्षण्वतां' इस सप्तम श्लोक से, उन्नीसवें श्लोक पर्यंत–त्रयोदश श्लोकों में, गोपाङ्गनाओं ने भगवद्-गुणों का संकीर्तन-गान-किया है।

**कारिका:–कालाधिको हरिश्चात्र, पुरुषोत्तम एव च।**
**त्रयोदशविधा लीला तत उक्ता पृथक् पृथक् ।।४½।।**

**अर्थ:**–यहां काल से अधिक हरि–साक्षात् पुरुषोत्तम ही हैं। अत: अग्रिम अवतरणों में, उनकी त्रयोदश प्रकार की लीलाओं का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है। ।।४½।।

**व्याख्या:**–गोपाङ्गनाओं ने, त्रयोदश श्लोकों से, भगवद्-गुण संकीर्तन किया है। यहाँ त्रयोदश संख्या में गूढ तात्पर्य है। काल, द्वादश मासात्मक तथा सर्वका प्रलायक है। नित्य-लीला परायण हरि, 'त्रयोदश मासात्मक हैं' इसीलिये पुरुषोत्तम

है (पुरुषोत्तममास त्रयोदश-मासात्मक कहलाता है।) काल के भी, हरि, उपसंहारक हैं–अतः काल से भी अधिक हैं। क्षर तथा अक्षरात्मक पुरुष–दोनों ही दशांग हैं; पुरुषोत्तम, क्षराक्षरपुरुष से भी उत्तम, अतएव त्रयोदशांग हैं। द्वादश मासात्मक काल, प्रवाही जीवों का उपास्य है; द्वादशांग क्षर-अक्षरात्मक पुरुष, मर्यादा जीवों के उपास्य हैं; कालाधिक हरि तथा लोक वेद से-क्षर, अक्षर से- अतीत पुरुषोत्तम, शुद्ध पुष्टिजीवों के- गोपाङ्गनाओं के–'सेव्य' हैं। त्रयोदश मासात्मक तथा त्रयोदशांग इन्हीं हरि की, जो साक्षात् पुरुषोत्तम ही हैं, त्रयोदश प्रकार की लीलाओं का, त्रयोदश श्लोकों द्वारा, प्रथक् प्रथक् वर्णन किया गया है। त्रयोदश श्लोक ही जो कह गये उसका यही 'रहस्य' है। प्रभु, हरि हैं इसीलिये कालाधिक हैं, क्योंकि काल के भी उपसंहारक हैं; पुरुषोत्तम हैं, इसीलिये लोक-वेद से अतीत हैं।

——: 0 :——

## प्रथम श्लोक विवरण :–

इससे पूर्व, सप्तदश अध्याय के अन्त में, भगवद्-लीला में उपयोगी शरद का वर्णन किया गया था, अब, प्रस्तुत श्लोक द्वारा, वृंदावन में, लीला करने के लिये, भगवत् प्रवेश का कथन किया जाता है।

**इत्थं शरद-स्वच्छजलं, पद्माकरसुगंधिना।**
**न्यविशद्-वायुना वातं, सगोगोपालकोऽच्युतः ॥१॥**

**शरद-विमल-जल-युत पवन बहत पद्ममकरंद।**
**किय प्रवेश अस सुभग-वन सहगो-गोप-मुकुंद ॥१॥**

**अनुवादः**–इस प्रकार की शरद-ऋतु से स्वच्छ-जलाशयों वाले वृंदावन में, जहां कमल समूह की सुगंध-सहित-पवन बह रही थी, गायों और गोपों सहित अच्युत श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया॥ १॥

**व्याख्या** :–पुर्वोक्त प्रकार की शरद से स्वच्छ हो गये हैं जलाशय जिसके ऐसे वृंदावन में, अच्युत श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया। इस श्लोक में, यद्यपि, 'वृंदावन' शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि, गत अध्याय में, भगवान् की लीला-स्थली रूप में वृंदावन का कथन हुआ है एवं अग्रिम-द्वितीय श्लोक में भी 'कुसुमित-वनराजि' द्वारा वन का ही वर्णन किया गया है; तदुपरांत, 'बर्हापीडं' इस पंचम श्लोक में तो–'वृंदारण्यं स्वपदरमणं प्राविशत्'–वृंदावन का स्पष्ट निर्देश है। इस संदर्भानुसार, प्रस्तुत श्लोक में 'न्यविशत्' क्रिया के कर्म रूप से 'वृंदावन' का अध्याहार करना युक्ति-युक्त है। अतः यह स्पष्ट है कि भगवान् ने स्वलीलार्थ वृंदावन में ही प्रवेश किया, अन्यत्र नहीं।

इस अध्याय में भी, पूर्ववत् अपनी आधिदैविकी शक्तिरूपा गोपीजन के साथ भगवद्लीला का वर्णन किया गया है–'अत्रापि पूर्ववत् आधिदैविकीभिः शक्तिभिः लीला वक्तव्या'। प्रत्येक पदार्थ के तीन स्वरूप होते हैं–आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक। पदार्थ का 'सत्' प्रधान स्वरूप आधिभौतिक है, चिद्-ज्ञान-प्रधान स्वरूप आध्यात्मिक है। आनन्द-प्रधान स्वरूप ही आधिदैविक स्वरूप है। यहाँ, गोपाङ्गनायें, भगवान् की आधिदैविकी-आनन्द-स्वरूपा शक्तियाँ हैं। भागवत में, भगवान् ने अपने इन त्रिविधा स्वरूपों से त्रिविध लीलायें की है। भगवान् का आधि-भौतिक स्वरूप, यह क्षरात्मक जगत्, तथा आध्यात्मिक स्वरूप, अक्षरात्मक ब्रह्म है। आनन्दमय, आपका आधिदैविक स्वरूप है। यही साक्षात् श्री पुरुषोत्तम स्वरूप है, यही वेदान्त-वेद्य रसात्मक परब्रह्म श्रीकृष्ण है। गाय, गोपी, वृंदावन, वृंदावन के वृक्ष, लता, निकुंज, सरोवर, सरिता, पर्वत, तृण, पशु, पक्षी, वायु, दिवस, रात्रि, चंद्रमा आदि संपूर्ण सामग्री, आधिदैविकी अतएव आनन्दस्वरूपात्मक है। गोप, प्रतिच्छन्न देवता हैं, देवगण ही, भगवद् लीलार्थ, गोपवेश में अवतीर्ण हुये हैं। व्रज, व्यापि वैकुंठ हैं; गोपांगनायें, भगवान् की आधिदैविकी शक्तियाँ हैं–इनमें बहुतसी श्रुति रूपा हैं–ऋग्वेद तथा सामवेद की ऋचायें हैं। ऋषिरूपा, अग्निकुमारिकायें भी हैं। बहुतसे मुक्त जीव भी, अनुग्रह-पूर्वक लीलानुभव कराने के लिये साधिकार सम्मिलित किये गये हैं। इस प्रकार की यह संपूर्ण लीला-सृष्टि अलौकिक है, जिसमें शुद्ध-पुष्टि जीवों को ही प्रवेश का अधिकार है, इसका सृजन रसात्मक श्रीपुरुषोत्तम के श्रीविग्रह में से हुआ है। अतः जिन गोपाङ्गानों से रमण करने के लिये, अच्युत श्रीकृष्ण ने वृंदावन में प्रवेश किया है, वे सभी, इनकी आधिदैविकी, आनन्द-स्वरूपा शक्तियाँ हैं। श्रीमद्-आचार्य-चरणने यहाँ गोपियों के लिये, 'आधिदैविकी-शक्ति' शब्द का प्रयोग किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोपीजन, भगवत्-शक्तियाँ है, अतः, उनका स्वरूप भी, भगवान् के समान ही अलौकिक है, नित्य है, स्वभावतः रसात्मक है, अर्थात् 'रस' उनका धर्म नहीं अपितु स्वरूप ही है। भगवद्-भोग्य इन गोपाङ्गनाओं के स्वरूप को छिपाने के लिये ही, यहां इनके लिये 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया है। यदि इन का, इनके सहज आधिभौतिक 'स्वरूप' से ही निर्देश किया जाता, तो इस रस की निगूढता से अपरिचित, अनभिज्ञ-मनुष्य, इस संपूर्ण लीला-रस की लौकिक-स्तर से ही समीक्षा कर बैठता। इससे श्रीमद्-आचार्य-चरण का यह आशय है, कि इस रस से अनभिज्ञ जीव इस प्रसंग को न सुने, न पढे।

**अच्युत**–लीला का नायक उत्तम होना चाहिये, यहाँ लीला के नायक साक्षात् प्रभु हैं, अतः उनके लिये 'अच्युत' शब्द का प्रयोग किया गया है। अच्युत, उच्च कोटि के

नायक हैं, जिनका रमण, काल से अनवच्छिन्न है, कालोपाधिक रस सीमित है, च्युति क्षयशील है, अच्युत रस, अनन्त तथा अक्षय है, निर्विकार है। यहाँ साक्षात् श्रीकृष्ण नायक हैं और नायिका, साक्षात् भगवत्-तुल्या व्रजदेवियाँ। इस लीलारस का अनुभव करानेवाली गो समुदाय हैं-'तत्रापि गावोऽनुभाविका:'। गाय के समान निर्दोष एवं मुग्ध-भक्त ही इस लीलारस का अनुभव करने के योग्य है। इससे यह संकेत किया गया है कि यह समग्र भगवद्-लीला निष्पाप एवं अलौकिक है।

साथ में सेवक-रूप गोप-सखा हैं—गोपवेश मे छिपे हुये ये साक्षात् देवगण ही हैं। 'गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा: गोपालरूपिण:'। इन गोप-सखाओं में से कुछ अंतरंग सेवा के, कुछ बहिरंग सेवा के उपयोगी हैं। अंतरंग सखा, स्त्रीभावापन्न हैं-साक्षात् वेद के मंत्र-रूप हैं। पंचपर्वा अविद्या से निर्मुक्त किये गये, अतएव इन्द्रियान्त:करण से सर्वथा निर्दुष्ट हैं। स्वयं भगवान्ने अपने इन गोप-सखाओं को अविद्या के पर्व पाशों से मुक्त किये हैं। धेनुक एवं कालिय आदि के निग्रह द्वारा इनकी देह, इन्द्रियों आदि को तथा प्रलंब-विध्वंस से इनके अंत:करण को, भगवान् ने ही निर्दुष्ट बनाया है। 'आसन् सुविस्मिता': इत्यादि पंक्तियों द्वारा जैसा प्रतिपादन किया गया है-इन गोप-सखाओं की इन्द्रियां निर्दोष हैं। अविद्या के अध्यास पंचक से विमुक्त हो जाने कारण, इनकी इन्द्रियाँ कलमष रहित हो गयी हैं। ये गोप-सखा रूप देवता, भगवद् आचरित-लीला के साक्षी रूप में सदैव प्रभु के साथ ही रहते हैं-शक्ति-रूपा व्रजदेवियों की लीलाकालीन निर्भयता के लिये, इन गोपसेवकों की उपयोगिता है। स्वार्थ से रहित अर्थात् स्वार्थ-निरपेक्ष स्वफल-भोग को, अन्य के लिये समर्पण करनेवाला तथा उस फल भोग में दूसरे को यथाधिकार प्रवृत्त करनेवाला ही 'साक्षी' कहलाता है। साक्षी वही हो सकता है जो इस प्रकार के गुणों से संपन्न हो-जैसे परमात्मा। इन धर्मों के कारण ही, परमात्मा साक्षी कहा जाता है। ये अंतरंग गोप-वयस्य, इस अलौकिक लीला के साक्षी हैं, स्व-भोग्य रसानुभव-सुलभ आनंद को, अन्य स्वामिनी के लिये समर्पित करके, ये साक्षीसखा, उसे रसानुभव के प्रकारों में भी प्रवृत्त करते हैं। भगवान् एवं उनके प्रिय-भक्त की, पारस्परिक रमण-सुलभ आनन्द की, निरंतर उत्कट अनुभूति में ही ये अंतरंग-सखा, अपनी एकांत कृतकृत्यता मानते हैं। भगवत्-सुख के लिये, अर्थात् जिस स्वामिनी के साथ जिस प्रकार के रमण द्वारा भगवान् को सुख प्राप्त होता हो, उस प्रकार के भगवत्-सुखार्थ, अपने सुख के प्रति निरपेक्ष ही रहते हुये, सर्व प्रकार से सहयोग में ही इनकी चरितार्थता है 'स्वार्थं तदपेक्षारहितं फलभोगसमर्पक: यथाधिकारं तत्र प्रवर्तकश्च साक्षी भवति यथा परमात्मा'। ये गोप, अंतरंग सखा हैं, क्योंकि साक्षित्व के सभी उत्तम धर्म इनमें विद्यमान हैं। उपनिषद्ने साक्षित्व को

परमात्मा का धर्म माना है– 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'। फल भोग की कामना से रहित होना एक बात है, किंतु अन्य की परितुष्टि में, स्वकीय परितोष की सिद्धि मानना-यह शुद्ध पुष्टि-धर्म है। ये गोप वयस्यरूप देवता, लीला के साक्षी हैं, इससे यह निर्देश किया गया है कि यह भगवद्-लीला दिव्य तथा निष्पाप है। इनकी, वहाँ लीलास्थली में, परिचर रूप से उपस्थिति के कारण, लीलाविलास, विना प्रतिबंध, निर्भरतया निरंतर निष्पन्न होता रहता है। अन्य बहिरंग-गोप-सखा सात्विक अतएव लीला रस से अनभिज्ञ हैं, अतः, इनकी उपयोगिता, सुदूर-वृंदावन में गोचारणार्थ ही है। वन-सात्विक माना गया है, अतः इन सात्विक सखाओं को, इनकी प्रकृति के अनुकूल-स्थल वन में ही, गोचारणादि कार्य के लिये भेज दिया गया है। इधर, अनन्यतया स्वामिनी-वृंद के साथ कामाशन रूप स्वच्छंदलीला भी संपादित होती रहे, और साथ ही, उधर, गोचारण-रूप धर्माचरण भी। इसी आशय से, पशु आदि के चारण तथा रक्षण का कर्तव्य-भार, इन बहिरंग सखाओं को दिया गया है–जिससे प्रभु के विहार में किसी भी प्रकार का अन्तराय अथवा चित्त-व्यग्रता आदि की संभावना ही न रहे। इसीलिये भगवान् ने इन द्विविध गोपसखाओं को, गायों सहित संग में ही लिये हैं– 'सगोगोपालकोऽच्युतः'।

**पद्माकर सुगंधिना**–रमण के लिये सर्वथा सानुरूप ऋतु शरद् है। जल तथा स्थल भेद से रमण भी दो प्रकार का है। गाढ आलिंगनादि-पूर्वक निर्भर रमण में, जल की अपेक्षा, स्थल अधिक सानुकूल तथा पवन परम उपकारक है, विशेषतः वह पवन जो शीतल, मंद तथा सुगंधित हो। वृंदावन में जो पवन बह रही है, वह कमल-पुष्पों की उत्तम सुगंध से सुरभित है- 'पद्माकरसुगंधिना'। उत्तम सौरभ में शीतलता का धर्म माना गया है। शीतल एवं परागभार से भरित इस समीर की गति निसर्गतः मंथर है। वृंदावन में संप्रति यही त्रिविध समीर गति कर रहा है, अतः रमण के लिये यह स्थल-सानुकूल है।

**शरद् स्वच्छजलम्**-जलकी निर्मलता एवं तद्-गत शैत्य का अभाव, ये दोनों, जल-क्रीड़ा की रसमयता के अधिकाधिक संवर्धक हैं। रमण में परम उपकारक शरद्-ऋतु ही इन साधनों का स्वतः संपादन कर देती है। जल में जो स्वच्छता है, वातावरण में जो एक उत्सवमयता है वह शरद् के कारण ही 'शरदि सर्वं प्रसन्नत्वात्'। शरद् ने ही जल को अनतिशीतलता-समशीतोष्णता-समर्पण की है-'आश्लिष्य समशीतोष्णम्'। शरद् से जहाँ जलाशय निर्मल हो गये हैं-वहाँ जल में क्रीडार्थ, श्रीअच्युत ने प्रवेश किया। 'न्यविशत्' क्रिया के कर्म का, अर्थात् प्रभु ने किस स्थान में, किस प्रयोजन के लिये प्रवेश किया इसका-यहाँ विशेष निर्देश नहीं किया गया है, तथापि 'जल'-अथवा 'स्थल' प्रवेश

के कथन मात्र से यह समझ लेना चाहिये कि यह प्रवेश, वहाँ, क्रीडार्थ जल में-ही किया गया है–'शरद्-स्वच्छजलानि यत्र विशेषतः कर्मानिर्देशात् क्रीडार्थं जलप्रवेशश्च'। **सगोगोपालकोऽच्युतः, न्यविशत्–** रमण में इतनी ही सामग्री-शीतल, मंद, सुगंधित वायु तथा समशीतोष्ण निर्मल जल पूर्ण जलालय-अपेक्षित है। उपर्युक्त श्लोक के 'गाय तथा ग्वालों सहित भगवान् ने प्रवेश किया' इस पद में, कहाँ और किसलिये प्रवेश किया, इसका कथन नहीं हुआ है तथापि, प्रवेश-स्थल की तथा प्रवेश के प्रयोजन की प्रतीति, उपर्युक्त श्लोक में वर्णित, विशेषण-भूतधर्मों के प्रचुर प्रयोग द्वारा-अर्थात् स्वच्छ-जल, शीतल, मंद, सुगंधित पवन आदि विशेषणों द्वारा स्वतः निर्दिष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जहाँ त्रिविध-समीर प्रवहमान हो, समशीतोष्ण जलाशय हों, वहाँ 'प्रवेश', क्रीड़ा के प्रयोजन को लेकर ही, होना चाहिये, और, इस प्रकार के रमणानुकूल साधनों से संपन्न अतएव सुरम्य-प्रदेश-स्थल भी वृंदावन के अतिरिक्त अन्य कौनसा हो सकता है? त्रिविध-वायु से व्याप्त तथा अनतिशीत-निर्मल जलाशयों से संपन्न प्रदेश, व्रज में, वृंदावन ही है–और, इन धर्मों से समलंकृत ऐसे वृंदावन में प्रवेश का प्रयोजन रमणातिरिक्त अन्य और हो ही नहीं सकता। किंतु, जल तथा स्थल में आचरित भगवान् की यह लीला परम गोप्य है, इसीलिये, प्रवेश स्थल का तथा प्रवेश के प्रयोजन का स्पष्ट उल्लेख, श्रीशुक ने, यहाँ उचित नहीं माना। अथवा, जल, वायु आदि विशेषण धर्मों की प्रधानता-प्रचुरता के कारण, प्रवेश-स्थलरूप विशेष्य का-वृंदावन का-निर्देश नहीं किया गया–'विशेषणभूतानां जलवाय्वादीनामेवात्र प्राधान्यात् न स्थलरूप-विशेष्य-निर्देशः'।

**न्यविशत्:–** उपर्युक्त श्लोक के 'न्यविशत्' में नि-' उपसर्ग का अर्थ है 'नितराम्'-अर्थात् भगवान् ने आधिभौतिक-दृश्य वनमें प्रवेश नहीं किया-किंतु आधिदैविक गुप्त निकुंजों में प्रवेश किया- 'नितरां प्रवेश आधिदैविकपर्यन्त :'- सुबो-यहाँ 'आधिदैविक' शब्द, परोक्षरीति से 'गुप्त' अदृश्य-निकुंजों के निर्देशार्थ, प्रयुक्त हुआ है- अर्थात् भगवान् ने आधिदैविक-गुप्तनिकुंज पर्यंत प्रवेश किया। किसी भी पदार्थ का आनन्दमय स्वरूप, उसका आधिदैविक स्वरूप है। आनन्दमय स्वरूप की आनन्दरूपता उसकी 'परम-गुप्तता' में ही निहित है-इसीलिये 'नितरां-प्रवेशः' इस प्रकार की सांकेतिक पदावलि द्वारा ही यहाँ उन आनन्दरूप निकुंजों का निर्देश किया गया है, जहाँ, भगवान् ने प्रवेश किया–इस 'रस' को गुप्त रखने के लिये ही, यहाँ, श्रीशुक ने, 'प्रवेश-स्थल का' तथा प्रवेश के 'प्रयोजन' का निर्देश गुप्तरीति से 'न्यविशत्' के 'नि' उपसर्ग द्वारा किया है-श्रीसुबोधिनी की उपर्युक्त पंक्ति का यही स्वारस्य है। जिस निकुंज प्रदेश में, प्रभु ने प्रवेश किया, वह आनन्दमय, साक्षात् भगवत्-स्वरूपात्मक है। शुद्ध आनन्दात्मक ही

निर्गुण कहलाता है अतः, वृंदावन में आनंदांश से रहित काल का, कर्म का, स्वभाव, गुण आदि उपाधिभूत द्रव्यों का, एकांत अभाव है। लीला-निकुंज यह वृंदावन, काल से अपरिच्छिन्न, कर्म से अलिप्त, स्वभाव से अपरिवर्तनीय तथा गुण-त्रय से अतीत है। इस निकुंज प्रदेश की धूलि के प्रत्येक कण में, जल के प्रत्येक बिंदु में, वृक्ष, लता, गुल्म आदि के प्रत्येक पत्ते में, पवन के प्रत्येक प्रकंपन में, आकाश के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवकाश में, अणु-अणु में सर्वत्र आनन्द-तत्त्व आविर्भूत है। यहाँ काल-कृत क्षय अथवा वृद्धि नहीं, कर्मकृत बंधन नहीं, स्वभावकृत परिवर्तन नहीं, प्रत्येक चेष्टा में, प्रत्येक स्पंदन में, प्रत्येक गति में, सदानन्द रूप कृष्णतत्व ओत-प्रोत है। इसी निकुंज-प्रदेश में, अपनी शक्ति-स्वरूपा व्रजदेवियों के साथ निरंतर क्रीडापरायण अच्युत श्रीकृष्ण के प्रवेश का कथन किया गया है। भगवान् की इस दिव्य, अकल्प्य, अचिंत्य लीला के साक्षी उनके अंतरंग देव-रूप गोप-वयस्य हैं- 'जालरंध्रे सखी जाणे चित्रलखी, वांछिता नाथनी छवि निहारे' गुर्जर कवि-गोपालदास। ये गोप वयस्य यहाँ अपने-अपने कार्य को नेत्र तथा भ्रुकुटि के विलास द्वारा ही करते हैं-'यत्रागत्य देवा मिलिताः स्वस्वकृतं कार्यं कुर्वन्ति-नयनभ्रुवादिभिः---लेख। क्योंकि परमानन्दमयता में वाणी का व्यापार-स्थगित हो जाता है- 'भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः'।

**प्रथम श्लोक संपूर्ण**

—:0:—

## द्वितीय श्लोक विवरण :-

इस प्रकार, प्रथम-श्लोक से, भगवान् के वृंदावन-प्रवेश का वर्णन करके, द्वितीय श्लोक से, वनदेवताओं के उद्बोधन का निरूपण करते हैं-

**कुसुमित-वनराजि शुष्मि-भृंग- द्विज-कुल-जुष्टसरः सरिन्महीध्रम्।**
**मधुपतिरवगाह्य चारयन्गाः सहपशुपालबलश्चुकूजवेणुम् ।।२।।**

**सरिता-सर-गिरिराज जहाँ कुसुमित-वनछाये,**
**उन्मद-भृंग विहंग-जाति निशिदिन मँडराये।**
**ग्वाल-बाल, बल सहित दूरवनमें अवगावहिं,**
**चारहिं मधुपति धेनु, मुरलिका मधुर बजावहिं ।।२।।**

**अनुवादः**- पुष्पित वन-पंक्तियों की सुगंध से उन्मत्त मधुपों तथा पक्षियों से सुशोभित सरोवर, सरिता तथा पर्वतों से पूर्ण वृंदावन में सुदूर प्रवेश करके, ग्वाल-बाल एवं बलराम सहित गायों को चराते हुये मधुपति श्रीकृष्ण ने वेणु-कूजन किया ।। २ ।।

**व्याख्या-मधुपतिः**-गायों को चराते हुये मधुपति श्रीकृष्ण ने वेणुकूजन किया। इस श्लोक में मधुपति की जगह 'यदुपति पाठ भी मिलता है, किंतु, प्रस्तुत प्रसंग में

'मधुपति' का प्रयोग ही सार्थक है। वसंत को, मधुपति कहते हैं। मधु का पर्याय मधुर-रस भी है। रस से परिपूर्ण शृंगार की आत्मा होने के कारण, भगवान्, वसंत के अधिपति अतएव 'मधुपति' कहलाते हैं। तदुपरांत, 'मधुपति' पद में एक और भी तात्पर्य है। भगवान् ने, संप्रति जो वेणु कूजन किया, वह वृंदावन की सरिता–सरोवर तथा पर्वत के निकट रहनेवाली त्रिविध-वनदेवियों के शृंगाररस को उद्बुद्ध करने के लिये किया है। अब, यदि नायक में ही सरसता का अभाव हो, तो उद्बुद्ध की गयी नायिका अपनी रति को, उसमें– कैसे सिद्ध कर सकेगी ? इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण के लिये यहां यदुपति की जगह मधुपति शब्द का सूचित प्रयोग किया गया है, नायकस्य सरसत्वाऽभावे रतिर्न संपद्यते, अतो भगवतो मधुपतित्वं निरूपितम्–लेख। भगवान् साक्षात् मधुपति अर्थात् शृंगाररस के अधिपति होने के कारण, रतिभाव के सहज उद्‌बोधक हैं। कुसुमित तरुओं के निकुंज, उन्मत्त मधुप-समाज, कलगान करते हुये द्विज-कुल, प्रसन्न सरितायें, निर्मल सरोवर, हरित-परिधान से समलंकृत पर्वत पंक्तियाँ– इस प्रकार की आलंबन– उद्दीपन-विभावों की सामग्री से सुसंपन्न वृंदावन में, दूर दूर तक, सरिता, सरोवर तथा पर्वत-प्रत्येक के अंतराल में विचरण करते हुये, मधुपति श्रीकृष्ण ने, तत्रस्थ निवासकरनेवाली त्रिविध वन देवियों के 'केवल' शृंगार-रस के उद्‌बोधनार्थ वेणु-कूजन किया–"उद्‌बुद्धाः देवताः सामग्री-अभावात् न रता भवन्ति।" "केवलं शृंगारार्थमेव कूजनं कृतवान्"। यहां, मधुपति भगवान् के वेणु कूजन से प्रेमात्मक शृंगार-रस का जो–उद्‌बोधन हुआ, वह सहज था–यह कूजन तो, तत्रस्थ-वनदेवियों को अपने अपने शृंगारादि प्रसाधनों से समलंकृत होकर, लीला में सम्मिलित होने का गुप्त आमंत्रण था।

**चुकूज-वेणुम्ः–** अर्थात् इस वेणु-कूजन से जिस रति का अर्थात् शृंगार-रस का उद्दीपन हुआ-वह विप्रयोगात्मक था, संयोगात्मक नहीं था। विप्रयोगात्मक अर्थात् धर्म-रहित शृंगार 'केवल' शृंगार कहलाता है। सर्व-सामग्री से संपन्न संयोगात्मक शृंगार को धर्म-सहित शृंगार कहते हैं। धर्म-सहित शृंगार में, प्रभु के सर्वगुण लीला-विशिष्ट स्वरूप की साक्षात् अनुभूति होती है। भगवत्-कृत प्रस्तुत वेणु-कूजन, धर्म-सहित सर्वगुण-लीला-विशिष्ट स्वरूप का अनुभव करानेवाला नहीं है। धर्म-सहित सर्व-गुण-लीला-विशिष्ट स्वरूप का अनुभव करानेवाला तो सुधा-संवलित वेणुनाद ही है-जिसका निरूपण वर्हापीडं तथा अक्षण्वतां-श्लोकों से किया जायेगा। कूजन तथा नाद में बस, इतना ही तारतम्य है।

**सहपशुपालबलः–** ग्वाल मंडली तथा बलराम, भगवान् के साथ ही आये हैं। भगवान् के साथ इस उभय-दल की निरंतर उपस्थिति अत्यंत सूचक है। श्रुतियों ने परब्रह्म को सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिवान् कहा है–'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः'। क्रिया एवं ज्ञान ये दोनों भगवत् शक्तियां है। क्रिया-शक्ति से युक्त भगवान्, यज्ञ-पुरुष कहलाते

हैं, ज्ञान-शक्ति समन्वित यही भगवान् ब्रह्म हैं। क्रिया शक्ति एवं ज्ञान शक्ति-इस उभय-शक्ति से संपन्न परब्रह्म-भागवत् के श्रीकृष्ण हैं। यहाँ गोप-वर्ग, भगवान् की क्रियाशक्ति तथा बलराम, ज्ञानशक्ति है। यह द्विविध-शक्तियाँ सर्वदा-श्रीकृष्ण के साथ रहती हैं। अपने अंतरंग तथा बहिरंग-कार्य संपादन के लिये, भगवान् ने गोप सखाओं में क्रिया-शक्ति स्थापित की है-अर्थात् अंतरंगलीला आदि तथा बहिरंग-गोचरणादि कार्य का संपादन, गोप रूप क्रियाशक्ति द्वारा किया जाता है। बलराम, श्रीकृष्ण की ज्ञानशक्ति है– भगवद्-लीला में विक्षेप करनेवाले छद्म-वेषधारी दैत्यों के यथार्थ स्वरूप को पहिचान कर, उनका विनाश करने में इस शक्ति का उपयोग होता है। प्रतिबंध अर्थात् विघ्न की निवृत्ति केवल बल द्वारा नहीं, किन्तु ज्ञान शक्ति से संपन्न बल द्वारा ही संभवित है। इसलिये यद्यपि, बलराम में क्रियाशक्ति भी स्थापित की गयी है, तथापि, गोपवयस्यों की तरह, इनको भगवान् की अंतरंग लीलाओं में अधिकार नही होने के कारण, उनमें सविशेषतया ज्ञान ही प्रतिष्ठित हुआ है। गोपों द्वारा गोचारण तथा बलराम द्वारा रक्षण–'गोपैर्गोचारणं-बलभद्रेणरक्षणम्' अर्थात् इस द्विविध कार्य में द्विविध शक्तियां सर्वदा अपेक्षित हैं–'क्रियाज्ञानसाहित्यं सर्वदा-पेक्षितम्'। श्रीमद्-आचार्य चरण का यह तात्पर्य है कि समग्र-विश्व, परब्रह्म का क्रीडा भांड है। क्रीडार्थ ही परब्रह्म का आगमन हुआ है। क्रीड़ा के लिये, क्रिया तथा ज्ञान का साहचर्य सर्वदा अपेक्षित है– इसी अभिप्राय से श्रुति ने परब्रह्म को सर्वज्ञ तथा सर्व-शक्तिवान् कहा है। कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व से युक्त सर्वशक्तिसंपन्न प्रभु ही स्वभक्तों के प्रतिबंध की निवृत्ति-पूर्वक, उनको स्वरूपानंद का अनुभव कराता है। ज्ञानमार्गीयों के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व से रहित निर्धर्मक परब्रह्म नहीं। इस तरह, गोचारणरूप क्रिया संपादन के साथ साथ, अंतरायों की संपूर्ण निवृत्ति के उपरांत ही, भगवान् स्वकीय भक्तवर्ग से– निर्भयतापूर्वक स्वच्छंद रमण करते हैं।

वास्तव में, अपने भक्तों के साथ स्वच्छंद-रमण करने के लिये ही, भगवान् का वृंदावन में आगमन हुआ है। वृंदावन के सरोवर, सरिता तथा गिरि प्रदेश के भीतर विविध संकेत स्थलों में, यथाभिलषित-स्वेच्छित प्रकार से लीला-विलास ही प्रभु को अभिप्रेत है। यदि लोक में यह बात प्रकट हो जाये कि श्रीकृष्ण, वृंदावन में स्वच्छंद-गुप्त लीलार्थ ही गमन करते हैं, तो संपूर्ण लीलारस, रसाभास मात्र हो जाता है- क्योंकि, रस को गुप्त रखने में ही, उसका रसत्व है-इस तरह यथाभिलषित गोप्य लीलाओं का लोक-विदित होना 'रस-विरुद्ध' है, और इन लीलाओं को यदि लोक से छिपाया जाये, तो फिर, जिस प्रयोजन से श्रीकृष्ण वृंदावन जाया करते हैं, और, चिरकाल पर्यंत वहाँ ही स्थिति करते हैं, उस प्रयोजन का निर्देश करना चाहिये, क्योंकि, बिना किसी लोक-सिद्ध

प्रयोजन के कहीं जाना और दिन भर वहीं बिताना 'लोक-विरुद्ध' है। अतः लीलारस तो गुप्त ही रहे और साथ हीं वृंदावन गमन तथा वहां चिरकालीन स्थिति लोक-विरुद्ध लोकचर्चा का विषय भी न बने, इसीलिये, भगवान् ने गोचारण रूप धर्म को निमित्त बनाया।

**धर्मं कुर्वन्** :–गोचारण, गोपों का साक्षात् तथा परंपरागत कुल-धर्म है और यही कुल-धर्म इनके चतुर्वर्ग-धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्ष का साधक भी है। इसी लोक-सिद्ध गोचारण रूप धर्म के संपादनार्थ भगवान्, बलराम सहित, गायों और गोपों को अपने संग लेकर, वृंदावन जाते हैं–यही लोक-प्रतीति रही। गोचारण ही गोपों का धर्म है–इसी धर्माचरण-रूप निमित्त के कथन द्वारा, रस-विरोध का तथा लोक-विरोध का दोनों का समाधान हो जाता है–अर्थात्, गोचरण रूप धर्माचरण करते हुये-भगवान् ने वेणु-कूजन किया- 'धर्मं कुर्वन्......वेणुनादं कृतवान् -श्री सुबो.-इस वाक्य में, 'गोचारण रुपधर्म करते हुये' -इस कथन द्वारा 'लोक-विरोध' का समाधान किया गया है, अर्थात्, भगवान्, अपने गोचरण रूप कुल-धर्म अथवा कर्तव्य संपादन के निमित्त ही वृंदावन जाते हैं-किसी अन्य कार्य के लिये नहीं-इस तरह लोक-विरोध नहीं रहता, और, 'वेणु-नाद किया'-इस रहस्य को तो केवल अंतरंग भक्त वर्ग ही जान सके, इस वेणुनाद के रहस्य से अनभिज्ञ लोक को तो यह गम्य ही कहाँ ? 'वेणु-नाद तो स्वच्छंद-लीला में सम्मिलित होने का भक्तों को गुप्त-निमंत्रण है,' तदनुसार, लीला-रस भी गोप्य रहा-इस तरह, रस-विरोध का भी समाधान हो जाता है-रस विरोध भी नहीं रहता।

"श्री सुबोधिनी ने 'कुसुमितवनराजि' इस पद का अवग्रह इस तरह किया है–कुसुमिता ये वनराजयः ताभिः: इसमें 'वनराजि' के लिये पुंल्लिगवाची 'ये' का प्रयोग करके 'ताभिः' इस स्त्रीलिंग के निर्देश द्वारा यह ध्वनि निकलती है कि वनस्थित वृक्ष आदि स्त्रीभाव-वान् है ! इसके द्वारा 'इनकी चिद्-रूपता भी सूचित की गई है"–कुसुमिता ये वनराजयस्ताभिरिति। इह 'ये वनराजय' इति पुंल्लिगमुक्त्वा 'ताभि'-रिति स्त्रीलिंग–निर्देशात् वनस्थितवृक्षादीनां स्त्रीभावत्त्वं ध्वनितम्। तेन चिद्-रूपतोक्ता'–योजना।

**द्वितीय श्लोक संपूर्ण**

—:0:—

## तृतीय श्लोक विवरण :–

इस तरह प्रथम श्लोकद्वारा, भगवान् के वृंदावन में प्रवेश का तथा द्वितीय श्लोक से भगवत्कृत वेणुकूजन द्वारा वनदेवियों के उद्‌बोधन का निरूपण करके अब, तृतीय

श्लोक से गोपीजन-कृत भगवद्-गुण-गान के वर्णन का प्रारंभ किया जाता है। यद्यपि, भगवान् ने, द्वितीय श्लोकोक्त वेणु-कूजन, वनदेवियों के साथ रमण करने की इच्छा से, उनके शृंगारोद्बोधन के लिये ही मुख्यतया किया था, तथापि, प्रसंगवशात् जब गोपांगनाओं ने भी इस कूजन को सुना, तब, वेणु-कूजन के 'कामिनी कामोद्बोधक-स्वभाव' के कारण उन में भी प्रेम-भाव उद्बुद्ध हुआ। यहाँ, शृंगार, काम, अभिलाषा, रति, प्रेम-एक ही मनोवृत्ति के भिन्न भिन्न निर्वचन हैं। 'शृंगारो, रतिः प्रेमेति यावत्-तद् उद्बोधनार्थं इत्यर्थः'—लेख। उद्बुद्ध प्रेम ही आसक्ति है, तदनुसार, गोपांगनायें आसक्ति-मय हो गयीं। शब्द, अर्थात् कूजन कर्णेन्द्रिय का विषय है, तथा भाव का उद्बोधक है। शब्दात्मक यह कूजन कर्णद्वारा हृदय में प्रविष्ट हो-कर अपने इच्छित भाव का, श्रोता में, तभी उद्बोधन करता है, जब वह उसी भाव को उत्पन्न करने वाले तदनुरूप प्रकार-विशेष से किया गया हो—'उद्बोधनं नाम उद्बोधकस्य अभीष्टकार्यपरतया स्थापनम्'—योजना। वेणु-कूजन तथा गुण-गान दोनों शब्दात्मक है। अतः गोपीजन तथा भगवान्, इन उभय में, रतिभाव का उद्बोधक शब्द ही है—'उभयत्र शब्दस्यैबोद्बोधकम्'यो.। जिस तरह वेणु-कूजन द्वारा भगवान् ने गोपीजन में कामभाव को उद्बुद्ध किया, उसी तरह गोपांगनाओं ने भी, अपने हृदय में विराजमान भगवान् के वहिः उद्बोधनार्थ-प्राकटचार्थ-स्वसमान शील तथा व्यसनवाली सखी-जनों के समक्ष आसक्तिपूर्वक, भगवद्गुण-गान का प्रारंभ किया। इसी प्रसंग का निरूपण, निम्न श्लोक में, श्री शुक ने किया है:—

**तद् व्रजस्त्रिय-आश्रुत्य, वेणु-गीतं स्मरोदयम्**
**काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य, स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयत् ॥ ३ ॥**

**व्रज वनिता जन सुनत ही, वेणु-गीत रति-सार।**
**निजसखि सन वरणन करत प्रभु-गुण मति अनुसार ॥ ३ ॥**

**अनुवाद**:—व्रज-स्त्रियों ने (पूर्वश्लोकोक्त) वेणुकूजन का, तदनन्तर कामोद्बोधक वेणु गीत का यथाक्रम चारों ओर से श्रवण करके, उनमें से कितनी ही गोपियों ने अपनी सखियों के समक्ष, कृष्ण की अनुपस्थिति में, उनके गुणों का वर्णन आरंभ किया ॥ ३ ॥

**व्याख्या**:—भगवान् ने वृंदावन में प्रवेश-पूर्वक द्वितीय-श्लोकोक्त वेणुकूजन किया 'चुकूज-वेणुम्'। यह कूजन अस्पष्ट था। अस्पष्ट-नाद को ही कूजन कहते हैं। तदनन्तर, प्रस्तुत-तृतीय श्लोक से भगवत्कृत 'वेणु गीत' का निरूपण किया गया है।

**वेणु गीतं स्मरोदयम्**:—कूजन की अपेक्षा गीत अधिक-स्पष्टार्थक है। भगवान् के लीला-विशिष्ट-रसात्मक स्वरूप की स्पष्ट अभिव्यक्ति करनेवाला नाद ही यहाँ

'गीत' कहा गया है। वस्तुतः, गीत, स्पष्टार्थक तथा रस का निरूपक होता है-'गीतं हि स्पष्टार्थकं रसनिरूपकं च भवति'। गोपांगनाओं ने वेणु-कूजन तथा वेणु-गीत इन दोनों का श्रवण किया। उपर्युक्त श्लोक में 'तद्' सर्वनाम, पूर्व-श्लोकोक्त वेणु-कूजन (चुकूज-वेणुं) के लिये प्रयुक्त हुआ है-'तद् आश्रुत्य'-अर्थात् प्रथम, वेणु-कूजन का श्रवण किया, तदनन्तर, 'वेणु-गीतं स्मरोदयम्'-स्मर का उदय करने वाले वेणु-गीत को सुना। तदनुसार, यहाँ आश्रुत्य' इस क्रिया पद की आवृत्ति 'वेणु-गीत' के लिये भी कर लेनी चाहिये। यहाँ, यह 'वेणु-गीत' आधिदैविक है, अतः, इसका श्रवण वही कर सका, जिसमें, भगवान् ने सुदूर श्रवण की तथा सुदूर-दर्शन करने की शक्ति स्थापित की है। भगवान् द्वारा, स्वामिनी रूप से अंगीकृत जीव को ही इस अलौकिक-सामर्थ्य का दान किया जाता है-अर्थात्, भगवद्-अंगीकृत स्वामिनी भावापन्न व्रजभक्तों ने ही इस नाद को सुना, अन्य ने नहीं।

**आसमन्तात् श्रुत्वा आधिदैविकत्वात्:**-भगवत्-कृत इस 'स्मरोदय वेणु-गीत' को केवल व्रजस्थिता गोपीजन ने ही सुना-अन्य ने नहीं - इस कथन के प्रतिपादन में यह कहा जा सकता है कि भगवान् की प्रत्येक कृति में प्रयोजन होता है; भगवान् स-प्रयोजन ही कार्य करते हैं, जीव की तरह व्यर्थ-निष्प्रयोजन कार्य कभी नहीं करते। भगवान् को, जिन व्रजभक्तों के साथ रमण करने की इच्छा थी, उनमें ही भाव को उद्बुद्ध करने के लिये, आपने यह वेणु-नाद किया और, उनको ही इसका श्रवण कराया गया, अन्य को नहीं। जिनके साथ, भगवान् को, रमण की अभिलाषा ही नहीं, उनको वेणु का श्रवण कराने में एवं उनमें रतिभाव जगाने से, भगवान् का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता-क्योंकि, भगवान् ने तो इस प्रयोजन से वेणु-नाद किया है कि जिन भक्तों के साथ उनको रमण करने की इच्छा है वही इसे सुने और तदनुसार, उनमें ही भावोद्बोधन भी हो। भगवान् सर्वज्ञ हैं, जीव मात्र के मानस को जानते हैं, अतः उनमें जीव-तुल्य व्यर्थ तथा प्रयोजन रहित कृति की संभावना ही कहाँ? इसी सिद्धांतानुसार, यह कथन भी असंगत हो जाता है कि सुना तो सभी ने, किंतु भाव का उद्बोधन उनमें ही हुआ जिनमें रतिरूप स्थायी-भाव स्थिर हो गया है। इस नाद में, भगवद्-अधर-रस-रूप अमृत प्रतिष्ठित है, कर्णेन्द्रिय द्वारा हृदय में प्रविष्ट होते ही यह जीवमात्र को भगवदीयत्व से संपन्न कर देता है। भगवदीय-करण इस नाद का लक्षण है तथा भावोद्दीपन करना इसका स्वभाव है। यह अपने श्रोता-मात्र में भाव को उद्बुद्ध करता है, तथा उसे भगवदीय बना देता है। यदि वेणु-नाद को सभी ने सुना तो सभी श्रोताओं में भावोद्दीपन होना चाहिए, और सभी भगवदीयत्व से संपन्न भी हो जाने चाहिए। किंतु; श्रोताओं में से यदि, अमुक

श्रोताओं में ही भावोद्दीपन होता हो, तथा उनमें ही भगवदीयत्व का आविर्भाव होता हो तो यह वेणु-नाद के भावोद्दीपन स्वभाव से तथा उसके भगवदीय करण लक्षण से विरुद्ध है। तदनुसार यह कथन कि नाद का श्रवण तो सभी ने किया किंतु, भाव का उद्बोधन उनमें ही हुआ जिनमें रत्यात्मक स्थायी भाव है और, वही भगवदीयत्व से संपन्न बने, नाद के स्वभाव की तथा उसके लक्षण की उपेक्षा के बराबर है। अतः, भगवान् ने जिन भक्तों को इस नाद का श्रवण कराया उन्होंने ही इसका श्रवण किया अन्य ने नहीं, और उनमें ही भाव का उद्दीपन हुआ तथा वही भगवदीयत्व से समन्वित हुये, यही कथन युक्तियुक्त है।

तात्पर्य यह है कि जिन भक्तों में, भगवान् ने कृपापूर्वक स्वामिनी-भाव स्थापित किया, उन भक्तों के साथ रमण करने की इच्छा से, वेणु-नाद का श्रवण कराते हुये, भावोद्दीपन किया, उनको ही वेणु-नाद-निष्ठ स्वअधर सुधा का पान कराते हुये, भगवदीयत्व से संपन्न किया। भगवान् ने स्वेच्छा से स्वामिनी-भावापन्न स्वांगीकृत इन व्रज-भक्तों में ही सुदूर-श्रवण करने की एवं लीला-विशिष्ट-स्वरूप के अनुभव की सिद्धि स्थापित की। उनमें ही रमणार्थ-भावोद्दीपन हुआ। नाद-आधिदैविक है। अतः उसके अनुभव का अन्य किसी को भी अधिकार नहीं। अनधिकृत जीवों ने, अत्यंत सामीप्य होते हुये भी इस कूजन अथवा नाद को न सुना न अनुभव किया।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह लीला-रस परम-निगूढ-गोप्य ही है–'निहितं गुहायाम् परमे व्योम्नि'। जिसने इसे जाना-यो वेद-वह भगवदीय है, वही रसात्मक-परब्रह्म के सर्व-कामों का उपभोग करता है–'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्, सह ब्राह्मणा-विपश्चितेति'। यहां, अपने अंतस्तल में इसी रस को छिपाये हुये–श्रीसुबोधिनी, अपने स्वरूप को अधिक प्रकट न करती हुयी; 'परमरमणीय' बनी हुयी है।!! (अर्थात् आचार्य-चरण की वाणी यहाँ, अत्यंत सूत्रात्मक एवं रसमय है।)

(भगवद्-लीला सृष्टि में, भगवान् के एकांत सुख-संपादनार्थ, गोपांगनाओं द्वारा की गयी सेवा का स्वरूप अलौकिक होने से मन से भी अगम्य है। केवल भौतिक कल्पना के आधार पर, अथवा लौकिक विषय-सुलभ अपनी-अपनी अनुभूतियों के स्तर पर, इस लीला की समीक्षा की जाती है, अन्य विकल्प ही नहीं। अतः, इस महारस की मात्रा-मात्र होने के कारण; लौकिक-रस की भूमिका पर ही इस 'महारस' को समझा तथा समझाया जाता है। तदनुसार, इस परम-रस की निष्पत्ति में भी, आलंबन, उद्दीपन, विभावादि सामग्री की लौकिकवत् अवतारणा की गयी है–क्रिया सर्वैव सैवात्र– भेद इतना ही है कि यह समस्त साधन, सामग्री, क्रिया, प्रकार आदि

यहाँ अपने आधिदैविक स्वरूप में हैं, आधि-भौतिक स्वरूप में नहीं, निर्वचन भौतिक है, स्वरूप आधिदैविक, कालादि से अपरिच्छिन्न, गुणातीत, एवं अलौकिक हैं—बस, इस परिप्रेक्ष्य में, प्रस्तुत लीलाओं का अध्ययन करना चाहिए।)

सर्वे देवा उत्थिता एवं स्मरोऽपि:—भगवान् द्वारा किये गये इस उद्दीपन-विभावात्मक वेणु-नाद को सुनकर, लीलोपयोगी—सभी देवता-रूप गोप-गोपीजन, भगवत्-लीला में अपनी अपनी विशिष्ट सेवाओं के समर्पणार्थ, समय को उपस्थित हुआ जानकर, सावधान-सन्नद्ध हो गये। तदनुसार, भगवत् लीलारस में उपकारक निकुंज-रचना, पुष्पादि शैय्याओं की सुरम्य-सजावट, ऋतु-सानुकूल पुष्पाभरणों के सुंदर गुंफ़न-सुमधुर संगीत-आल्हादक-पेय-व्यंजन आदि का सुरुचि-पूर्ण निर्माण-संपादन आदि, अपनी अपनी सेवा के लिये समस्त गोप-गोपांगनायें स्नेह-भरित हृदय-पूर्वक उपस्थित हो गयीं।

**एवं स्मरोऽपि**:—इसी तरह 'स्मर' भी अपनी समयोचित सेवा के लिये कटिबद्ध हो गया। यहां यह 'स्मर' भगवद्-लीला में उपयोगी अतएव आधिदैविक है-यह 'स्मर' लौकिक काम नहीं है। स्मर की भगवत्-लीलाओं में अनेक-विध उपयोगिता है; व्रज-भक्तों के मान-भाव का विमोचन करनेमें, उनमें उत्कंठा, औत्सुक्य, अधैर्य, आकुलता, अभिलाषा आदि संवेदनाओं का प्रतिक्षण संचार करते हुये,—रसानुभूति के लिये, उनको उत्तरोत्तर उत्कट बनाने में, 'स्मर' निरंतर कटिबद्ध रहता है-'व्रजभक्तानां मानोपनोदनादिकार्यार्थं, तन्मनसामौत्कंठ्यादिसंपादनेन, स्वसेवासमये सावधानोऽभूदित्यर्थः —यो.।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि भगवत्-कृत वेणुनाद से, भगवद्-अनुग्रहीत व्रज-भक्तों में, रति-भाव का उद्दीपन हुआ, तदनुसार, भगवत् लीलाओं में अपनी अपनी यथाधिकार सेवायें अर्पण करने के लिये, सभी गोप-गोपांगनायें-सावधान हो गये। स्मरोदय भी हुआ, यहाँ, 'उदय' का अर्थ है 'उद्बोध'-अर्थात् सेवार्थ सावधानता। स्मर भी इन लीलाओं में अपनी अभीष्ट-सेवा-संपादन के लिये समुपस्थित-हो गया। नाद, विभावात्मक है, तदनुसार, स्मर का उदय-उद्दीपन-होना ही चाहिये-उद्दीपनविभावत्वात् नादस्य—सुबो.।

तन्मध्ये काश्चन स्मरेण मूर्च्छिता एव :— वेणु-गीत का श्रवण करके, स्मरोदय से बहुत-सी गोपांगनायें मूर्च्छित हो गयीं। किंतु, जिन गोपांगनाओं को नाद-श्रवणानन्तर, हृदय में साक्षात् आविर्भूत भगवान् के साथ आन्तर-रमण की रसात्मक अनुभूति हुयी, उनको, भगवद्-कृपा से मूर्च्छा नहीं आयी। जो मूर्च्छित थीं, वे अपनी मूर्च्छा-सुलभ अज्ञानावस्था में ही रहीं। मूर्च्छा स्थायी-भाव की पोषक अतएव संचारी (व्यभिचारी)-

भाव होने के कारण रसान्त:पाति है, अत: स्मरवेग-सुलभ यह मूर्च्छा, मूर्च्छा के अन्य प्रकारों से भिन्न अतएव रसमय स्थिति है। भगवत्-कृपा से, जिनको मूर्च्छा नहीं आयी एवं भगवत्-सह आन्तर रमण प्राप्त हुआ, उन्होंने, भगवत् सह आन्तर-रमण के अनन्तर–'भगवत्करणानन्तरम्'–श्रीकृष्ण के परोक्षमें, अनुपस्थिति में, स्वसखियों के समक्ष, भगवत्-गुणानुवर्णन प्रारंभ किया।

## तृतीय श्लोक संपूर्ण

——:0:——

# चतुर्थ श्लोक विवरण :–

किंतु, वर्णनारंभ करते ही, उनमें भी, भगवद्-लीलाओं की स्मृति से सविशेष पुन: कामोद्बोधन हुआ–अर्थात् वेणु-कूजन तथा वेणु गीत के श्रवण से, उनमें कामोद्बोधन तो पहिले ही से हो चुका था, किन्तु, भगवद्-गुणानुवर्णन से, आन्तर-रमण-कालीन भगवत्-कृत शृंगार चेष्टाओं का स्मरण होते ही, पूर्वोद्दीप्त काम पुन: सविशेष उद्बुद्ध हो उठा। परिणामत:, इनमें भी पुन: स्मरवेग सुलभ-चित्त-चांचल्य से, वर्णन करने की शक्ति नहीं रही– 'तासामपि पुन: कामोद्बोधे विशेषतो–वर्णनाशक्तिर्जाता'-सुबो.। इसी प्रसंग का निरूपण, प्रस्तुत श्लोक में श्री शुक ने किया है–

**तद्-वर्णयितुमारब्धा: स्मरन्त्य: कृष्णचेष्टितम्।**
**नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप!॥४॥**

**स्मरणभये वरणन करत, जब, प्रभु केलि-प्रसंग।**
**भयीं भ्रमित चित, कहि न सकिं, बाढ्यो वेग अनंग॥४॥**

**अनुवाद :–**हे नृप! व्रजांगनाओं ने, जब, भगवद्-गुणानुवर्णन-प्रारंभ किया, तब, वर्णनारंभ करते ही, उनको श्रीकृष्ण की शृंगार-चेष्टाओं का स्मरण हो आया, तथा तत्सुलभ-स्मर-वेग से, चित्त-चंचल हो जाने के कारण, वे वर्णन करने में असमर्थ हो गयीं।

**व्याख्या :–**गोपांगनाओं ने भगवत्-कृत वेणु-नाद को सुना-यह नाद, भगवान् का लीला-विशिष्ट रसात्मक-स्वरूप ही है। नाद, भगवत्-स्वरूपात्मक कहा गया है। भगवान् से विछुड़ी हुयीं, सुदूर व्रज में एकत्रित गोपांगनाओं को, वेणु-नाद द्वारा ही तो भगवत्-स्वरूपानुभव हुआ-नादे अनुभूयमाने एवानुभूतं भवति-न तु पृथक्-श्रीमत् प्रभु.। वेणु-नाद से पृथक् स्वरूपानुभव अथवा स्वरूपानुभव से पृथक् नाद का अनुभव नहीं हुआ-दोनों की समकालानुभूति हुयी। गोपांगनाओं के कर्ण-प्रदेश से इस स्वरूपात्मक नाद ने हृदय में प्रवेश किया-गोपांगनाओं ने इसी स्वरूपात्मक नाद के साथ आन्तर-

रमण किया। अपनी इसी आन्तरलीलाओं में, गोपांगनाओं ने, भगवत्-स्वरूप का चार प्रकार से अनुभव किया- "आश्लेष, चुंबन आदि के रूप में, कार्य से; भावोद्बोधक रूप में, कारण से-क्योंकि, गोपीजन में रति-भाव का उद्बोधक भगवत्-स्वरूप ही था; स्वरूपानंद की-स्थापना रूप में, फल से तथा अनावृत शुद्ध-विग्रह के रूप में, स्वरूप से"- लेख। इस तरह, गोपांगनाओं को, भगवत्-सह रमणकाल में, जिस भगवत्-स्वरूप का अनुभव हुआ था, उसका वर्णन, जब वे, कार्य से, कारण से, फल से तथा स्वरूप से, करने लगीं, तब उनको, श्रीकृष्ण-कृत रमण-कालीन शृंगार चेष्टाओं का-आश्लेष, चुंवन, कटाक्ष आदि का-स्मरण हो आया- स्मरन्त्य: कृष्णचेष्टितम्। भगवद्-गुणानुवर्णन-प्रसंग में, भगवत्-चेष्टाओं का स्मरण हो आना सहज है। वेणु-कूजन तथा वेणुगीत से, गोपीजन में, स्मरोदय तो पूर्व से ही हो गया था, तदनन्तर, उपर्युक्त संस्मरणों से उनकी स्मृति-'स्मर'-अधिकाधिक उद्दीप्त हो उठी, स्मर-वेग से स्मृति उत्कट हो गयी- 'स्मरण-पदेन व्यापार:, स्मरपदेनतज्जन्या स्मृति: इति भेद:' लेख। उद्दीप्त स्मृति ही यहाँ स्मर है। स्मर वेग से, चित्त-चंचल हो उठा, मन-विक्षिप्त हो गया। ऐसी दशा में, उन्होंने भगवद्-गुणानुवर्णन का ज़ो प्रारंभ किया था, वह वहाँ से ही-स्थगित होगया-गोपीजन, भगवद् गुणवर्णन करने में असमर्थ हो गयीं। स्मर-वेग-सुलभ चित्त की चंचलता ने प्रतिबंध उपस्थित कर दिया, वे वर्णन नहीं कर सकीं, लेकिन, इन गोपांगनाओं को गुणानुवर्णन की शक्ति से संपन्न करने के लिये, जब भगवान्, नाद द्वारा, इनके– देहेन्द्रिय-प्राणान्त:करण जीव में, अपने पंचम-श्लोकोक्त शुद्ध-पुष्टिमार्गीय-रसस्वरूप से पूर्णतया आविर्भूत हुये, तब, इस प्रतिबंध की निवृत्ति हो गयी। यद्यपि, वर्णनारंभ के समय प्रतिबंध हुआ था, तथापि, इस तरह से प्रतिबंध के दूर किये जाने पर, गोपांगनाओं ने चार प्रकार से वर्णन किया ही। अग्रिम जिन चार श्लोकों में, वेणु गीत के चारों प्रकारों का–गोपांगनाओं ने जो निरूपण किया-वे यथाक्रम इस तरह है–

(१) वृंदावनं सखि! भुव:-- इस श्लोकों में वेणु गीत का कार्य से निरूपण है।
(२) अक्षण्वतां फलप्रिदम् – ,, ,, ,, कारण से ,,
(३) गोप्य: किमाचरदयम् – ,, ,, ,, स्वरूप से ,,
(४) गागोपकै रनुवनं नयत:– ,, ,, ,, फल से ,,–योजना

"भगवान्, अपने, पंचमश्लोकोक्त शुद्ध पुष्टिमार्गीय रस स्वरूप से, गोपांगनाओं के हृदय-प्रदेश में आविर्भूत हुये,' श्री योजना कार के इस कथन का समर्थन, इसी पंचम-श्लोकोक्त' वृंदारण्यं-प्राविशत्' इस पद से हो जाता है। क्योंकि यहां 'वृंदारण्यं' पद द्वारा गोपांगनाओं के हृदय-प्रदेश का निर्देश किया गया है। विशेषत:, श्रीलेखकार ने–

श्रीसुबोधिनी–गत–'कार्यत:, कारणत:, फलत: स्वरूपतश्च"–इसी क्रम को यथावत् मानकर अर्थ किया है, श्रीयोजनाकार ने इस पद में–'कार्यत:, कारणत:, स्वरूपत:, फलतश्च'–यह परिवर्तन किया है–उनके कथनानुसार, 'वृंदावनं सखि भुव:' आदि चारों श्लोकों में वेणुगीत का कार्य से, कारण से, स्वरूप से तथा फल से निरूपण किया गया है। उपर्युक्त दोनों विद्वान-व्याख्याकारों के मत में यह इतना भेद है।

प्रस्तुत श्लोक में परीक्षित को 'नृप' शब्द से जो संबोधित किया गया है, उसका विशेष अभिप्राय है। 'नृप' उसे कहते हैं जो धार्मिक, जितेन्द्रिय तथा धीर हो-यहां, 'नृप' इस संबोधन से परीक्षित की, इस रस से, अनभिज्ञता का निर्देश किया गया है–अथवा, स्मर वेग से विक्षिप्त चित के कारण गोपीजन की ऐसी दशा हूई किंतु, 'हे नृप! तुम धर्मिष्ठ, जितेन्द्रिय तथा धैर्यवान् हो, अत:, इस प्रसंग को सुनने के लिये अधिकारी हो। परीक्षित को, धार्मिक तथा जितेन्द्रिय समझकर ही, श्रीशुक ने, प्रभु की इस परम गोप्य लीला का निरूपण किया है–'नृपेति संबोधनं धर्मवत्वेन, जितेन्द्रियत्वाय'–श्रीसुबो.। जितेन्द्रिय ही धार्मिक वृत्ति से संपन्न होते हैं।

## चतुर्थ श्लोक संपूर्ण

——: 0 :——

## पंचमश्लोक विवरण:–

गोपांगनायें, जिस वेणु-गीत अथवा भगवत् स्वरूप का कार्य से, कारण से, फल से, तथा स्वरूप से गुणानुवर्णन करने में असमर्थ हो गयीं, उसी का वर्णन स्वयं श्री शुक, प्रस्तुत पंचमश्लोक 'वर्हापीड़' से करते हैं। स्वयं श्री शुक द्वारा वर्णन के कथन से, गोपीजन की वर्णनार्थ अशक्ति का सूचन किया गया है–'ताभिर्वर्णयितुमशक्यं स्वयं वर्णयति तथात्व-ज्ञापनाय बर्हापीडमिति'. –श्री सुबो.।

**वर्हापीडं नटवरवपु: कर्णयो: कर्णिकारं**
**विभ्रत्वास: कनककपिशं वैजयतींच मालाम्।**
**रंध्रान्वेणोरधर-सुधयापूरयन् गोपवृंदै**
**वृंदारण्यं स्वपदरमणं प्राविशत् गीतकीर्ति: ॥५॥**

मोर पखा, जुगकर्ण कनेरजु-नटवरवपु धरि आये हो।
कनककपिश कटिवस्त्र जानुलगि कीरतिमाल सुहाये हो॥
गोपसखा सह गीतकीर्ति प्रभु, स्वपदरमण वृंदावन में।
किय प्रवेश, पूरत अधरनकी सुधा-वेणु के रंध्रन में॥५॥

**अनुवाद** :—श्री मस्तक पर मयूर पिच्छ के मुकुट को, नट और वर के समान श्री विग्रह को, कर्ण युगल में कनेर के एक ही पुष्प को, अधोवस्त्र रूप में स्वर्ण के वर्ण जैसे पीतांबर को, वक्षस्थल पर वैजयंतीमाला को धारण किये हुये तथा वेणु के रंध्रों को, अपनी अधर सुधा से भरते हुए, गोपवृंदों से गीतकीर्ति श्री कृष्णने, निज: चरणों की रमण-स्थली वृंदारण्य में प्रवेश किया।

**व्याख्या** :—यहां यह शंका होती है कि प्रस्तुत 'वर्हापीड़' श्लोक का अपने पूर्वोत्तर श्लोकों से संबंध ही नहीं। प्रस्तुत श्लोक में, भगवान् के वृंदारण्य में प्रवेश का कथन है—'वृंदारण्यं प्राविशत्' किन्तु यह कथन, इससे पूर्वगामी चतुर्थ श्लोकोक्त 'वर्णन नहीं कर सकीं'—'वर्णयितुं नाशकन्'—इस कथन का न तो कार्य है, और, इससे अग्रगामी षष्ठश्लोकोक्त' 'वर्णन करने लगी'—वर्णयन्तोऽभिरेमिरे' इस कथन का, न कारण ही है। इस तरह पूर्व श्लोकोक्त वर्णन की आशक्ति में, तथा अग्रिम श्लोकोक्त, 'वर्णन की सामर्थ्य में', प्रस्तुत श्लोकोक्त 'वृंदारण्य में प्रवेश किया'—इस कथन की, कोई संगति—अथवा प्रयोजन नहीं। अत:, अपने पूर्वोत्तर श्लोकों से, कार्यकारण-संबंध से रहित प्रस्तुत पंचम श्लोक असंबद्ध-असंगत अथवा निष्प्रयोजन है।

तदुपरांत, श्रीकृष्ण की शृंगार-चेष्टाओं का स्मरण एवं तत्सुलभ स्मरवेग, यदि यही गोपीजन की वर्णन करने में अशक्ति के मूल कारण हैं, तो यही कारण, पंचम श्लोक से अग्रिम प्रसंग में भी वर्तमान ही रहे, तो फिर, षष्ट-श्लोक से, गोपीजन में वर्णन करने की शक्ति सहसा कैसे आ गयी? जिन कारणों से, अर्थात् कृष्ण चेष्टित-स्मरण तथा स्मरण-जनित-स्मर,वेग से, गोपीजन, चतुर्थ श्लोक से ही वर्णन करने में असमर्थ हो गयीं, वही कारण अग्रिम छठे श्लोक में भी रहे। इस तरह, इन ही कारणों के रहते हुए भी, वहीं गोपीजन, फिर, वर्णन करने में कैसे समर्थ हो गयी? प्रस्तुत श्लोक की यह भी एक स्पष्ट असंगति है—तत्र वर्णना-शक्तिर्बीजभूतस्य स्मरवेगस्य तत् हेतुभूतभगवत्स्मरणस्य च अग्रेऽपि सत्वात्, पश्चात् कथं वर्णन शक्ति: ? —श्रीमत्प्रभु.।

इन शंकाओं के समाधन में, श्रीमत् प्रभुचरण का यह वक्तव्य है कि इस अध्याय के प्रथम श्लोक में 'न्यविशत्' प्रवेश किया। इस क्रिया द्वारा, वृंदावन में, भगवान् के प्रवेश मात्र का ही निर्देश किया गया है। प्रभु ने प्रवेश करने के अनन्तर वहाँ क्या कार्य-कर्म किया? इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा गया। वृंदावन में प्रवेश के अनन्तर, भगवान् ने जो कार्य किया, उसीका निरूपण प्रस्तुत पंचम श्लोक में हुआ है। यह श्लोक भगवत्-कृत कर्म का-कार्य-का निर्णायक अथवा परिचायक है।

'कर्म निशचायकत्वेन श्लोक-संगतिः –और, यही इस श्लोक की संगति है। अर्थात्, जिस कार्य के लिये, भगवान् ने वृंदावन में प्रवेश किया, उसीका परिचय प्रस्तुत 'बर्हापीडं' श्लोक में दिया गया है।

**पंचम श्लोक की विशिष्टता** :–पंचम श्लोकोक्त कार्य तथा प्रयोजन के स्वरूप का विवेचन श्रीमत्प्रभु-चरण ने अपनी लाक्षणिक शैली में किया है। भगवान् ने वृंदावन में प्रवेशानन्तर–द्वितीय श्लोकोक्त वेणु-कूजन किया। चुकूजवेणूम्-तथा तृतीय-श्लोकोक्त 'वेणु-गीत' गाया 'वेणु गीतम्'। तदनुसार, व्रजदेवियों ने, प्रथम, वेणु-कूजन का श्रवण किया, तदनन्तर वेणु-गीत का। कूजन में और गीत में–दोनों में भेद है, इसीलिये, तृतीय-श्लोक में जो 'आश्रुत्य'-'सुनकर' किया पद है, उसकी आवृत्ति 'वेणु-गीत' में भी कर लेनी चाहिये। तृतीय श्लोकोक्त 'तद्-आश्रुत्य' पद में, 'तद्' शब्द द्वितीय श्लोक के 'वेणु-कूजनं' का निर्देश करता है–अर्थात् गोपीजन ने प्रथम, वेणुकूजन का श्रवण किया–'तद्-आश्रुत्य', तदनन्तर, 'वेणु-गीत' का श्रवण किया', 'वेणु गीतं आश्रुत्य'। यदि कूजन और गीत एकार्थक होते तो एक ही क्रिया-पद उपयुक्त था, किन्तु, कूजन और गीत में भेद के कारण, 'आश्रुत्य' क्रिया-पद की आवृत्ति सयुक्तिक है। भगवान् ने प्रथम कूजन किया तदनन्तर गान। भगवान् ने अपने भिन्न-भिन्न प्रयोजन के लिये ही, गोपांगनाओं को कूजन और गीत का श्रवण कराया। भगवान् ने प्रथम जो कूजन किया, वह, गोपीजन में, केवल-प्रासंगिक रूप से ही, भावोद्बोधन करने के लिये, किया था–कूजन के स्वभाव मात्र से ही, उनमें सहज भावोद्बोधन हुआ, किन्तु, तदनन्तर, किये गये वेणु-गीत की प्रतिक्रिया से उनमें जो स्मरोदय हुआ, उसमें विशेषता थी, यह स्मरोदय विशेष उद्देश को लेकर ही किया गया था। कूजन, अस्पष्ट नाद है; गीत, स्पष्टार्थक तथा रस-निरूपक है। अतः इस गीत को सुनकर, गोपीजन ने, भगवान् के लीला-विशिष्ट स्वरूप का हृदय में शाब्द-अनुभव किया। भगवान् का यह लीला-विशिष्ट स्वरूप उनके हृदय में किंचित् काल के लिये आविर्भूत होकर, तिरोहित हो गया था। अतः इस तरह से लीलाविशिष्ट-स्वरूपानुभव की प्राप्ति के अनन्तर, गोपीजन को प्रियतम की आन्तर-रमण-कालीन-शृंगार चेष्टाओं का पुनः पुनः स्मरण होने लगा। प्रत्यक्ष अनु-भव के अभाव में पूर्व अनुभव का स्मरण ही तो होगा। अर्थात्, गीत-श्रवण काल में, दो घटनायें हुयी, एक तो लीला-विशिष्ट स्वरूप का हृदय में अनुभव, और इस लीला-विशिष्ट स्वरूप के तिरोधान के अनन्तर उसकी शृंगार-चेष्टाओं का स्मरण– 'किंचित्कालमाविर्भूय तिरोहितोऽतः स्मरणम्'–ले. 'तदातस्याननुभवात्'–श्रीमत्-प्रभुः। इस तरह, लीलाविशिष्ट-स्वरूपानुभव के अनन्तर, उसके अभाव में, इसी शृंगारात्मक-

स्वरूप की सर्वांगीण-अनुभूति करने के लिये गोपीजन विह्वल हो उठी। इस स्वरूप के बिना उनसे रहा नहीं गया—अतः, इस प्रकार की भावापन्न दशा में गोपीजन, यदि स्वकीय प्रिय प्रभु का गुणानुवर्णन स्वसखियों से करने लगी, वह स्वाभाविक ही था। जिस तरह प्रलाप, उन्माद का धर्म है, आसक्ति, गुणानुवर्णन की जननी है' ततस्तद्विना-स्थातुमशक्तास्तद्भावस्वभावादेव तदेव—स्व सखीभ्योऽन्वर्णयत् इत्युक्तम्' श्रीमत्प्रभु. किंतु इस प्रकार का गुणानुवर्णन तभी संभव है, जब, गुण-लीला विशिष्ट स्वरूप का सर्वांशतया-संपूर्ण रूप से अनुभव हो जाये-अर्थात् जब तक भगवान् के सर्व-गुण-लीला विशिष्ट स्वरूप का सर्वांगीण अनुभव न हो, तब तक गुणानुवर्णन की शक्ति का आविर्भाव असंभव है। किंतु इस समय तो, भगवान् को, गोपांगनाओं में स्मरोदय करना ही, अभिलषित था अतः उनमें स्मरोदयार्थ ही, प्रियतम ने 'वेणु-गीत' किया, और इसी-लिये, गोपीजन, प्रभु-स्वरूप का सर्वात्मना-सर्वांशतया अनुभव नहीं कर सकी। अर्थात् भगवान् ने प्रस्तुत प्रसंग में, गोपांगनाओं को 'गीत' द्वारा केवल अपनी स्मरण-सिद्धि कराने के लिये, स्मरोद्बोधन ही कराया, अपने स्वरूप का सर्वात्मना अनुभव न करा के केवल अपना शाब्द-अनुभव ही कराया अपना अपरोक्ष-प्रत्यक्ष-अनुभव नहीं कराया। इस तरह गीत द्वारा सर्व-गुण लीला विशिष्ट स्वरूप के सर्वात्मना अनुभव न होने के कारण, गोपांगनायें भगवद् गुणानुवर्णन करने में असमर्थ ही रहीं। गुणानुवर्णन का प्रारंभ करते ही, उनको प्रभु-कृत शृंगार-चेष्टाओं का स्मरण हो आया। शृंगार-चेष्टाओं के स्मरण से स्मरोदय हुआ, स्मरोदय सुलभ चित्त-विक्षेप से, गोपीजन, वर्णन करने में असमर्थ हो गयीं।

पूर्वोक्त वेणु-कूजन तथा वेणु-गीत के श्रवण से तो उनमें गुणानुवर्णन की अशक्ति ही रही, और इसी असामर्थ्य का यहाँ चतुर्थ श्लोक द्वारा-निरूपण किया गया है।

वर्णन की शक्ति तो उनमें तब आयी जब पंचम श्लोकोक्त सुधा-संवलित वेणु-रव द्वारा, द्विविध रसात्मक स्वरूप का उनमें उद्बोधन हुआ। इस संदर्भ में, पंचम श्लोक की यही संगति है, जिसका विवेचन इससे अग्रिम विभाग में किया जायेगा।

वस्तुतः गोपीजन में वर्णन की अशक्ति, प्रभु को अभिप्रेत थी। अभी तक इनको 'स्मरण' सिद्ध नहीं हुआ था। स्मरण-सिद्धि में ही आसक्ति की स्थिरता है। गोपीजन में स्मरण-सिद्धि के लिये ही प्रभुने, उनको, अपने स्वरूप का, हृदय में ही-इन्द्रियादि में नहीं, शाब्द अनुभव ही कराया, अपरोक्ष-प्रत्यक्ष अनुभव नहीं। गीत के श्रवण से, स्वरूप की शाब्द-अनुभूति के अनन्तर, गोपांगनाओं ने जब, वर्णनारंभ किया, तब, प्रभुचेष्टित-लीलाओं का स्मरण हुआ, स्मरण से स्मरोदय, स्मरोदय से वर्णनार्थ-

अशक्ति; पुनः स्मरण, पुनः स्मरोदय, पुनः वर्णन-असामर्थ्य, इस तरह, रहट्टवत् गति से उनको स्मरण सिद्ध कराया गया। वास्तव में, जब तक प्रभुके यावत्-गुण-लीला विशिष्ट स्वरूप का, उसके प्रत्यंग का प्रत्यंग द्वारा, अनुभव न हो, तब तक उसका संपूर्णतया वर्णन ही असंभव है- तदनुसार, सर्वात्मना स्वरूपानुभव के अभाव में, गोपीजन गुणानुवर्णन नहीं कर सकीं।

और, यदि स्मर-वेग से विक्षिप्त-चित्त के कारण, गोपांगनाओं में, इस तरह, भगवद् गुण-वर्णन की अशक्ति ही रही, तो फिर, भगवद् अभिलषित अग्रिम गोपीजन सह संयोग-लीला कैसे संपन्न की जा सकेगी? जब तक, इनके मुखारविंदों को, भगवद् अधर-गत सुधाभोग की योग्यता से संपन्न न कर दिया जाये, तब तक, इनके साथ भगवद् रमण की संभावना ही कैसी? और, इनके मुखारविंद, सुधा-संसिक्त तभी बन सकते हैं, जब इनके हृदय में नाद-द्वारा प्रस्थापित सुधा, गुणानुवर्णन के रूप में इनके श्रीमुखों से निर्गलित हो। इस विचार से, प्रभु ने, स्वाभिलषित अग्रिम संयोग-लीला के संपादनार्थ, यहां, संप्रति, पंचमश्लोकोक्त उस नाद-को प्रकट किया, जिसके श्रवण करते ही, गोपीजन की समस्त इन्द्रियों में, प्राणान्तःकरण में तथा चैतन्य-जीव-में, भगवान् के सर्व-गुण लीला विशिश्ट उद्‌बुद्ध-द्विविध-रसात्मक स्वरूप का पूर्ण आविर्भाव हुआ। आन्तर-रमण काल में, स्वरूप का आविर्भाव, सर्व-इन्द्रियों आदि में ही होता है, देह में नहीं-'आन्तररमणे इन्द्रियादिषु एवं आविर्भावो नतु देहे'-लेख.। भगवत्-स्वरूप के इस तरह आविर्भूत होते ही-स्मर-वेग तथा तत्सुलभ चित्त-चांचल्य निवृत्त हुये-गोपीजन में गुणानुवर्णन की शक्ति का उदय हुआ-तथा सुधा संवलितनाद के साथ अभितः रमण का प्रारंभ भी।

इस तरह, श्रीशुकने, चतुर्थश्लोक से, प्रथम, गोपांगनाओं की गुणानुवर्णन-अशक्ति का निरूपण किया, फिर, पंचमश्लोक द्वारा, जिस हेतु को लेकर, गोपांगनाओं में गुणानुवर्णन की शक्ति का आविर्भाव हुआ, उस हेतु का विवेचन किया-तदनन्तर, षष्ठश्लोकोक्त 'इति वेणुरवम्'-इस पद द्वारा यह भी समर्थन किया कि गोपांगनाओंको वर्णन-शक्ति से संपन्न करने वाला-पंचम श्लोक में निरूपित यह 'वेणुरव' ही था-अन्य नहीं-इससे पूर्व, द्वितीय-श्लोकोक्त 'कूजन' अथवा तृतीय श्लोकोक्त 'वेणु-गीत' नहीं। तद्नुसार इसके द्वारा श्री शुक ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि-पूर्वोक्त कूजन अथवा गीत से, पंचमश्लोक द्वारा प्रतिपादित 'वेणु-रव', सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण था। इस प्रकार का यह 'वेणुरव' ही-वस्तुतः, सर्वगुणलीला-विशिष्ट उद्‌बुद्ध द्विविध रसात्मक भगवद्-रूप है- इसी पंचमश्लोकोक्त वेणुरव को सुनकर ही गोपांगनाओं में वर्णन शक्ति का आविर्भाव हुआ-इससे पूर्व किये गये कूजन गीतादि को सुनकर तो उनमें गुणानुवर्णन की अशक्ति ही रही-इनके द्वारा तो 'केवल-स्वरूप' का ही श्रवण कराया गया था-

जिससे केवल हृदय में ही स्वरूपानुभव हुआ श्रोत्रादि इन्द्रियों में नहीं, प्रस्तुत-श्लोक से तो अर्थ-विशिष्ट से संपन्न 'स्वरूप' का श्रवण कराया गया है, जिसका आविर्भाव श्रोत्रेन्द्रिय में भी हुआ- 'पूर्वत्र श्रवणं स्वस्यैव तेन हृदिस्वरूपानुभवः, अधुना त्वर्थ विशिष्टस्य श्रवणं तेन श्रोत्रेन्द्रियेऽपि तदाविर्भावः इत्यर्थः – लेख । पूर्वोक्त वेणु-गीत आदि के श्रवण से गोपांगनायें गुणानुवर्णन करने में असमर्थ रहीं–'तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य-तद्वर्णयितुं नाशकन्' किंतु पंचम श्लोकोक्त वेणुरव को सुनकर गोपांगनायें-गुणानुवर्णन करती हुयी अभितः रमण भी करने लगी-'इति वेणुरवं-श्रुत्वा, वर्णन्त्योऽभिरेभिरे' अपने पूर्वोत्तर श्लोकों से, प्रस्तुत पंचम श्लोक की यही संगति है।

इस विवेचन से पंचम श्लोक की संगति सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः, पंचम श्लोक में निरूपित प्रयोजन के लिये ही तो भगवान् ने वृंदावन में प्रवेश किया है। प्रस्तुत अध्याय के प्रथम श्लोक में प्रवेश मात्र का ही कथन है 'न्यविशत्'-किंतु, इस क्रियापद के 'कर्म' का यहां निर्देश नही मिलता। प्रस्तुत पंचम श्लोक ही, इस कर्म का, भगवत् कार्य का, जिस कार्य के लिये भगवान् ने वृंदावन में प्रवेश किया, उस कार्य का, निश्चायक है-अतः कर्म के निश्चायक-परिचायक के रूप में यह श्लोक सुसंगत है-'कर्म निश्चायकत्वेन श्लोक-संगतिः'–लेख. ।

यहां यह जिज्ञासा होती है कि, कूजन, गीत तथा रव, इस प्रकार के क्रम से ही क्यों किये गये ? यहां, भगवान् ने, प्रथम वेणु-कूजन किया, जिससे 'भावोद्-बोधन' हुआ-यह कूजन, अस्पष्टनाद था। तदनन्तर स्पष्टार्थ-बोधक केवल 'वेणु-गीत-' रूप नाद किया-जिस से स्मरोदय हुआ। यहां यह समझ लेना चाहिये कि कूजन में, गीत में, तथा वेणु-रव में, यथाक्रम भगवद्-स्वरूप का प्रथम अस्पष्ट, फिर स्पष्ट, अंत में स्वयं स्वरूप का ही, सुस्पष्टतया आविर्भाव किया गया है। भगवान् ने इसी क्रम से जो वेणु-नाद किये, उसमें उनका सविशेष अभिप्राय था। भगवान् ने, रस का सहसा, एक साथ ही आविर्भाव नहीं किया, क्योंकि, रस के एककालीन सहसा आस्वाद में, उसकी दीर्घकालीन, उत्तरोत्तर यथाक्रम सुगाढ़ अनुभूति नहीं होती। गोपांगनाओं को महान रस-दान करने की इच्छा से ही, प्रभुने, प्रथम अल्प, फिर अधिक, फिर सर्वाधिक क्रम से ही उनमें रस की निष्पत्ति की। यहाँ कूजन में, गीत में तथा रव में प्रतिष्ठित, विविधरसों की यथोत्तर उत्कट रसमयता के क्रमिक आविर्भाव द्वारा ही, घनीभूत रस की निष्पत्ति (climax) की गयी है। इस प्रकार से, रस-निष्पत्ति के क्रम द्वारा, यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आस्वाद्य-रस परमदुर्लभ है। प्रभुने, स्वकीय-भक्तों को परम-काष्ठापन्न एवं स्वतंत्र-ऐसे अचिंत्य महा-फलदान करने की इच्छा से ही यह सब कुछ किया है। अन्यथा, इस प्रकार की इच्छा के अभाव में जिस तरह, इन्द्र, रुद्र तथा ब्रह्मा जैसे देवोत्तमों की भी, इस रस के

रसत्व से अनभिज्ञ जानकर, उपेक्षा कर दी थी, उस तरह गोपीजन की भी उपेक्षा कर देते। किंतु प्रभु की इच्छा तो यहां इन व्रजदेवियों को पूर्ण रसानुभव से कृतार्थ कर देने की है, उनको स्वतंत्र फल-दान करने का मनोरथ है-अतः, उनमें रस की चरम-अनुभूति सिद्ध करने के लिये हीं, प्रभुने उपरोक्त क्रम को, उत्तरोत्तर अधिकाधिक रसाविर्भाव रसाभिवृद्धि-क्रम को अपनाते हुये, अपने आपको, इन व्रज देवियों के ही उपभोगार्थ-सर्मपित कर दिया। भगवान् के पास, स्वसमर्पण से अधिक अन्य देय वस्तु नहीं है भगवत्-कृत यही स्वतंत्र महारस दान है-'प्रदानवत्' ब्र.-सूत्र। इसी प्रसंग को, अग्रिम द्वितीय व्याख्यान से स्पष्ट किया जायेगा।

**उपर्युक्त आशय का प्रकारान्तर से विवेचनः**— चतुर्थ-श्लाकोक्त 'नाशकन् स्मर-वेगेन' पद में स्मर का अर्थ 'स्मरण' करते हुये, श्रीमत्प्रभु-चरणने, पंचमश्लोक की संगति का प्रतिपादन, अपने द्वितीय व्याख्यान द्वारा इस प्रकार से किया है। इससे पूर्व व्याख्यान में 'स्मरवेग' का अर्थ 'काम-वेग' किया गया था-और इसी अर्थ के अनुसार पंचम-श्लोक की संगति का प्रतिपादन किया गया था, किन्तु, यह 'अर्थ', काम-भावोपेत गोपांगनाओं में ही घटित होता है, सर्वात्म-भाववाली स्वामिनी वर्ग में नही। सर्वात्म-भाव में, काम-भाव का अभाव ही होता है। स्मर का अर्थ स्मरण भी है, और, इसी अर्थ में, प्रस्तुत श्लोक की संगति, सर्वात्मभाव से संपन्न स्वामिनी-वर्ग के लिये भी निरूपित की गयी है–वृ.प्र.।

कूजन तथा गीत इन दोनों का एक ही धर्म है-स्मर अथवा भाव मात्र का उद्दीपन करना और, इसी कारण, इन दोनों के ही कार्य रूपसे, 'स्मरोदय' पद का मूल श्लोक में प्रयोग किया गया है-'कूजन-पदेनात्र गीतमपिज्ञेयम्'- ले.। 'भावोद्दीपकमात्रत्वं कूजन धर्मः' श्रीमत्प्रभु.। गीत और कूजन का धर्म, मात्र भाव का उद्बोधन करना ही है- इनके श्रवण से स्वरूप का आविर्भाव हृदय में ही होता है, पंचम श्लोकोक्त 'वेणुरव' की तरह इन्द्रिय-प्राणान्तःकरण आदि में नहीं। तदनुसार, कूजन तथा गीत से, गोपीजन में स्मरोदय हुआ, तदनन्तर, जब वे गुणानुवर्णन करने लगी तब उनको कृष्ण-कृत-शृंगार चेष्टाओं का स्मरण होने लगा, कृष्ण-चेष्टित स्मरण से स्मर-वेग सुलभ-चित्त-चांचल्य के कारण, वे वर्णन करने में असमर्थ हो गयीं। इस तरह, कृष्ण-चेष्टित स्मरण ही, वर्णन की अशक्ति में तथा स्मरवेग में मुख्य कारण हुआ। इसी तरह आगे भी, जब जब गोपीजन-वर्णनारंभ करेंगी, तब तब ही कृष्ण-चेष्टित का स्मरण होगा, और कृष्ण-चेष्टित स्मरण से, स्मरवेग होगा, और स्मर वेग से वर्णन भी स्थगित हो जायेगा। ऐसी स्थिति में गोपीजन, गुणानुवर्णन कैसे कर सकेंगी? इस प्रकार से तो उनके लिये गुणानुवर्णन करना ही असंभव होगा। इस शंका को निवृत्त करते हुये

श्री शुक ने, 'वर्हापींड' इस श्लोक द्वारा, गोपीजन को, रसात्मक-स्वरूप के गुणानुवर्णन करने की युक्ति का अवबोध कराया है–'इतिशंकां अपनुदन् अग्रे वर्णनायां उपपत्ति-माह एकेन 'वर्हापीडमित्यनेन'।

यहां यह समझ लेना आवश्यक है-'सामोपनिषद् में स्मर का अर्थ स्मरण किया गया है-वहां इस तरह कहा गया है कि "स्मर जो स्मरण है, वह हृदयाकाश से भी अधिक उत्कृष्ट-है, यद्यपि उसमें अनेकों स्मरणीय भाव भरे हैं तथापि स्मरके बिना न किसी का श्रवण किया जा सकता है,न कुछ मनन किया जा सकता है,और न कुछ जाना ही जा सकता है, जब वे स्मरण करें तब ही श्रवण कर सकते हैं" इत्यादि कथन द्वारा 'स्मर' का व्युत्पत्ति से सिद्ध किया गया अर्थ-'स्मरण' है-'स्मरणं स्मरः'। तद्नुसार, 'स्मर' शब्द, 'स्मरण' वाचक है। इसीलिये, तृतीयश्लोकोक्त 'स्मर वेगेन' पद में 'स्मर' का अर्थ 'स्मरण' ही किया गया है-वहां, स्मर-वेग का अर्थ है स्मरण वेग, कामवेग नहीं, वर्तमान में तो, स्वामिनी-वर्ग के साथ प्रभु की आंतर-लीला का प्रसंग चल रहा है, किन्तु, अग्रिम संयोग-कालीन प्रसंग में, इनकें साथ बाह्य-रमण-संपन्न होगा। रासोत्सव प्रसंग में, अधरामृत-पान द्वारा, इन गोपीजन को संयोग-रस की अनुभूति करायी जायेगी, अतः, इन व्रजदेवियों के मुखारविंदों को अभी से, स्वभोग के योग्य बनाना आवश्यक है, और यह तभी संभव है, जब इनके मुख कमल का संबंध, भगवद्-अधर-सुधा से कराया जाये 'मुखेषु भगवद्-भोग्य सुधाभोगयोग्यता सिद्धचर्थम्'-भगवद्-अधर-सुधासे, मुखारविंदो का यह संवंध, गुणानुवर्णन द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है–क्योंकि, गुणानुवर्णन द्वारा ही तो, इनके हृदय में, नाद द्वारा प्रविष्ट, भगवद् अधर-सुधा, बाहर निर्गलित होती हुयी, इनके अधरों से संबंध करेगी और तभी तो, इस तरह सुधा से संपृक्त, इनके अधर, भगवान् द्वारा भोग्य होने की योग्यता को प्राप्त करेंगे। और, जब तक, इस सुधा-संवलित-नाद का अंतः प्रवेश न कराया जाये, तब तक इनमें गुणानुवर्णनकी शक्ति भी नहीं आ सकती। तदुपरांत, सुधा से संवलित नाद के अंतः प्रवेश कराये जाने पर भी, यदि इनमें पूर्ववत् कृष्ण-चेष्टित का स्मरण होता ही रहा, तो गुणानुवर्णन की शक्ति का आविर्भाव असंभवित ही रहेगा-क्योंकि, गुणानुवर्णन की अशक्ति का मूल कारण, कृष्ण-चेष्टित-स्मरण ही तो है। गोपीजन का यह कृष्ण-चेष्टित स्मरण, नदी के प्रचंड वेग के समान है-उतना ही प्रबल एवं अप्रतिहत, जितना, भादों मास की उछलती हुयी नदी का वेग, जिसका अवरोध किसी से भी संभव नहीं–'अन्याऽप्रतिबध्यत्वम्'। यहाँ कृष्ण-चेष्टित-स्मरण की नदी-वेग के समान अनवरुद्धता का निर्देश करने के लिये ही 'स्मरवेगेन'- इस पद का प्रयोग किया गया है-अन्यथा, 'स्मरवेगेन' पद का प्रयोग ही नहीं किया जाता, कृष्णचेष्टित का स्मरण करती हुयी गुणानुवर्णन नहीं कर सकी

कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्यः नाशकन्-केवल इतना ही कथन पर्याप्त था-'स्मरवेगेन'- पद की' कोई आवश्यकता नहीं थी।

ऐसी अवस्था में, गोपीजन को गुणानुवर्णन की शक्ति तभी प्राप्त करायी जा सकती है तथा अन्य सभी मनोरथ तभी सिद्ध हो सकते हैं, जब गोपांगनायें, प्रधानतया नाद का ही स्मरण करें, नाद की प्रधानता को लेकर ही नाद का स्मरण करें, और, प्रभु का गौण रुपमें, नाद के हेतु रूप में, प्रभु के प्राधान्य को लेकर, नाद का नहीं। इससे पूर्व, प्रभुने, प्रथम ही प्रथम जिस कूजन तथा गीत को प्रकट किया था, उसमें स्वरूप की-केवल स्वरूप की ही प्रधानता थी-नाद, गौण था—और इसी लिये, स्वरूप की प्रधानता के कारण, गुणानुवर्णन-काल में स्वरूप का ही स्मरण होने लगा, एवं तत्सुलभ स्मर-वेग से गोपीजन विक्षिप्त हो गयीं-तदनुसार, उनमें वर्णन की अशक्ति ही रही-क्योंकि, प्रभु चेष्टित-स्मरण ही तो, स्मर वेग तथा वर्णनाशक्ति में मुख्य हेतु है- 'एवं सति अशक्ति उत्पादके नादे प्रभोरेव प्राधान्येन हार्दानुभवात्, नादस्य गुणभावात् स्मरोदयः। वर्णनीयेच नादे, प्रभोः सर्वत्राविर्भावः, परं न नाद्गुणभावेन-इति नादस्य प्राधान्यम्' वृ. प्र.। तदनुसार, गोपांगनाओं की गुण वर्णन में अशक्ति को देखकर, तथा अग्रिम संयोगलीला को चरितार्थ करने के लिये, प्रभुने, सर्व-गुण लीला-विशिष्ट स्वरूपात्मक अलौकिक महा-नाद को प्रकट किया—इस नाद में, प्रभु का, नाद रूप में ही सर्वत्र आविर्भाव था, यह नाद-स्वरूप, स्वर्णिम पीतांबर रूप आच्छादक तथा वैजयंती माला रूप विक्षेपक माया-शक्ति से सुशोभित, अखिल-अंगों से युक्त, तथा उद्बुद्ध परिपूर्ण शृंगार-रसात्मक-रूप था। गोपीजन को नाद के अनुभव समकाल में, अनुभूयमान नाद में ही, नाद से पृथक् नहीं, इस स्वरूप का अनुभव हुआ। यदि पृथक् अनुभव होता, तो यह संयोग-कालीन वाह्य-रमण कहलाता-प्रस्तुत प्रसंग तो विप्रयोगात्मक रसानुभव का है। अतः अनुभूयमान नाद में ही पृथक नहीं-स्वरूप का अनुभव हुआ, स्मरण नहीं। यहां, देह संबंध के विना, व्रजदेवियों को, उनके इन्द्रियान्तः करण में, प्राणमें तथा जीव में स्वरूप का साक्षात् अनुभव हुआ, स्मरण नहीं हुआ। इसलिये, नदी वेग के समान-स्मर-वेग अर्थात् स्मरण-वेग स्थगित हो गया-स्वरूपानुभव से स्मरण-वेग निवृत्त हो गया। यदि यहां चतुर्थश्लोकोक्त 'स्मर-वेग का अर्थ 'कामवेग' ही किया जाये तो स्वरूपानुभव करने पर भी, कामवेग से चित्त, चंचल हो उठता-तथा व्रजदेवियां गुणानुवर्णन करने में असमर्थ ही रहतीं। अतः, यहां 'स्मर' का अर्थ काम नहीं, अपितु 'स्मरण' ही है। 'तदानुभव एव न तु स्मरणमतः स्मरवेगाभावः" "स्मर पदस्य काम वाचकत्वे तदापि-तद्वेगः स्यात् अतः स्मरणवाचकत्वं व्युत्पादितम्"- लेख-अर्थात् यहां 'अनुभव' ही है, स्मरण नहीं, अतः, स्मर वेग भी नही है।

यदि स्मर का अर्थ काम ही किया जाये तो फिर, अनुभव से भी स्मर वेग ही उत्पन्न होगा-अत:, स्मर पद का वाच्य-अर्थ यहां काम नहीं, किंतु, स्मरण ही है।

यहाँ भगवद् विरहिता, भगवद्-गुणगान-परायणा गोपांगनायें, सुदूर व्रज में उपस्थित हैं। इसीलये, संप्रति, इनको जिस स्वरूप का अनुभव हुआ, वह नादात्मक रूप में कराया गया था। परिणामत:, साक्षात् स्वरूपात्मक नादानुभव के साथ ही, स्मरण-स्थगित होगया-साक्षात् स्वरूपानुभव काल में, फिर, स्मरण किसका ?

ऐसे स्वरूपात्मक नाद को प्रकट करते हुये, भगवान् शुद्ध-पुष्टि-स्थान वृंदावन में पधारे। वृंदवन ही आपकीं शुद्ध-पुष्टि-लीला स्थली है। प्रभु ने अपनी उपर्युक्त-कृति से यह भी सिद्ध कर दिया, कि आपने, शुद्ध-पुष्टि मार्ग का ही वरण किया है, यही मार्ग आपसे अंगीकृत है। यहाँ यह समझ लेना चाहिये, कि पुष्टि-मार्ग में, भक्त के भाव की रक्षा, उसका पोषण स्वयं प्रभु ही करते हैं। पुष्टि मार्ग में भगवान् अपने आपको भक्त के लिये समर्पित करते हैं। इसीलिये तो गोपांगनाओं को साक्षात् रसो वै स:' के उपभोग की अनन्य उपलब्धि हुयी। अंशावतारों के साथ सत्व के व्यवधान-पूर्वक नहीं, किंतु व्यवधान रहित, साक्षात् परब्रह्म आदिमूर्ति श्रीकृष्ण के साथ गोपांगनाओं ने स्वच्छंदतया रमण किया-सर्वकामों का उपभोग किया, 'नतु अंशावतारेष्विव सत्व-व्यवधानेन इत्यर्थ:- ले.। शुद्ध-सत्व को आसन अथवा श्रीविग्रह बनाकर, उसमें भगवान् का सर्वदा के लिये अवतरण, अवतार कहा जाता है-यही परब्रह्म का अंशावतार है। यहाँ शुद्ध-सत्व रूप शरीर को धारण किये हुये परब्रह्म के साथ रमण नहीं है,अपितु, 'सत्व' रहित-साक्षात् परब्रह्म के साथ ही रमण किया गया है। यदि नाद द्वारा, गोपीजन के मुखारविंदों में, भगवद् भोग्य सुधा-भोग की योग्यता संपादित न की जाती, तो रासोत्सवकालीन लीला का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता-'अन्यथैतावत् करणं नि:-प्रयोजकं स्यात्'-श्रीमत् प्रभु.। योग्यता संपादन किये बिना ही, प्रभु यदि गोपांगनाओं के साथ लीला करें, तो प्रभुने अभी तक जो लीलायें की उसका कोई अर्थ नहीं। प्रभु ने गोपीजन का प्रेम तथा आसक्ति-पूर्वक जो निरोध किया, वह किस लिये ? अपने स्वरूपानंद का दान करने के लिये। किंतु, योग्यता के अभाव में स्वरूपानंद का दान असंभव है। उनमें इसी योग्यता के संपादनार्थ, प्रभु ने, नाद द्वारा, गोपीजन के मुखार-विंदों में, अपनी अधर सुधा की प्रतिष्ठा की। जिस प्रकार वृंदा के अंगीकरण पूर्वक-जालंधर जैसे दुष्ट राक्षस का संहार किया था, उसी तरह– गोपांगनाओं के अंगीकरण से, भगवान्, कीर्ति द्वारा समग्र विश्व का दोष दूर करते हुये, भूतल को निष्पाप-निर्दोष-बनाते हुये उसे अवश्य समुज्ज्वल करेंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रभुकी यह संपूर्ण लीला-कृति निर्दोष है, और इसीका निर्देश प्रस्तुत श्लोक के अंतिम-पद 'गीत-

कीर्तिः' द्वारा किया गया है। कीर्ति ही सर्वत्र 'गीत का, स्तुति का, विषय बनती है- अपकीर्ति अथवा दोष नहीं।

इस तरह, साक्षात् नादात्मक स्वरूपानुभव से, कृष्ण-चेष्टित-स्मरण की निवृत्ति होने पर, गुणानुवर्णन की प्रवृत्ति हुयी। गोपांगनाओं ने निर्विघ्न वेणु-रव के वर्णन का प्रारंभ किया। इस प्रकार, पूर्वोक्त चतुर्थ श्लोक से वर्णन की अशक्ति का, प्रस्तुत पंचम श्लोक से वर्णनाशक्ति के निवर्तक 'वेणु-रव' रूप साधन का तथा षष्ठ श्लोक से इसी वेणुरव के वर्णन का निरूपण किया गया है। षष्ठ श्लोक के 'इति वेणुरवं' इस पद से, यह स्पष्ट हो जाता है, कि पंचम श्लोकोक्त 'वेणुरव' का ही अग्रिम श्लोकों में निरुपण किया गया है। यहाँ, 'इति' का अर्थ है-'इस प्रकार का'-एवं भूतम्-अर्थात्, जिस प्रकार के वेणुरव का निरूपण पंचम श्लोक में किया गया है उसी प्रकार के वेणुरव का वर्णन अग्रिम श्लोकों में हुआ है। यहां, चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ श्लोक की यही पारस्परिक संगति है। इस संपूर्ण विवेचन से यह प्रतिपादित होता है कि यह वेणु-रव, इससे पूर्व में किये गये कूजन तथा गीत की अपेक्षा, विलक्षण है-भिन्न है। पूर्वक्त कूजन तथा गीत से स्मरोदय हुआ, प्रस्तुत वेणु-रव से नादात्मक स्वरूपानुभव-'पूर्वोक्तो-नादः स्मरोदयः अयमनुभावकः इति निर्गलितो विभेदः'- लेख.। अर्थात्, वर्णन की अशक्ति के हेतु-भूत कूजन तथा गीत में, प्रभु का प्रधान्य था, नाद की गौणता, अतः कृष्ण चेष्टित का स्मारक होने के कारण उससे स्मरोदय ही हुआ; प्रस्तुत, वेणु-रव में, नाद की प्रधानता है, प्रभु की गौणता, अतः यह रव स्वरूपानुभावक है, स्मारक नहीं। यहाँ, वेणुरव के इसी विलक्षण-स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है-श्रीमत्-प्रभु-चरण-कृत-द्वितीय 'स्वतंत्र-व्याख्यान'.।

## श्रीसुबोधिनी व्याख्यानः–

**वाक्यार्थोवर्णनीयः ननु रूपमात्रम्** :–प्रस्तुत श्लोक का वाक्यार्थ 'स्वरूपमात्र' ही नहीं है। अपितु, इससे अग्रिम श्लोकों में, गोपांगनाओं द्वारा निरूपणीय 'रूप और लीला' सहित वेणुरव ही इस श्लोक का वाक्यार्थ है। सारांश यह है कि इस श्लोक से, स्वरूप और लीला सहित वेणु-रव का निरुपण किया गया है। वृंदावन प्रवेश का कथन तो प्रथम श्लोक में ही हो चुका है और उसी का यहां अनुवाद-स्पष्ट कथन-होनेके कारण, यहां यह रूप लीला सहित वेणुरव ही वाक्यार्थ है, न कि स्वरूप मात्र। इस तरह, वेणुरव ही श्लोक का वाक्यार्थ होने के कारण, उसके प्रतिपादन में ही, रूप, क्रीडा (लीला), तथा नाद–इन तीनों का, तथा इन तीनों के ही पार-स्परिक संबंध के प्रकार विशेष का भी प्रतिपादन हो जाता है–अर्थात् नादका, रूप

और क्रीडा से वाच्य, वाचक संबंध है। नाद वाचक है, स्वरूप और क्रीडा अर्थात् रूप और लीला-वाच्य–अर्थात् अभिधेय है। नाद में, अभिधेय-संबंध से वर्तमान होने के कारण, इन दोनों का अन्योन्य से सामानाधिकरण्य का संबंध है, और, नाद के साथ ही रूप और क्रीडा–इन दोनों की ही अनुभूति होने के कारण, इन तीनों का ही–नाद, रूप और क्रीडा का–सामानाधिकरण्य संबंध है। और इन तीनों का ही आधार, वेणु है। जहां समान क्रिया, समानस्थिति तथा समान उद्देश हो, वह सामानाधिकरण्यरूप संबंध कहलाता है। तदनुसार, नाद; रूप और क्रीडा इन तीनों का परस्पर समान संबंध है, समान क्रिया है, समान स्थिति है तथा समान अर्थ का निर्देश करते हैं।

इस तरह वेणुरव को, यहां श्लोकार्थ मान लेने पर, वेणुरव के प्रतिपादन से, वेणुरव द्वारा प्रतिपाद्य स्वरूप का, नाद का, तथा क्रीड़ा का, तथा इनके पारस्परिक संबंध के कारण, इनके प्रकार विशेष का भी प्रतिपादन स्वतः हो जाता है, केवल रूप मात्र के ही निरूपण से, इन तीनों का प्रतिपादन नहीं हो सकता। नाद की अनुभूति समकाल में ही, रूप और क्रीड़ा की भी अनुभूति होने के कारण, इन तीनों का परस्पर सामानाधिकरण्य रूप संबंध तो सिद्ध हो ही जाता है, तदुपरांत, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों का आधार वेणु है; वेणु-आधार है, नाद, रूप और क्रीड़ा आधेय।

प्रस्तुत श्लोक का पदान्वय, श्लोक-गत वाक्य का संबंध, इस प्रकार से है–'श्री मस्तक पर मयूर-पिच्छा का मुकुट धारण किये हुये, कर्ण-युगल पर कर्णिकार-पुष्प को विन्यस्त किये हुए, पीतांबर तथा वैजयंती माला से समलंकृत–इस प्रकार के 'नटवर'-वपुको-शरीर को वहन करते हुये, अर्थात् ऐसे श्री अंग को, स्वरूप से पृथक्, वहिः प्रकट करते हुए, वेणु के रंध्रों को अपनी अधर-सुधा से पूरित करते हुए, प्रभु ने वृंदावन में प्रवेश किया"–एतादृशंवपुर्विभ्रत् वेणो रंध्रान् पूरयन् वृंदारण्यं प्राविशत्–इति संबंधः –श्रीसुबो.। इस में क्रमशः प्रभु के स्वरूप का, गुण का तथा लीला का वर्णन किया गया है। यहां, ऐसे श्रीअंग को धारण करते हुए–इस वाक्य से स्वरूप का; वेणु के रंध्रों को अधर सुधा से भरते हुए–इस वाक्य से गुण का। तथा वृंदावन में प्रवेश किया–इस वाक्य से लीला-क्रीड़ा का यथाक्रम निरूपण किया गया है।

११ से १५ पर्यंत अग्रिम छह श्लोकों से, वेणु का छह प्रकार से वर्णन हुआ है, जिससे यह निर्देश किया गया है कि वेणु में षड्गुण हैं–ये षड्-गुण, भगवान् के ही हैं। वहः अर्थात् मयूरपिच्छ–'आपीडः' अर्थात् शिरोभूषण–मयूर-पिच्छ, श्री अंग

का, शिरोभूषण है। श्री मस्तक पर, मयूर-पिच्छ का भूषण, नृत्य करते हुए मयूर का अनुकरण है। नृत्य करता हुआ मयूर स्वयं 'उद्बुद्ध-रस' है, क्योंकि रस की उद्बुद्ध अवस्था में ही वह नृत्य करता है। तदनुसार, मयूर-पिच्छ से यह सूचित किया गया है कि भगवान् भी यहां इसी तरह उद्बुद्ध-रस-रूप हैं। 'शिरोभूषण-रूप मयूर पिच्छ से प्रभु की उद्बुद्ध-रसात्मकता के साथ, उनकी शोभातिशयता का भी सूचन किया गया है। मुकुट, शोभा में अभिवृद्धि के लिये भी धारण किया जाता है। इस तरह 'वर्हापीडं'-पद से प्रभु की शोभातिशयता तथा उद्बुद्ध-रसात्मकता, इस उभय का संसूचन होता है। ऐसे स्वरूप का, यदि स्मरण-मात्र ही हो, किंतु, सर्वात्मना अनुभव न हो, तो, अनुभव की सर्वात्मना इच्छा होते हुये भी, अनुभव के अभाव में गोपांगनाओं का वर्णन-अशक्ति युक्त ही है–'एतादृशस्य सर्वांशेन अनुभवाऽभावे, अनुबुभूषायाः विद्यमानत्वात्, वर्णनाशक्तिर्युक्तैव' –लेख.।

**नटवत् वरवत् वपुः** –जिस तरह, प्रभु का वपु-श्री अंग-नटवत् तथा वरवत् भेद से, द्विविध प्रकार का है, उसी तरह रस के भी दो भेद है–केवल रस तथा धर्म-सहित रस। 'केवल-रस' नाट्य में-विप्रयोग में-प्रसिद्ध है; धर्म सहित रस, संयोग-संभोग में। प्रभु का श्री अंग-वपु-'केवल' तथा 'धर्मःसहित' अर्थात् विप्रयोगात्मक तथा संयोगात्मक-उभयात्मक-उभय-विध-रस रूप है। इसिलिये प्रभु का वपु-नटवत् भी है, वरवत् भी। अभिनय में, उद्दीपनादि सामग्री का अभाव होने के कारण, 'केवल-शृंगार' को विप्रलंभ, विप्रयोग शृंगार भी कहते हैं। यहां अभिनय करने-वाला अभिनेता-नट-हस्त आदि अवयवों की विशेष भंगिमाओं द्वारा, पुष्प-सरिता चंद्रोदय आदि उद्दीपन विभावादि-सामग्री का मानसिक-चित्र उपस्थित कर देता है। इसलिये, यद्यपि, यहां पुष्प आदि सामग्री का अभाव ही है, तथापि, अभिनय द्वारा ही, उद्दीपन आदि सामग्री की अवतारणा करने से, 'केवल-रस' की ही निष्पत्ति होती है। तदनुसार, पुष्पादि उद्दीपक सामग्री से रहित विप्रयोग-शृंगार, 'केवल-रस' कह-लाता है–अर्थात् सामग्री-रहित होने के कारण, इस विप्रयोग-शृंगार रस में, केवलत्व ही है 'उद्दीपनादिसामग्रीरहितो विप्रलंभः इत्यर्थः– यो.। संयोग-शृंगार, पुष्पादि उद्दीपक-सामग्री सहित होने के कारण 'धर्म-सहित' अर्थात् संयोग शृंगार-रस माना गया है। किंतु, यहां यह विप्रलंभ-शृंगार-रस, भगवदात्मक होने से अलौकिक है, अतः यहां मन द्वारा कल्पित-भावित होते हुये भी, हस्त आदि से अभिनीत होने के कारण यह सामग्री यथार्थ-सत्य ही है, काल्पनिक नहीं, मन की भावना-मात्र नहीं। सामग्री का यहां अस्तित्व है, किंतु प्रकट नही है, अनाविर्भूत है। अनाविर्भावरूप में, यह सामग्री वर्तमान ही है– सामग्री है, किंतु, आविर्भूत नहीं है। सामग्री के अनाविर्भूत होने के कारण ही,

विप्रलंभ शृंगार में 'केवलत्व' है। सारांश यह है कि आविर्भूत सामग्री सहित रस को संयोग-शृंगार तथा अनाविर्भूत सामग्री से अभिन्न-स्वरूपवाले रस को अर्थात् सामग्री को, अपने में तिरोहित किये हुये रस को, विप्रलंभ-शृंगार कहते हैं। संयोग-शृंगार रस में तथा विप्रलभ-शृंगार-रस में पारस्परिक यही विशेषता है–योजना.।

**'भगवतो वपुरुभयविधं. . .'** :–यहां, 'नटवत् तथा वरवत्'-पदों के प्रयोग द्वारा, यथाक्रम विप्रयोग तथा संयोग-संभोग-शृंगार रस का सूचन किया गया है। तदनुसार, भगवान् का विग्रह, उभय-विध-रसरूप है। 'वर' पति को कहते हैं। पत्नि का सर्व प्रथम भोक्ता उस का पति है, अतः यहां वर शब्द से संयोग-रस का निर्देश किया गया है तथा नट से, विप्रयोग-रस का, जो नाट्य में प्रसिद्ध है। यहां यह समझ लेना चाहिये कि लौकिक विरह में, रस, पुरुषाश्रित होता है, रस की पुरुष में स्थिति मानी गयी है–पुरुष, रस का विषय है, अतः वह कदापि रसरूप नहीं माना जा सकता, किंतु अलौकिक होने के कारण, भगवान् में रसरूपता है–'रसो वै सः' श्रुति ने भगवान् को साक्षात् रस-रूप कहा है। भगवान् रस के आश्रय नहीं, अपितु, स्वयं रस ही है। अतः भगवान् का श्री विग्रह ही, संयोगात्मक तथा विप्रयोगात्मक उभय विध शृंगार रसात्मक है। यद्यपि भगवान् में, संयोगात्मक तथा वियोगात्मक– इस उभयविध रस की एक कालावच्छिन्न सह स्थिति श्रुति-सिद्ध अवश्य है, किंतु युक्ति-सिद्ध नहीं क्योंकि दो विरुद्ध अवस्थाओं की युगपद् सह स्थिति तर्क से सिद्ध नहीं की जा सकती। तथापि, यहां प्रस्तुत प्रसंग में, भगवान् की, वनस्थिता युवतियों के साथ संयोगावस्था होने के कारण, वह संयोगरसरूप है, तथा व्रजस्थिता, गोपांगनाओं के साथ वियोगावस्था होने के कारण, वह विप्रयोग-रसरूप है। इस तरह, उभय-विध रस-रूपता की, रसात्मकता की-प्रभु में, युगपद् स्थिति प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः युक्ति-विरोध की शंका नहीं करनी चाहिए। रस भगवान् से अभिन्न है, भगवान् का श्री वपुभी, भगवान् से अभिन्न है, अतः भगवान् का श्री अंग-वपु, रस से अभिन्न अतएव द्विविध रसरूप ही है। यहां नटवरवपुः –विशेष्य ही है, विशेषण नही। भगवान् का अपर पर्याय ही 'नटवरवपु' है। नटवरवपु–इस पद का समास विग्रह–'नट के समान तथा वर के समान है' वपु' जिसका' यदि इस प्रकार से किया जायो तो उससे वपु की अर्थात् श्रीअंग की स्वरूप से पृथकता समझी जायेगी, किंतु भगवद्–वपु, स्वरूप से कदापि भिन्न नही है–यही स्पष्ट जताने के लिये–अर्थात् वपु, स्वरूप से पृथक् है, इस पार्थक्य के निराकरणार्थ, टिप्पणी में, "नटवरवपुरुपः" पद का प्रयोग किया गया है–तदनुसार, 'नटवरवपुरुप ने वृंदारण्य में प्रवेश किया'– इस तरह का यहां संबंध है–योजना.।

**बिभ्रत्** :–भगवान् तो गोपांगनाओं के हृदय में भी विराजते हैं–'भगवांस्तु हृदयेऽपि वर्तते' सुबो.। अतः ज्ञानी को, भगवान् की हृदय में स्थिति मात्र से ही, जिस तरह और जितने सुख की प्राप्ति होती है, उसी तरह, गोपांगनाओं को भी, इतने से ही अर्थात्, हृदय में, भगवान् की स्थिति मात्र से, उतने ही सुख की प्राप्ति हुयी होगी–अधिक नहीं। इस प्रकार की कदाच् शंका हो तो उसके निराकरणार्थ यह कथन पर्याप्त होगा कि यहां, प्रभु ने तो, गोपांगनाओं के लिये, स्वस्वरूप को, श्रीअंग के रूप में, वपुरूप में बाहर प्रकट भी किया है– वपुर्विभ्रत्'–यहां बिभ्रत्' का अर्थ है 'प्रकट करना'। रसात्मक वपु को बहि-प्रकट किया। यदि यह शंका की जाये कि स्वस्वरूप से अतिरिक्त, भगवत् स्वरूप से पृथक् कोई 'वपु' है ही नहीं, इसलिये, यह कथन कि स्वस्वरूप को वपु रूप में पृथक्-प्रकट किया, असंगत है। इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी को तो ब्रह्म की हृदय में ही सूखानुभूति होती है, किंतु, गोपीजन के लिये प्रभु ने, स्वस्वरूप को, उद्‌बुद्ध द्विविध रसात्मक वपुरूप में बाहर भी प्रकट किया। रस, भावात्मक है, अतः स्वकीय प्रियतमाओं के अतिरिक्त, यह भावात्मक रस, अन्य किसी में भी प्रकट नहीं होता। भावात्मक होने से यह रस अमूर्त अथवा आकार रहित है, और, यही लोक प्रसिद्धि है; तथापि, यह रस जब 'वपु को धारण' करता है-'वपुर्बिभ्राणस्तु'-जब श्री अंग रूप में प्रकट होता है अर्थात् अंगत्व को प्राप्त करता है–तब तो, निज स्वरूप को, बाहर प्रकट भी करता है–'वहिः स्वस्वरूपं प्रकटयन् भवति'–अमूर्त किंवा निराकार रूप से केवल हृदय में ही स्वानुभव नहीं कराता, मूर्त रूप से बाहर भी अनुभव कराता है। इसी तरह प्रभु ने भी अपने स्वरूप से उद्‌बुद्ध द्विविध रसात्मक मूर्त वपु को प्रकट करते हुये, धारण करते हुये, वृंदावन में प्रवेश किया। वेद, शब्दात्मक होने से अमूर्त है, और, यही लोक में प्रसिद्ध है, तथापि, स्वर्ग में मूर्तरूप से ही विराजते हैं; मूर्त-धर हैं-वेदाः यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे। इसी तरह, अमूर्त होता हुआ भी ब्रह्म साकार ही है–और क्योंकि, साकार है, इसीलिये उसने अपने नित्य रसात्मक वपु को–श्री अंग को–वृंदारण्य में ही प्रकट किया। यदि यह मान लिया जाये कि प्रभु का प्राकट्य हृदय में ही होता है, तो फिर, उसका भोग, ज्ञानी जन की तरह, मन में ही किया जा सकता है, सर्वेन्द्रियों से नहीं; किंतु, यहां गोपीजन के विषय में यह बात नहीं है। बाह्य प्राकट्य में ही, गोपीजन की तरह, प्रभु का उपभोग, सर्वेन्द्रियों द्वारा संभव है। ज्ञानी, भगवान् का भोग केवल मन द्वारा, किंतु भक्त अपनी समस्त इन्द्रियों द्वारा करता है। ज्ञानी द्वारा किये गये भोग की अपेक्षा, भक्त-कृत भोग में यही विशेषता है। प्रभु को, नेत्रादि इन्द्रियों का विषय न मानने

पर, उसका उपभोग केवल मन द्वारा ही संभव है, किन्तु, जो पदार्थ अत्यंत-प्रिय हो, उसका केवल मन द्वारा उपभोग इतना सुख प्रद नही होता, प्रिय-पदार्थ की मनोमात्र विषयता दु:खद ही है, यह एक अनुभव-सिद्ध-यथार्थता है। सर्वेन्द्रियों से भगवद्-भोग करने की उत्कट भोग-अभिलाषावाले भक्त के लिये, दयार्द्र भगवान् ने, निज स्वरूप को, श्री अंग के रूप में वहि: प्रकट किया। यहां यह नहीं समझ लेना चाहिये कि भगवान् ही 'वपु-रूप' है, भगवत् स्वरूप ही श्रीअंग है। भक्ति मार्ग में तो भगवान् ही एक ऐसे है जो स्वरूप से भिन्न वपु को, भक्त सुखार्थ, बाहर प्रकट करते हैं–न तु स एव तथा–नन्विति। स एव भगवानेव तथा आत्मभिन्नवपुषोभर्तेत्यर्थ:। अन्यत्र, स्वरूप से पृथक् वपु नहीं माना गया-भक्ति मार्ग में ऐसा नही है, यहां भगवान् स्वरूप से पृथक् शरीर को धारण करते हैं–भगवान् का श्रीअंग आधेय रस भी है, और रस का, रसरूप आधार भी। यहां गोपांगनाओं के सुखार्थ, प्रभुने, आधेय-रस से भिन्न, रस के आधार वपु को धारण करते हुये ही वृंदावन में प्रवेश किया 'नटवरवपु: वृंदारण्यं प्राविशत्'।

**बिभ्रत्** :–बिभ्रत् में 'भृत्' धातु है। जिसके अर्थ हैं–धारण करना (To bear), वहन करना (To carry), पोषण करना (To nourish), भरना (To fill) भृ: धारणपोषणयो:–भृ–भरणे इत्यादि। तदनुसार 'वपुर्बिभ्रत्' का तात्पर्य यह भी है कि जिस तरह पात्रस्थ रस का, किसी अन्य को पान कराने के लिये उद्यत पुरुष, उस पात्र को अपने हाथ में धारण करता है- उसी तरह, अपने स्वरूपात्मक रस का, गोपीजन को पान कराने के लिये, उनके पोषणार्थ, भगवान् ने अपने द्विविधि-शृंगार-रस से उच्छलित-श्रीअंग को बाहर प्रकट किया। यदि कोई रस से परिपूर्ण पात्र को लिये हुये उपस्थित हो तो उससे यही अनुमान होगा कि वह रस का पान कराना चाहता है। इसी तरह, रसपूर्ण श्रीअंग को, भगवान् ने यहां जो प्रकट किया है, उससे यही तो अनुमान होता है, कि स्वभक्तों में आज रस का वितरण होगा। अत: यहां वपु:–प्राकट्यरूप कारण से, गोपांगनाओं को रस-दानरूप कार्य का, सहज अनुमान होता है। इसीलिये यहां, 'बिभ्रत्' का अर्थ–रस दान रूपी कार्य के हेतु रूप धर्म से अपनी समानता के कारण, 'प्रकट करते हुये' किया गया है- 'तथा च रसदान-कारणत्व-धर्म-साम्येन प्राकट्यं भरणपदार्थ इत्यर्थ:' लेख.। यहां धर्मि-स्वरूप भगवान् ही पात्र हैं, भावात्मक-भगवद्रूप अर्थात् स्त्री-गूढ-भाव रूप आनन्द ही पात्रस्थ रस है- जिसका पान गोपांगनाओं को कराया जायेगा- जिसकी स्थापना गोपीजन में की जायेगी। धर्मि-स्वरूप वपु का वहि: प्राकट्य ही पात्र का धारण-भरण करना है। धारण करना तथा

प्रकट करना–इन दोनों ही अर्थों में 'विभ्रत्' का प्रयोग होता है–भेद इतना ही है कि धारण क्रिया में, कर्ता तथा कर्म भिन्न भिन्न होते हैं–धारण करनेवाला कर्ता है, धारण किया गया पात्र कर्म है–दोनों भिन्न पदार्थ हैं–किंतु, यहां तो धारण करने वाला तथा धारण किया गया पदार्थ दोनों ही भगवान् है। स्वरूप ही कर्ता है, स्वरूप ही कर्म। अत: यहां, भगवान् के विषय में 'बिभ्रत्, का 'प्रकट करना' यह अर्थ ही सुसंगत एवं श्रुतिसंगत है–'तदात्मानं स्वयमकुरुत' 'प्रभु ने स्वयं अपने आपको जगत् रूप में प्रकट किया'–यहां प्रकट करनेवाला तथा प्रकट होनेवाला–दोनों एक ही हैं। तदनुसार, प्रस्तुत प्रसंग में, रस को प्रकट करने वाला कर्ता तथा रस-रूप में प्रकट होनेवाला कर्म दोनों एक ही हैं और भगवान् ही इस तरह हो सकते हैं, भक्त हितार्थ भगवान् ही आत्म-भिन्न वपु को प्रकट-धारण करते हैं। अत:, प्रभु ने स्वस्वरूप को वपु-रूप में प्रकट किया–यहां 'बिभ्रत्' का 'प्रकट करते हुये' यही अर्थ समीचीन है। ऊष्णाधिक्य से हिम-खंड पिघल कर जैसे जल के रूप में प्रकट होता है, ऐसे ही धर्मिरस-रूप भगवान्, धर्मिरस-रूप वपुरूप से प्रकट हुये। हिमखंड, जल से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। रसस्वरूप प्रभु, रसस्वरूप वपु से कोई पृथक्-वस्तु नही है। जैसे, हिम-खंड का प्रत्येक अंश, जलरूप ही है, वैसे ही रसात्मक वपु का प्रत्येक अवयव आनन्द-रूप ही है–श्री अंग के कर, पाद, मुखोदरादि सभी स्वरूप के तुल्य ही आनन्दमात्र ही हैं। हिम-खंड जैसे अपने आप को जलरूप में प्रकट करता है उसी तरह स्वकीय भक्तों को अपने स्वरूपानंद के दानार्थ ही, रसात्मक स्वरूप, रसरूप वपु रूप से बहि:प्रकट हुये। इससे पूर्व तो यह प्राकटच-हृदय में ही हुआ था और इसीलिये, गोपीजन वर्णन में असमर्थ ही रही, वर्तमान में तो यह प्राकटच इनके इन्द्रिय प्राणान्त:करण तथा जीव में हुआ है और, इसलिये, यहां 'विभ्रत्' का अर्थ 'प्राकटच' किया गया है–इस 'प्राकटच' से ही तो गोपीजन में गुणानुवर्णन की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ–लेख.।

**'नटवरवपु' विशेष-विवरण** :–यहां तक किये गये विवेचन के अनुसार श्लोकान्वय से जो अर्थ प्राप्त होता है, वह यह है कि–नट के समान तथा वर के समान–वपु को प्रकट करते हुये भगवान् ने वृंदावन में प्रवेश किया, किंतु इस अर्थ में, भगवान् की तथा वपु की पृथकता का आभास होता है। इस आभास को भी दूर करने के लिये, 'नटवरवपु' ने वृंदावन में प्रवेशं किया'। इस प्रकार से ही श्लोकान्वय करना उचित है। वस्तुत: रस, भगवान् से अभिन्न है, भगवद्-वपु भी भगवान् से अभिन्न है, इसलिये, भगवद्-वपु, रसरूप तथा भगवद् रूप, उभय रूप है। यहां आधेय रूप प्रभु ही, भक्त सुखार्थ, आधार-रूप बने हैं। तदनुसार, नट और वपु के समान है

वपु जिसका ऐसे प्रभु ने वृंदावन में प्रवेश किया इस अर्थ की अपेक्षा, "नटवररूप-वपुस्वरूप ने वृंदावन में प्रवेश किया',–यह अर्थ सिद्धांत के आग्रह से, अधिक सुसंगत है। "इस अर्थ के अनुसार,: स्वरूप और वपु-इनकी पारस्परिक पृथकता का आभास भी निःशेष हो जाता है। 'वर्हापीड, कर्णिकार, पीतांबर तथा माला को धारण किये हुये, 'नटवरवपु' ने वृंदावन में प्रवेश किया'–इस अर्थ के अनुसार, वर्हापीड कर्णिकार, पीतांबर तथा माला यह चारों, 'बिभ्रत्' के कर्म बनते हैं–यहां 'बिभ्रत्' 'नटवरवपु' का विशेषण है, और 'नटवरवपु' विशेष्य" –श्रीमत्प्रभुचरण तथा योजना.।

**कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रत्** :–इस 'नटवरवपुरूपने' कर्ण युगल में, कर्णिकार का पुष्प धारण किया है। कर्णयोः कर्णिकारं विभ्रत्' का अर्थ है कर्णयुगल में कर्णिकार के पुष्प को धारण किया है जिसने ऐसा 'नटवरवपु'। अथवा, अलुक सप्तमी तत्पुरुष के अनुसार-कर्णयुगल में कर्णिकार का पुष्प है जिसके ऐसा 'नटवरवपु'। यहां, यह दोनों ही अर्थ संग्राह्य हैं। कर्णिकार-यहां एक वचनांत है, अतः दोनों ही कर्ण के लिये, एक ही कर्णिकार-पुष्प का उपयोग किया गया है। कर्णिकार-पुष्प, शृंगार-रस का उद्बोधक है। संयोग तथा विप्रयोग भेद से शृंगार-रस दो प्रकार का है। भगवान् के कर्ण-युगल, उभय-विधरस के प्रतिपादक हैं। संयोगावस्था में, प्रियतमा के आसक्ति पूर्ण, मंद-मंद जल्पना का, अनुनय विनय पूर्वक किये गये रसमय आलाप का रसात्मक अनुभव, श्रोत्र ही तो कराते हैं; तथा विप्रयोग में, प्रियतमा-कृत आसक्ति-पूर्ण गुणानुवर्णन का श्रवण भी, प्रियतमा के हृदय में आसीन प्रियतम, कर्ण द्वारा ही तो करता है। इस तरह उभय-कर्ण, उभय-विध-रस के अनुभावक हैं। उभय विध-रस के प्रतिपादक कर्ण में रसोद्बोधक कर्णिकार के विन्यास से, प्रभु में, पूर्व-निरूपित द्विविध स्वरूपात्मक-रस, अधिकाधिक उच्छलित हो उठा है–एवं, परिणामतः श्री अंग के अवयवों में, उच्छलित रस सुलभ स्वेद, कंप आदि विकार परंपरा का उदय हुआ है।

ऐसा साकार, उद्दीप्त-रस-जनित विकारादि से संपन्न नटवरवपु, साक्षात् रसावलंबन रूप है। रस, तभी रसत्व को प्राप्त होता है, जब वह गुप्त ही रहे। कटाक्ष आदि अनुभाव यदि अगुप्त ही रहें तो कोई आपत्ति नहीं, किंतु, प्रभु तो साक्षात् आलंबन रूप रस ही हैं, और यदि यही आलंबन रस प्रकट हो जाये तो वह रसाभास-जनक ही कहलायेगा, भले ही फिर वह रस का पोषक रहे, रस की रसत्व कक्षा को, वह कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। तदनुसार, आलंबन की गुप्तता में ही रस के रसत्व की सुरक्षा है। अतः, रसावलंबन के आच्छादनार्थ, रसावलंबन को अप्रकट ही

रखने के लिये, प्रभु ने, कटि-प्रदेश पर, स्वर्ण-तुल्य पीत-वर्ण के अधोवस्त्र को धारण किया है। यहां, इस अधो-वस्त्र के लिये 'कनक-तुल्यकपिश' विशेषण का जो प्रयोग किया गया है, उसमें विशेष अभिप्राय है।

**उद्‌बुद्धः रसे वासो न गणयेयुः**—प्रस्तुत प्रसंग में, यदि गोपांगनाओं को यह विदित हो जाये कि प्रभु में रस उद्‌बुद्ध हो चुका है, तो फिर, जिस तरह एक ऐसे ही प्रसंग विशेष में पहिले घटित हो गया था, उसी तरह, यहां भी, वे, रसावलंबन के आच्छादक वस्त्र की उपेक्षा कर के, 'अक्षण्वतां' तथा 'चूतप्रवाल' आदि अग्रिम श्लोकों से किये जाने वाले संयोग-वियोगात्मक रस के निरूपण की जगह, रसाभास-जनक, अनावृत्त रासावलंबन का ही कहीं वर्णन न करने लग जायें-तथा परिणाम में, गोपांगनाओं को, रासोत्सव में रस की चरम सिद्धि-उपलब्ध कराने के लिये ही यह जो समस्त आयोजन किया जा रहा है, वह असफल न हो जाये, यह सोचकर, ऐसी परस्थिति ही उत्पन्न न हो, इसलिंये, भगवान् ने रसावलंबन के आच्छादनार्थ कनक-तुल्य पीताभ-वस्त्र को-पीतांबर को, कटि-प्रदेश पर धारण किया है। कनक के समान पीत-अंबर ने परिस्थिति संभाल ली। स्वर्ण-समान पीत वर्ण को, पंचरात्र शास्त्र ने, साक्षात् माया रूप माना है 'माया हि सा' इसीलियें, पीत-वर्ण व्यामोहक कहा गया है। तदुपरांत, स्वर्ण का मोह जनकत्व शास्त्र-संमत भी है। स्वर्ण तथा पीत-वर्ण दोनों मोह के उत्पादक हैं। गोपीजन में व्यामोह उत्पन्न करने के लिये ही प्रभु ने कनक पीतवर्ण का कटिवस्त्र पहना है। वस्त्र के पीत वर्ण ने, गोपांगनाओं में, आलंबनरूप रस की कल्पना भी उत्पन्न ही नहीं होने दी। 'संमोहात्-स्मृति विभ्रमः'—व्यामोहक स्वर्णाभ पीतांबर ने, गोपांगनाओं को, रसावलंबन की आमूल विस्मृति ही करा दी, स्मृति-विभ्रम से, गोपीजन, श्री अंग का यथावत् पर्यावलोकन करने में असमर्थ ही रहीं; अन्यथा, रसावलंबन की उद्‌बुद्ध-प्रतीतिमात्र से, मदन-पराभूता गोपांगनायें, अपनी लालसामयी उत्कट-आर्ति में, आच्छादक-पीतांबर की उपेक्षा करती हुयी श्री अंग का अवलोकन कर लेती तो, रस के अनावृत प्रत्यक्ष होते ही, रसाभास ही हो जाता—लेख.।

किंतु, ऐसा नहीं, हुआ—क्योंकि, प्रभु ने, रसावलंबन का आच्छादन मायारूप स्वर्णाभपीतांबर से कर लिया था। भगवद्-साक्षात्कार में, रसात्मक-प्रभु के साक्षात्कार में माया ही, जवनिकावत् आवरण मानी गयी है। अन्तराय उपस्थित करती है। गोपीजन जैसे व्रजभक्तों में भी व्यामोह उत्पन्न करनेवाली माया का यह आवरण, अन्य जीवों में, प्रभु की रसात्मकता से साक्षात्कार तो दूर की कल्पना है, प्रभु संबंधी विचार भी उत्पन्न न होने दे तो आश्चर्य ही क्या ? प्रस्तुत प्रसंग में, भगवत्-स्वरूप का आच्छादक होने के कारण, पीतांबर, साक्षात् मायारूप ही है।

कटिस्थ पीतांवर की तरह, माया भी, भगवान् के एकदेशीय कटिमात्र स्वरूप की आच्छादिका है। माया, कदापि दृष्टिका विषय नहीं बन सकती तो फिर गोपांगनायें, भगवान् के मायाजवनिकावत्-व्यामोहक कनक कपिश पीतांबर की आकृति का सम्यक अवलोकन करना तो दूर रहा, उसकी मन: कल्पना भी कैसे कर सकती थीं ? और, जव, मायारूप पीतांबर की आकृति ही नहीं दिखाई देती, तो फिर, उससे आच्छादित पदार्थ विशेष को, अर्थात्, माया रूपी पीतांबर से संपिहित 'रसावलंन' रूपरस को, गोपीजन कैसे देख सकेंगी, कैसे जान सकेंगी ? 'अतो यत्र वसनाकृतिरपि न सम्यक् अवलोकिता तत्र तेन वसनेनाच्छन्नं रसं कथमुद्घाटयेयु: ' ? 'जानीयुरित्यर्थ:' –श्रीसुबो. लेख.।

कटिस्थ आवरण रूप पीतांवर के, नादद्वारा करायें गये अनुभव में ही, भगवद्-इच्छा से, व्रजदेवियों को कुछ एक ऐसा अनिर्वचनीय मद किंवा मोह हुआ कि पीतांबर से आच्छादित तदन्तर्गत आलंबनादि का वे विचारमात्र भी नहीं कर सकीं–'नादद्वारा पीतांबरानुभवे भगवदिच्छया तादृशो मद:समजनि येन तदन्त: स्थितालंबनादि: विचारो न जात इति निर्गलितोऽर्थ: –लेख.।

**वैजयंती च मालाम्** :–रसावलंबन के आच्छादनार्थ, भगवान् ने स्वर्णाभ-पीतांबर धारण किया है, कटीस्थ पीतांवर, आलंबन का आच्छादक है, इसकी भी आच्छादिका-ततोऽप्याच्छादिका-वैजयंतीमाला है। 'मूल में 'च' के प्रयोग से वन-माला का भी, वैजयंतीमाला के अतिरिक्त, ग्रहण होता है'–लेख.। पीतांबर–आच्छादिका-शक्ति है तथा वैजयंतीमाला, विक्षेपिका शक्ति। विक्षेपिका शक्ति में भी वस्तु के यथार्थ ज्ञान का आच्छादकत्व है इसी आशय में, वैजयंती माला का यहां उल्लेख किया गया है। इतस्तत: दोलायमान पदार्थ–दृष्टि को अस्थिर कर देता है, दृष्टि की एक लक्ष्यता का विक्षेपक है। प्रभु के वक्षस्थल पर आलुंठित दोलायमान आजानुलंबिनी वैजयंती माला, इसीलिये, विक्षेपक मानी गयी है–श्रीअंगपर दृष्टि, स्थिर हो, इससे, पूर्व ही, उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है–श्री अंग पर, 'नटवर-वपुस्वरूप' पर दृष्टि को स्थिर ही नहीं होने देती। आच्छादक की तरह, विक्षेपक भी यथार्थ ज्ञान का अवरोधक है, इसीलियें, वैजयंती माला को, भगवत्-स्वरूप की विक्षे-पिका माया कहा है। माया का अपर नाम ही 'विक्षेप शक्ति' है। 'वैजयंतीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपंकजाम्' श्री भागवत के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि यह वैजयंती, नवरत्न-खचित नहीं है अपितु पुष्पमयी ही है। 'वैजयंती च मालाम्'–इस पद में माला का अर्थ 'वनमाला' किया गया है। सर्व ऋतुओं के पुष्पों से युक्त, मध्य में कदंब-पुष्प के स्थूल थाकों से संपन्न, आजानुलंबिनी माला को, वनमाला कहते हैं–

'आजानुलंबिनी-माला सर्वर्तुकुमोज्ज्वला–मध्ये स्थूल कदंबाढ्या वनमालेति कीर्तिता'। इस तरह की रमणीय वनमाला तथा कीर्तिमयी - पुष्पमयी- वैजयंती माला को धारण किये हुये, स्रग्वी भगवान्, साक्षात् मन्मथ के भी मनो-मंथक है। आपका स्वरूप-लावण्य आधिदैविक मनोभव का भी पराभव करता है, आप के नेत्र-युगल, कमल, खंजन तथा मीन को भी पराभूत करते हैं। तदुपरांत, मानों इसी विजय की प्रतीक रूप यह वैजयंती-माला, ब्रह्मांड की समग्र रमणीयता के निधिरूप 'तत्वों' पर, निश्चय विजय प्राप्त करानेवाली है–और इसी का सूचन करती हुयी, आपके श्री अंग को समलंकृत कर रही हैं–और, इसीलिये तो इसका यह 'वैजयंती' नाम सार्थक है–क्योंकि, यह माला "वै"–निश्चय-पूर्वक, 'जयंती'–जयकी–कीर्तिकी साधिका है। इसीको धारण करके ही तो प्रभु ने, 'काम' पर एकांत विजयप्राप्त की– 'वैजयन्त्याः कीर्तिरूपत्वं योगेन व्युत्पादयन्ति वै-निश्चयेनेति'–लेख.। वैजयंती का यही व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ है।

**'वेणु नाद,' प्रभु की 'नाम-लीला' है** :–यह कहा जा चुका है कि रूप और क्रीडा सहित वेणु-नाद ही प्रस्तुत श्लोक का वाक्यार्थ है–प्रतिपाद्य विषय है। नाद में, स्वरूप और लीला विद्यमान हैं–और, नाद का, स्वरूप का तथा लीला का आधार, वेणु है। भगवान्, रूप से तथा नाम से, नामरूप-विभेद से-उभय प्रकार से-जगत में लीला करते हैं। यहां तक, रूप-लीलात्मक वेणु नाद का निरूपण किया गया है। इस रूप-वर्णन के अन्तर्गत ही नटवत् तथा वरवत् अर्थात् विप्रयोग-संयोगात्मक द्विविध शृंगार-रस का, इस रस के उद्बोधक कर्णिकार का, इस रस के आच्छादक पीतांबर का तथा विक्षेपक वैजयंतीमाला का–इन पांचों का–रूप में ही, निरूपण किया गया है। भगवद्-स्वरूप में ही, उपर्युक्त पदार्थ पंचक का प्रतिपादन किया गया है। संप्रति, यहां से अग्रिम, 'रंध्रान् वेणोः' इस पंक्ति से, श्री शुक, नाम-लीलात्मक वेणुनाद का वर्णन करते हैं। वेणु-नाद पूर्वक भगवान् ने जो लीला की वह 'नाम-लीला' है।

**रंध्रान् वेणोः**–वेणु-नाद, भगवत्-स्वरूपात्मक है। भगवान् के सप्त-विध स्वरूप हैं–छह स्वरूप तो उनके षड्-धर्मों से, और सातवां स्वरूप, षड्धर्म युक्त स्वस्वरूप से अर्थात् धर्मिस्वरूप से। वेणु के जो सात रंध्र हैं, उनमें छह रंध्र तो, भगवान् के ऐश्वर्यादि षड्धर्म-रूप हैं, सप्तम-रंध्र, साक्षात् भगवत्-स्वरूप अर्थात् धर्मिस्वरूप ही है। वेणु के सप्त-रंध्र, षड्-धर्मों सहित-धर्मिस्वरूप के अनुभावक हैं; रंध्रों की सप्त संख्या का यही तात्पर्य है। इस तरह, वेणु-नाद में, भगवान् ने अपने ऐश्वर्यादि छहों धर्मों सहित, धर्मि-रस स्वरूप की स्थापना की है–'गुणसहित-स्वरूपस्थापनं संख्या तात्पर्येणापि ज्ञाप्यते इत्यर्थः' –लेख.।

**अधर-सुधया पूरयन् :**–('एतादृशं वपुर्बिभ्रत्-रंध्रान् वेणोः अधरसुधयापूरयन् वृंदारण्यं प्राविशत्'–इस प्रकार के श्री अंग को धारण करते हुये, वेणु के छिद्रों में अपनी अधरसुधा भरते हुये–प्रभुने वृंदावन में प्रवेश किया" श्लोक का यह अर्थ-संबंध, यहां स्मरण रखना चाहिये।) प्रस्तुत श्लोकोक्त अधर सुधा की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये यहां तीन प्रकार की सुधा का उल्लेख किया गया है। अर्थात् यद्यपि मूलश्लोक में अधर-सुधया इस एक वचन से एक ही सुधा का निर्देश है। तथापि, प्रसंगवशात् अन्य द्विविध-सुधाओं के स्वरूप का भी निरूपण, श्लोकोक्त अधर सुधा की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये–आवश्यक है–सुधा त्रिविधा–सुधा तीन प्रकार की है–देवभोग्या, भगवद् भोग्या तथा सर्वाभोग्या अर्थात् सर्व से अभोग्य।

यह तीनों ही प्रकार की सुधा, भगवान् के अधर में प्रतिष्ठित हैं। यह अधर लोभात्मक है। लोभात्मक अधर में स्थापित होने के कारण ही–यह सुधा तीन प्रकार की है, क्योंकि, यह अधर अपनी लोभ-वृत्ति के कारण, अपने में स्थापित सुधा का वितरण अत्यंत विवेक पूर्वक करता है, जिस की, जितनी, जिस प्रकार की योग्यता उसको, उतनी और उसी प्रकार की सुधा का दान करता है। तदनुसार, भगवान् जिस भक्त का, अपने प्रति, जितना और जिस प्रकार का निरोध करना चाहते हैं, उसको उतनी ही और उसी प्रकार की सुधा का वितरण करते हैं। भगवान् ने व्रजभक्तों को तीन प्रकार की निरोध सिद्धि करायी–प्रेम-निरोध, आसक्ति-निरोध तथा व्यसन-निरोध जो यथाक्रम सामान्य, मध्यम तथा उत्तम कक्षा के माने गये हैं। अतः त्रिविध निरोध के अधिकारी भेद से सुधा भी त्रिविध-वर्ग में विभक्त की गयी–देवभोग्या, भगवद् भोग्या तथा सर्वाभोग्या।

**देवभोग्या सुधा :**–यहां देव शब्द उन सभी सद्-चिद् आदि चेतन-अचेतन पदार्थों के लिये प्रयुक्त हुआ है जो अलौकिक एवं दिव्य हैं तथा जिनका सृजन भगवत्-क्रीडार्थ ही हुआ है। इन में से, गोप, गाय, पशु, पक्षी आदि 'चिद्'-रूप हैं तथा सरिता, सरोवर, वृक्ष, मेघ आदि अचिद्-सद् रूप हैं। भगवान् के साथ क्रीडार्थ ही अवतीर्ण होने के कारण, भगवत्-कृपा से आधिदैविकता को प्राप्त ये गोप, गाय, पशु, पक्षी, सरिता सरोवर, मेघ आदि देव कहलाते हैं–"दिव् क्रीडायाम्-दीव्यन्ति, क्रीड़न्ति इति देवाः–जो क्रीड़ा करते हैं, दिव्य हैं वे देव कहलाते हैं। ऐसी देव-संज्ञावाले, सद्-चिद् आदि में अथवा दिव्य स्त्री आदि में, वेणु-नाद द्वारा स्थापित की गयी सुधा 'देव-भोग्या'-सुधा है। यह सुधा, 'साक्षात् भगवदंशात्मिका-भगवद्-धर्मरूपा है'–लेख तथा–वृ. प्र.। यह सुधा अपने संबंध मात्र से सभी को भगवदीयत्व से संपन्न कर देती है, और, इस तरह भगवदीयत्व से संपन्न तथा आधिदैविक-स्वरूपता को प्राप्त

गोप, गाय, पशु, पक्षी, वृक्ष, मेघ आदि ही भगवद् लीला में उपयोगी माने गये हैं, अन्य नहीं।

**भगवद्-भोग्या सुधा :**–भगवद्-भोग्या सुधा एवं सर्वाभोग्या सुधा, शृंगार रस के ही यथाक्रम द्विविध रसात्मक स्वरूप विशेष हैं। एक संयोग दूसरा विप्रयोग। संयोग शृंगार, पूर्व दलात्मक तथा विप्रयोग शृंगार उत्तरदलात्मक है। साक्षात् अंग-संबंध-पूर्वक बाह्य-रमण, शृंगार रस का पूर्वदलात्मक स्वरूप है। अग्रिम-रासोत्सव प्रसंग में निरूपित संयोग-शृंगार में, भगवान् ने, भगवद्-भोग्या स्वकीय स्वामिनी के अधरों से जिस सुधा का पान किया वह भगवद् भोग्या सुधा कहलाती है। संयोग-शृंगार-कालीन मुख्य लीला में भगवद् भोग्य होने के कारण, यह सुधा पूर्व-दलात्मक अतएव साक्षात् संयोग-स्वरूपभूत, आनंद ही है। 'मुख्य लीलायां भगवतो भोग्या पूर्व-दलात्मकस्वरूपभूतानन्द इत्यर्थः'–लेख.। यहां यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि भगवद्-भोग के योग्य वही पदार्थ माना जाता है, जिस को भगवद्-अधर सुधा से संबंध प्राप्त हुआ हो, जिस में भगवद्-अधर सुधा स्थापित की गयी हो। भगवद्-अधर सुधा संबंध से रहित, यावत् पदार्थ, भगवत्-क्रीड़ा में अनुपयुक्त हैं। प्रस्तुत प्रसंग में, शृंगार की इस विप्रयोगात्मक अर्थात् उत्तरदलात्मक अवस्था में, भगवान् ने गोपांगनाओं को अग्रिम मुख्य लीला में स्व भोग्य की योग्यता से संपन्न करने के लिये, वेणुनाद द्वारा, स्वकीय अधर-सुधा की, उनके हृदय में स्थापना की, जब इन गोपीजन ने गुणानुवर्णन प्रारंभ किया, तब गुणानुवर्णन के साथ ही बाहर निर्गलित होती हुयी, इस भगवद्-अधर सुधा से, इनके अधरों को संबंध प्राप्त हुआ। रमण-कालीन मुख्य लीला प्रसंग में, भगवान् ने, स्व-भोग्य की योग्यता को प्राप्त इन ही गोपांगनाओं के अधरों से जिस सुधा का–संयोगानन्दरूपा पूर्वदलात्मक स्वरूपा-सुधा का–पान किया, वही भगवद्-भोग्या सुधा है।

**सर्वाभोग्या सुधा :**–भगवद् अधर सुधा का पान साक्षात् उच्छिष्ट-रीति से, मुख से, असंभव है। प्रभु के अधर से अपने अधर द्वारा, इस सुधा का साक्षात् पान कौन कर सका है? जैसे प्रतिपादित किया जा चुका है–शृंगार की यथाक्रम दो अवस्थायें हैं–एक उत्तरदलात्मक वियोग की, दूसरी पूर्वदलात्मक संयोग की। शृंगार की उत्तरदलात्मक अवस्था में अर्थात् विप्रयोग की प्रस्तुत-स्थिति में, प्रभु की अधर-सुधा का पान, गोपांगनाओं द्वारा साक्षात् मुख से असंभव है, क्योंकि, प्रभु वृंदावन में है, व्रजदेवियां सुदूर व्रज में हैं। शृंगार की पूर्वदलात्मक संयोग अवस्था में भी, इस अधर सुधा का साक्षात् मुख द्वारा पान, उसी स्वामिनी को संभव है जो ब्रह्मानंद से संपन्न तथा लक्ष्मी समान विग्रह को प्राप्त हो; इसिलिये यह सुधा, सभी से ही

अप्राप्य कही गयी है–हर कोई इस का पान नहीं कर सकता–'सर्वैरपि मुखद्वारा-ऽभोग्या उत्तरदलात्मक–सारभूतानन्द इत्यर्थः'–लेख.। साक्षात् मुख द्वारा, सभी से ही, इसका भोग असंभव है क्योंकि, यह सुधा, उत्तरदलात्मक-शृंगार की, स्वरूप-भूत-आनंद है। अतः नाद द्वारा, श्रोत्रमार्ग से प्रवेश करती हुयी जब यह हृदय में आती है, तब, वहां ही इस की अनुभूति होती है। गुणानुवर्णन द्वारा बाहर निकलती हुयी यह अवश्य मुख को उच्छिष्ट बनाती है, किंतु, वर्तमान विप्रयोग प्रसंग में, गोपांगनाओं के लिये, अपने इस उच्छिष्ट मुख से, प्रभु की इस सुधा का साक्षात् भोग अप्राप्य ही है–प्रस्तुत विप्रयोग की अवस्था में तो इसका साक्षात् पान कर्ण-द्वारा ही संभव है, मुख द्वारा नहीं-अतः उत्तरदलात्मक–विप्रयोग-शृंगार का स्वरूप-भूत-'आनन्द'–होने के कारण, यह सुधा-रस श्रोत्र द्वारा ही पेय है, साक्षात् मुख द्वारा पान तो शृंगार की पूर्वदलात्मक अवस्था में ही संभव है'–लेख.।

"इसी आशय में यह सुधा, सर्व से अभोग्य कही गयी है–अर्थात् इस अधर–सुधा का भोग सर्वजन-सुलभ नही है, केवल सर्वात्मभाव वाली भगवद्-भोग्या स्वामिनी ही, अग्रिम मुख्य रासोत्सव प्रसंग की संयोग-लीला में ही, इस का भोग स्वमुख से कर सकेंगी। वर्तमान विप्रयोग की अवस्था में वेणुनाद द्वारा स्वामिनी के अधरों में स्थापित की गयी सुधा का अर्थात् स्वामिनी-अधर-निष्ठ सुधा का पान, अग्रिम संयोग लीला में प्रभु, जब कर लेंगे, तब रसाधिक्य से–स्वामिनी साक्षात् स्वमुख से–उच्छि-ष्टतया-भगवान् की अप्राप्य, दुर्लभ अधर-सुधा का पान करेंगी। किंतु, यह सब अग्रिम फल प्रकरण का संयोग-शृंगार से संबंधित प्रसंग है। प्रस्तुत अध्याय में तो शृंगार के उत्तरदलात्मक विप्रयोग का निरूपण किया जा रहा है। भगवान् वृंदारण्य में हैं, और गोपीजन सुदूर व्रज में–अतः भगवद्-अधर-सुधा का, साक्षात् उच्छिष्ट मुख से, पान अप्राप्य है। अतः संप्रति, व्रजदेवियां, इस अधर-सुधा का, केवल वेणु-नाद द्वारा, स्व श्रोत्र से ही पान कर सकती हैं। कर्ण ही नाद का ग्रहण करते हैं, सुधा, नाद से संवलित है, अतः, नाद संवलित यह सुधा श्रोत्र मात्र से ही पेय है 'श्रोत्र पेयैव सा'। तात्पर्य यह है कि संयोगावस्था में, भगवद् अधर-सुधा साक्षात् पेय होते हुए भी, विप्रयोगावस्था में तो इस का पान कर्ण-द्वारा ही संभव है। तदुपरांत, भगवद्-भोग के योग्य–आधिदैविक देह से संपन्न भक्तों को ही भगवद्-अधर-सुधा के साक्षात् भोग की उपलब्धि होती है–अन्य, गाय, सरिता, सरोवर, वृक्ष, लता, हरिणी, गोप, मेघ आदि को तो आधिदैविक स्त्री-विग्रह के अभाव में, वेणु-नाद द्वारा, श्रोत्र से ही, यह सुधा-पान प्राप्त होता है–साक्षात् नहीं। अर्थात् श्रीयमुना के अतिरिक्त सुधा के साक्षात् भोग से ये सभी वंचित हैं–और, इसी अर्थ में यह सुधा

सभी ही से अभोग्य कही गयी है। और, क्योंकि, इसका साक्षात् पान इस तरह किसी को भी प्राप्त नहीं है,: इसीलिए त्रिविध-सुधा के निरूपण प्रसंग में, इस सुधा को जो सर्वाभोग्या कहा गया है वह उचित है''—योजना।

यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि, सर्वाभोग्या तथा देवभोग्या सुधा-इस उभय-विध सुधा में, भगवद्-भोग्य भक्त की समस्त देह-इन्द्रिय-प्राण अन्तःकरण जीव आदि को तथा देव-वाच्य गोप, गाय, सरिता, वृक्ष, लता आदि को, भगवदीयत्व से संपन्न कर देने की अचिंत्य शक्ति है—'सा-(सर्वा भोग्या देवभोग्याच) हि सर्वेषां भगवदीयत्वं संपादयति'—सुबो. लेख.।

**आनन्द एव सा प्रकटा द्रवीभूता :—**यहां संप्रति, विप्रयोग की आनन्दरूप अवस्था में प्रकट होने के कारण यह सर्वा भोग्या सुधा-साक्षात् 'आनन्द' ही है। तथा अपने निःशेष अंश सहित, अविकल रूप में प्रकट हुयी है। गोपांगनाओं के अणु-अणु से-सर्वांशों से संबंध करने के लिये—सर्वांश-संबंधार्थम्-विरल रूप से (Rarefied) अत्यंत सूक्ष्म रूप से आविर्भूत हुयी है—'अत्र सांप्रतं वियोगावस्थायाम्—आनन्दे एव प्रकटा द्रवीभूता'—सुबो.। यह सुधा, ब्रह्मानन्द से भी अधिक, आनन्द की सारभूत है। विप्रयोग-शृंगार रस साक्षात् आनन्द-रूप माना गया है। यहां यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि भगवान् आनन्दरूप भी है और आनन्दमय भी। भगवान् के इस द्विविध स्वरूप का उल्लेख श्रुति ने किया है 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'—यहां ब्रह्म को 'आनन्द-रूप' कहा है। 'तस्मात् वा एतस्मात् विज्ञानमयात् अन्योन्तर आत्मा आनन्दमय': इस विज्ञानमय आत्मा से अन्य एक और अन्तर-आत्मा है जो आनन्दमय है—यहां ब्रह्म को—'आनन्दमय' कहा है। संयोगावस्था में, सर्व सामग्री सहित आविर्भूत होने के कारण—और, इस समग्र सामग्री के आनन्दरूप होने कारण यहां भगवान् 'आनन्दमय' कहलाते हैं—तथा विप्रयोगावस्था में आनन्दरूप, क्योंकि यहां सामग्री भगवान् में अभेदरूप से स्थित रहती है—जैसे स्वर्ण के आभूषणों सहित स्वर्ण, 'स्वर्ण मय' कहलाता है, किंतु, स्वर्ण के आभूषणों की स्वर्ण में ही अभेदरूप से स्थिति के कारण, स्वर्ण, स्वर्णरूप ही कहा जाता है। तदनुसार, वर्तमान प्रसंग में, गोपांग-नायें, भगवान् से वियुक्त सुदूर व्रज में स्थित हैं, अतः, इन गोपीजन का यह 'विप्र-योगात्मक-रसस्वरूप भगवान्', साक्षात् आनन्द-पद-वाच्य आनन्द ही है। इस आनन्द-पद-वाच्य, आनन्द-रूप प्रभु में, संप्रति यह सुधा प्रकट हुयी है; और क्योंकि, व्रजांगनायें सुदूर-व्रज में स्थित है, अतः इनको यह सुधा वेणु-नाद द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, स्वमुख से साक्षात् भोग रूप में नहीं; शृंगार की उत्तरदलात्मक अवस्था में, साक्षात् भोग की संभावना ही कैसी ?—योजना। यह सुधा, द्रवीभूता विरल अवयवा है, अतः विरलरूप सूक्ष्म 'नाद' को ही इसका संवाहक बनाया गया है।

उत्तर-दलात्मक-स्वरूपभूत 'आनन्द' ही होने के कारण, यह सुधा ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द की भी सारभूत है। भगवद्-अवयवों से संबंधित, जितने भी आनन्द-रूप भोग्य पदार्थ हैं, उन सभी में, यह भोग्य सुधा, साररूप है 'आनन्दरूपेषु भगवद्-अवयव-संबंधि-भोग्यपदार्थेषु सारभूता'–योजना। भगवद् श्रीविग्रह के किसी अवयव में सौरभ है तो किसी अवयव में लावण्य, किसी में माधुर्य, किसी में, सुकुमारता-जिसका उपभोग, भक्तजन, घ्राणेन्द्रिय से, नेत्र से, मुख से, आलिंगन आदि से करते हैं। इन आनन्द-रूप भोग्य-पदार्थों में भी, यदि कोई सारभूत पदार्थ है, तो वह भगवद्-अधर में प्रतिष्ठित सुधा ही हैं। लौकिक-आनन्द में भी–अधर रस को रति-सर्वस्व अवश्य कहा है–'पिबसि रतिसर्वस्वमधरम्'–किंतु, प्रभु के तो सभी अवयव संबंधी सभी भोग्य-पदार्थ सार-रूप हैं, तो फिर, उनमें सार असार का यह विवेक कैसा? तदनुसार, सारत्व की कल्पना ही कैसी? इस शंका का समाधान, श्रीमद्-आचार्य-चरण 'सारत्व'-शब्द से करते हैं। 'स्वोक्तं सारत्वं स्वयमेव व्याचक्षते' कि भगवान् के अधरातिरिक्त अन्य भोग्य अवयवों में तो साधनत्व एवं फलत्व दोनों ही हैं। जैसे, भगवान् का श्री हस्त, भक्त को अपने समीप बुलाने में, उसके आनन्द का साधन-हेतु हैं, किंतु, भक्त को साक्षात् स्पर्श आदि करने में, यही श्री हस्त, भक्त के लिये फलरूप भी है। किंतु, अधर-सुधा के विषय में यह कथन अयुक्त है। अधर-सुधा में, श्री हस्त की तरह साधनत्व नहीं है, इस में तो सर्वदा एकांत फलत्व ही है। यह सुधा, किसी भी तरह, साधनता को प्राप्त नहीं होती–'सा न कथंचित् साधनता-मापद्यते'–सुबो.। साधनान्तर से भी यह अप्राप्य अतएव फल-रूप हैं। यह सुधा न तो फलान्तर की प्राप्ति कराने में साधन है और न साधनान्तर से उपलब्ध की जा सकती है। किंतु, यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि भगवद्-अधर-सुधा, गोपीजन के मुख को, भगवद्-अधर भोग की योग्यता से संपन्न करती है, भगवद्-भोग करने में योग्यता का संपादन करती है। अतः इस से तो यही सिद्ध होता है कि भगवद्-अधर-सुधा, भक्त को, भगवद्-भोग की योग्यता प्राप्त कराने में साधन रूप है–अतः यह कथन कि भगवद् अधर सुधा में साधनत्व नहीं है–असंगत है। इस शंका का समाधान यह है कि–"यद्यपि, यह सुधा, गोपांगनाओं के मुख को, भगवद्-भोग के योग्य अवश्य बनाती है–'मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोति'–इस प्रकार की साक्षात् भोग की योग्यता-प्राप्ति कराने में यह अवश्य साधन-रूप है, तथापि 'श्रोत्र द्वारा पेय-सुधा' में ही यह साधन रूपता है 'तथापि श्रोत्रपेयाया एव साधनत्वम्'–अर्थात् श्रोत्रपेयासुधा, भगवद्-भोग की योग्यता-प्राप्ति में ही, साधन-रूप है–और इस तरह यहां भी, स्वप्राप्ति में ही यह साधनरूप है, किसी अन्य स्थानीय–सुधा की प्राप्ति में नहीं'। 'तत्रापि, स्वप्राप्ता-वेव साधनत्वं, नत्वितरत्र'। यहां तो, साक्षात् उच्छिष्ट-रीति से, संयोगावस्था में,

भोग्य जो भगवद् अधर-सुधा है, उसी को एकांत केवल फलरूप माना गया है–'साक्षात् उच्छिष्टरीत्या भोग्यायास्तु केवलं फलत्वम्'। एकांत, परमोत्कृष्ट फलरूप इस सुधा का पान, भोग्य अवस्थापन्न पुष्टि-पुरुषोत्तम के अधर से, भोक्ता-अवस्थापन्न स्वामिनी को ही उपलब्ध है, और अपनी यह उपलब्धि यह सुधा स्वयं ही कराती है। इसीलिये, यह भगवद्-अधरसुधा, भगवद् अवयव संबंधी अन्य भोग्य पदार्थों से विलक्षण है, अन्य भोग्य-पदार्थ साधन-रूप भी है, यह सुधा, साधन रूप नहीं, केवल फल रूप है। और इसीलिये यह सुधा 'आनन्द' की भी सारभूत है और यही 'सारत्व' का आशय है– 'इदमेव सारत्वं नाम-भोक्तृभिर्लभ्यमानत्वात्''–योजना।

**वेणोः रंध्रान्** :–साधनान्तर से अप्राप्य, इस सुधा की उपलब्धि, गोपांगनाओं को किस तरह करायी जाये? और, गोपांगनायें, संप्रति, सुदूर-व्रज में ही स्थित हैं !!! तदुपरांत यह सुधा, अत्यंत विरल अवयवा अर्थात् सूक्ष्म तथा अमूर्त है। इतना ही नहीं, लोभात्मक अधर में प्रतिष्ठित होने के कारण, किसी जगह यह स्वतः गमन ही नहीं करती। "सा न कथंचित् साधनतामापद्यते स्वतः"–सुबो.। लोभ-स्थत्वात् स्वतो न कुत्रापि याति'–लेख.। यह सब कुछ विचारपूर्वक प्रभु ने इस सुधा की गोपीजन को उपलब्धि कराने के लिये, इस के अनुरूप ही, विरल एवं अमूर्त-नाद-ब्रह्म को इसका संवाहक बनाया। इसे नाद-ब्रह्म से संयोजित करने के लिये, नाद के उत्पत्तिस्थान, वेणु में नहीं, वेणु के छिद्रों में, छिद्राकाश में, प्रभु ने, अपने अधरों से इस सुधा को उडेल दिया, भर दिया।

वेणु के रंध्रों में ही, सुधा को आपूरित करने में, भगवान् का विशेष प्रयोजन था। भगवान् का अभिप्राय इस सुधा को, अस्पृश्य पूर्व तथा अभुक्त-पूर्व रूप में ही, गोपांगनाओं के हृदय-प्रदेश में स्थापित करने का था, इसीलिये इस सुधा को, वेणु में नहीं, किंतु उसके छिद्रों में छिद्राकाश में ही, आपूरित की। यदि वेणु में भरते तो उसे, वेणु का स्पर्श प्राप्त होता, और क्वचित् वेणु उसका भोग भी कर लेता। यह सुधा, वेणु का साक्षात् स्पर्श नहीं करती, इसी का सूचन करने की लिये–'वेणोः रंध्रान्' में, वेणोः तथा रंध्रान्–इन दोनों पदों का समास नही किया गया। 'वेणुरंध्रान्' इस तरह समासान्त एक ही पद का प्रयोग न कर के, समास-विच्छेद पूर्वक दोनों पदों का पृथक् पृथक् प्रयोग किया गया है। दोनों पद पृथक्-असमस्त-होने से, दोनों के वाच्य अर्थ भी पृथक्-पृथक् हैं– तेन पार्थक्यमेव सूचयति तद्-वाच्यानाम्'–यो.। अर्थात् सुधा, वेणु में नहीं भरी गयी, वेणु के छिद्रों में भरी गयी है। छिद्र अथवा रंध्र वेणु का अन्तर्वर्ती आकाश अर्थात् अवकाश (space) है। सुधा इसी छिद्राकाश में भरी गयी। छिद्राकाश, वेणु का अवश्य साक्षात् स्पर्श करता होगा, किंतु, छिद्राकाश में

भरी गयी सुधा को, साक्षात् स्पर्श, आकाश का ही है, वेणु का नहीं–'नहि सा साक्षात् वेणुमपि स्पृशति'–सुबो.। अर्थात्, यद्यपि, वेणु के छिद्राकाश द्वारा परंपरा से सुधा का, वेणु को स्पर्श है, तथापि, छिद्राकाश में ही होने के कारण, यह अधर-सुधा, वेणु का प्रधान रूप से स्पर्श नहीं करती–लेख.। इसीलिये, यह सुधा साक्षात् वेणु में भी नहीं है–क्योंकि, छिद्राकाश, वास्तव में, प्रकृत आकाश ही है, अतः यह सुधा, वस्तुतः आकाश में ही है, वेणु में नहीं। तदनुसार, जब नाद, वेणु के छिद्रों द्वारा बाहर प्रसारित होता है, तब नाद संबद्ध यह सुधा भी, नादके साथ ही प्रस्थान कर देती है। नाद अथवा शब्द आकाश का गुण है, इसीलिये, यह सुधा, नाद में ही है, वेणु-मध्य में नही, आकाश में ही इसकी स्थिति है 'वेणु मध्येऽपि सा न'–सुबो.। तदनुसार, यह सुधा अस्पृष्ट-पूर्वा तथा अभुक्त-पूर्वा ही, नाद से संवलित, श्रोत्र-द्वारा गोपीजन के हृदय में आविर्भूत की गयी ; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् का प्रयोजन यहां केवल वेणु-वादन करने का नहीं था, अपितु, गोपांगनाओं को स्वकीय अधर-सुधा से संपन्न करने का था। अन्यथां, 'वेणुं-वादयन्' वेणुवादन करते हुये, बस, इतना ही कथन पर्याप्त होता, 'रंध्रान् वेणोः अधरसुधया पूरयन्'–वेणु के छिद्रों को, अधर-सुधा से भरते हुये-इस तरह के कथन की श्री शुक को कोई आवश्यकता नहीं थी।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि जब वेणु द्वारा नाद गमन करता है, तब नाद से संबद्ध-सुधा भी उसके साथ ही, गमन करती है। नाद, श्रोत्र-ग्राह्य ही होने के कारण, यह नाद संवलित सुधा, श्रोत्र द्वारा ही हृदय में प्रवेश करती है, और गुणानुवर्णन के समय में, यह नाद-संयोजित सुधा, बाहर निर्गलित होती हुयी और इस तरह गोपीजन के अधरों से समागम करती हुयी, उनको भगवद्-अधर सुधा भोग के योग्य बनाती है।

इस कथन के गूढ आशय को स्पष्ट करते हुये श्रीमत्-प्रभु-चरण कहते हैं कि इस प्रकार की, भगवद्-अधर-सुधा भोग की साक्षात् योग्यता तब तक प्राप्त नहीं होती, जबतक इस सुधांश का, 'रसपूर' द्वारा अंतःप्रवेश नहीं हो जाता–'यावच्च रसपूरेण सोप्यंशो नान्तः प्रविशति तावदपि साक्षात् तद्भोग-योग्यता न भवति'–सुबो.। तात्पर्य यह है कि नाद रसात्मक है, जिस समय यह नाद-रस, जल धाराके समान कर्णद्वारा हृदय में प्रवेश करता है, उस समय भगवदीय के हृदय में, उसकी इन्द्रियों से संबंधित प्रभु-सह रमण करने के विविध मनोरथों की, अभिलाषाओं की, उत्कंठाओं की निर्झरणियां प्रवाहित होने लगती हैं। इन्द्रियों के इन मनोरथरूप रस-निर्झरों से, हृदय में जलधारावत्-प्रविष्ट यह नाद-रस परिपुष्ट हो कर उमड़ने लगता है, यही रसपूर है। जितने उत्कट रस-भावों से परिपुष्ट यह रसात्मक-नाद, उतनी ही उत्कट भक्त की आसक्ति, और जितनी उत्कट यह आसक्ति, उतना

ही उत्कट गोपीजन द्वारा किया गया गुणानुवर्णन। समानशील व्यसन वाली गोपीजन द्वारा, परस्पर में किये गये गुण-वर्णन के रूप में यह परिपुष्ट नाद रस का पूर. उमड़ कर बाहर निर्गलित होने लगता है। यहां, एकत्रित सर्व गोपीजन के हृदय में स्थित भगवद्-अधर-सुधा रस, भगवान् के मुख में स्थित मुख्य अधर रस का ही अंश है। पारस्परिक किये गये गुण-वर्णन द्वारा, हृदय में स्थित यह अधर-सुधा का रसांश जब पर्याय से सभी गोपीजन के हृदय में प्रवेश करता है, तब, उस समय एक अनिर्वचनीय उत्कट भावोदय से, अधर रस के साक्षात् अनुभव की योग्यता प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में, उपर्युक्त गुणानुवर्णन रूप-रस पूर से, जब तक, यह सुधा रस का अंश संपूर्णतया हृदयारूढ़ नही हो जाता, तब तक साक्षात् भगवत्-अधर-सुधा भोग की दुर्लभ योग्यता प्राप्त नहीं होती है। अत: परम-आसक्ति पूर्वक किये-गये भगवद् गुणानुवर्णन रूप रसपूर द्वारा ही, यह अधरसुधा-रसांश संपूर्णतया भगवदीय के हृदय में आरूढ़ होता है, और, यही तो गोपीजनकृत वर्णन का प्रयोजन है–'तत् तत् हृदिस्थो भगवान् स्वगुणान् अन्योन्यं वर्णितान् श्रुत्वा पूर्णो भवति'–गोपांगनाओं के हृदय में स्थित भगवान्, परस्पर में किये गये स्वकीय गुणानुवर्णन को सुनकर, पूर्ण-पुष्ट होते हैं' श्रीहरिरायजी।

(अर्थात्, यह गुणानुवर्णन, गोपांगनाओं की साक्षात् उत्कट आसक्ति-रूप है। यह गुणानुवर्णन ही उद्बुद्ध-रसात्मकता है, नाद-रूप-रसपूर है। यह गुणानुवर्णन, भगवन्-मुखस्थ मुख्य सुधा-रस के अंश से संपृक्त है। श्रोत्रैक-पेय अधर-रस का यह अंश, नाद द्वारा भक्त के हृदय में पूर्व से ही स्थापित किया जा चुका है। सर्व गोपीजन के हृदय में स्थित इसी रस का अंश, गुणानुवर्णन के साथ, अर्थात् रस-पूररूप गुणानुवर्णन के साथ ही, बाहर निर्गमन करता है। परस्पर गुणानुवर्णन-परायणा गोपांगनाओं के हृदय में से, समानरूप से ही यह रसांश, गुणानुवर्णन के साथ बाहर प्रकट होता हुआ पुन: उनके हृदय में श्रोत्र द्वारा यथाक्रम प्रविष्ट होता रहा। पारस्परिक वर्णन का तथा उसके पारस्परिक श्रवण का क्रम इसी तरह गतिमान रहा। इस तरह पारस्परिक वर्णन तथा श्रवण से, आसक्ति भी तदनुसार उत्तरोत्तर उत्कट होती गयी। इस तरह रसपूरात्मक पारस्परिक वर्णन द्वारा, जब तक भगवद्-अधर सुधा का यह रसांश, संपूर्णतया एक दूसरे के हृदय में आरूढ़ नहीं हो जाता, तबतक भगवद्-अधर सुधा भोग की योग्यता नहीं प्राप्त होती। गुणानुवर्णन रूप रस पूर के द्वारा ही, अधर सुधा रस का अंश सर्वशः हृदयारूढ़ होता है, तदनुसार, आसक्ति-निरोध की सिद्धि मिलती है। परस्पर में आसक्ति-पूर्वक किये गये निरंतर भगवद् गुणानुवर्णन से, भगवद्-रस परिपुष्ट होता हुआ सदा के लिये हृदयारूढ़ हो जाता है। हृदय,

जब इस तरह भगवद्-रसाकार रूप बन जाता है, तब, आसक्ति-निरोध की सिद्धि-प्राप्त होती है। गोपीजन कृत गुणानुवर्णन का यही तो प्रयोजन है'–एतदर्थमेव वर्णनम् तदंश–प्रवेशार्थमेवेत्यर्थ:"। वेणु नाद द्वारा, गोपीजन की दृढ़-आसक्ति स्थिर हो गयी' गोपीनां वेणुनादेन दृढ़ासक्तिः स्थिराऽभवत्'।)

**तद्रसप्रवेशे निरोधः सिद्ध :–** हृदय में इस रस के प्रवेश करने पर, हृदयारूढ़ हो जाने पर, भक्त को आसक्ति-निरोध सिद्ध होता है–अर्थात् परस्पर गुणानुवर्णन द्वारा सुधा-भोग के योग्य भक्त-मुख में इस रस का प्रवेश होने पर, इस रस से, मुख का संबंध होने पर ही, आसक्ति-निरोध की अचित्य उपलब्धि होती है। अतः, तत्व-दीप-निबंध के भागवतार्थ प्रकरण में जैसा कहा गया है, उसके अनुसार, प्रस्तुत प्रमेय प्रकरण में, विशेषतः प्रस्तुत १८ वें अध्याय के अंत में, गोपांगनाओं को प्रेम-निरोध के अनन्तर ही, आसक्ति-निरोध की सिद्धि प्राप्त करायी गयी है। इससे पूर्व प्रमाण प्रकरण में, व्रजभक्तों को प्रेम निरोध सिद्ध कराया जा चुका है। आसक्ति, प्रेम का ही उत्तर-भाव है।

**'अतः स्वल्पतरो गोपेषु भोग्यगोपीव्यतिरिक्तासू सर्वेषुच' :–** भगवद्-अधर सुधा के स्वल्प भी प्रवेश किये विना आसक्ति-निरोध सिद्ध नहीं होता अर्थात् जिस भक्त को सुधा का जितना दान, उस भक्त को, निरोध की उतनी ही सिद्धि। तदनुसार, गोपों में, भोग्य गोपीजन के अतिरिक्त अन्य गोपियों में तथा शेष सभी में अर्थात्, गाय, हरिणी, वृक्ष, सरोवर सरिता आदि में, सुधा की प्राप्ति स्वल्पतर है। अतः इनको निरोध इतना ही स्वल्पतर सिद्ध हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्तम निरोध तो केवल भोग्य स्वामिनी-वर्गको ही सिद्ध है–अतः, अहर्निशि सुधानुभव की एकमात्र अधिकारिणी ये ही मानी गयी हैं। अर्थात् निरोध की चरम सिद्धि तो केवल भोग्य गोपीजन को ही प्राप्त है। (१) गोपों को, (२) भोग्य गोपीजन अतिरिक्त अन्य गोपांगनाओं को तथा (३) गाय, हरिणी, वृक्ष, सरोवर, सरिता आदि को–इस तरह देव पदवाच्य–इस समुदाय-त्रयी को, सुधा-भोग रूप निरोध, स्वल्प मात्रा में ही प्राप्त है।

**अतएव निरोधो भक्त्यनन्तरं निरूपितः**–इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुष्टि-सृष्टि में निरोध ही परमोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। इसीलिये, निरोध का निरूपण भक्ति के अनन्तर ही किया गया है। अर्थात्, नवम स्कंध में भक्ति-निरूपण के पश्चात् ही, दशम-स्कंध में निरोध प्रतिपादन हुआ है। प्रभु की दश-विध-लीलाओं में, सोम-सूर्य वंश संबंधित लीला, भक्ति लीला कहलाती है; यह भक्ति, भगवान् की सातवीं लीला है तथा निरोध आठवीं लीला। ( सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊती, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति तथा आश्रय' प्रभु की इन दशविध लीलाओं में

से यहां ईशानुकथा ही भक्तिलीला है, यही सातवीं लीला है इसके अनन्तर ही आठवीं निरोध लीला है।) यहां भक्ति का तात्पर्य, शास्त्रविहिता अत एव मर्यादा भक्ति से है, पुष्टि-भक्ति से नहीं। पुष्टि-भक्त के लिये तो, भक्ति-रस का भोग ही उसका अंतिम फल है। अतः यहां, यह नहीं मान लेना चाहिये कि विहित अथवा शास्त्रीय भक्ति से निरोध-सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है, विहित भक्त को भी, निरोध-फल की भगवान् से याचना करनी ही पड़ती है। इसीलिये तो सोम-सूर्य वंश संबंधित भक्तिलीला के अनन्तर ही, निरोध का निरूपण किया गया है।

भक्ति-स्कंध के अनन्तर ही, निरोध-स्कंध का ही जो प्रतिपादन किया गया, उस का एक अन्य तात्पर्य यह भी है कि भगवत्-सृष्टि में उत्पन्न भक्तों के लिये, भक्ति-रस-भोग रूप पुरुषार्थ का पर्यवसान, भगवद्-अधर-सुधा के भोग में ही है–'सृष्टयुत्पन्नानां भोग एतत्पर्यावसायी'–सुबो.। भक्त के लिये, भगवद्-अधर-सुधा का साक्षात् भोग ही अंतिम-फल है। यदि भक्त को, इस सुधा भोग की प्राप्ति न हो तो भक्त के रूप में उसका जन्म ही व्यर्थ है, और, ऐसे भक्त का ही जीवन, यदि, इस भोग की अप्राप्ति में, निरर्थक है, तो फिर, तदतिरिक्त मर्यादा तथा अन्य प्रवाही जीवों के जीवन की निरर्थकता का सीमा-चिन्ह ही कहां?–नैष्कर्म्यमप्यच्युत-भाव-वर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्'–अच्युत में भक्ति-भाव से विवर्जित ज्ञान, पर्याप्त-निर्मल होता हुआ भी, शोभा से शून्य ही होता है। भक्ति से शून्य, जब, ज्ञानी की यह दशा है, तो तदतिरिक्त जीव की अशोभा का, उस के जीवन की निरर्थकता का, कैमुतिकी न्याय से वर्णन ही कैसा? पराग अथवा सौरभ से शून्य कमल कदापि स्पृहणीय नहीं होता!!!

**अतो निरोधो महाफलः**:–इसीलिये, यह निरोध ही 'महाफल' है। अब, यदि निरोध को ही महाफल मान लिया गया और, यदि, दशम-स्कंधीय आठवीं लीला में ही, निरोध-सिद्धिसुलभ भगवद्-अधर-सुधा-भोग की प्राप्ति हो गयी, तो फिर, अग्रिम दोनों ही लीलाओं का, अर्थात् एकदश-स्कंधीय मुक्ति-लीला का तथा द्वादश-स्कंधीय आश्रय-लीला का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। जीव के लिये, सुधा का अनुभव ही परम-फल है, इसी परम-फल की उपलब्धि, यदि उसे दशम स्कंधीय निरोध-लीला में ही हो गयी, तो फिर, उस के लिये इस से भी अधिक अग्रिम और कौन सी उपलब्धि शेष रह जाती है? 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यतेनाधिकं ततः'–इस को प्राप्त करके, इस से अधिक और कोई लाभ न वह चाहता है और न वह मानता है। इस दृष्टि से, एकादश तथा द्वादश-स्कंधों में यथाक्रम निरूपित मुक्तिलीला तथा आश्रय लीला-यह उभय-लीला निरर्थक है। इस शंका के समाधान में यह कथन है कि–

**'ततो विमोचनं स्वाश्रयप्रापणं च प्रत्यापत्तिः'** :–निरोधलीला के अनन्तर मुक्ति तथा आश्रय लीला केवल 'प्रत्त्यापत्ति'-रूप है, जिसमें, भक्त को, उसके पूर्व भाव की, अर्थात् भगवद्-रूपता की प्राप्ति का निरूपण किया गया है। मुक्ति तथा आश्रय फलरूप नहीं है, किंतु भक्त की, पूर्वभाव-संपादन-रूप अर्थात् भगवद्-रूपता की प्राप्ति रूप, अवस्था विशेष है, जिसे प्रत्यापत्ति कहते हैं। अतः मुक्ति और आश्रय पुष्टि-भक्ति की अंतिम उपलब्धियां नही हैं, पुष्टि-भक्ति का परमोत्कृष्ट-फल तो निरोध-सुलभ, भगवद्-अधर-सुधा का साक्षात् पान करना ही माना गया है। जिन जीवों की सृष्टि भगवद्-लीलार्थ की गयी है, और, जो संप्रति, पुरूषोत्तम-सायुज्य रूप मुक्ति को प्राप्त होकर, भगवत्-स्वरूप में स्थित हैं, ऐसे जीवों को, भगवान, परम अनुग्रहपूर्वक, नित्य-लीलार्थ स्वकीय भक्त-वर्ग के साथ, लीला-रस की निगूढ़ अनुभूति कराने के लिये, अपने स्वरूप से वियुक्त-पृथक्-करते हैं, बाहर निकालते हैं, तथा लीला-रस का अनुभव कराके, पुनः अपने ही स्वरूप में स्थित कर लेते हैं, इसे ही 'पूर्व-भाव-संपादन' कहते हैं। भगवत्-स्वरूप में से जीवों के इस वियोजन को, बहिः निष्कासन को, विमोचन कहते हैं। लीलार्थ-सृष्ट जीवों के लिये, भगवत्-कृत यह विमोचन ही मुक्ति है। देहेन्द्रिय प्राणान्तःकरण आदि से रहित होकर, भगवत्-स्वरूप में स्थिति रूप मुक्ति से भक्त को क्या प्रयोजन ? वह तो सर्वेन्द्रियों से, नित्य-लीला मध्यपाती भक्तों के साथ, लीला-रस का अनुभव करने के लिये, भगवान् के साथ क्रीड़ार्थबहिः स्थिति चाहता है। अतः भगवत् सह-रसानुभव करानेवाला यह विमोचन ही, भगवद्-स्वरूप में स्थिति रूप मुक्तित्व भाव से यह विमोचन ही, उसके लिये यथार्थ मुक्ति है–और विमोचन-रूप इसी मुक्ति का निरूपण एकादश-स्कंध में किया गया है।

तत्वों के संधान-रूप इस देह के परित्यागपूर्वक अक्षर-ब्रह्म में लय-भाव की प्राप्ति ही मर्यादामार्गीय-मुक्ति है। इस स्थिति में, जीव, ब्रह्म में लय-भाव को, ब्रह्म-रुपता को प्राप्त होता है–यो हि मुच्यते स संघातं परित्यज्य ब्रह्मणि लीयते, ब्रह्मभावं वा प्राप्नोति'। यह अक्षर-सायुज्य है तथा ज्ञान मार्गीय को अभिलषित है। शुद्ध-पुष्टि भक्ति में इसका कोई मूल्य नहीं–निरर्थक है। किंतु, पुष्टिमार्गानुसार, पुरुषोत्तम सायुज्य में, भगवान्, भक्त की पांच भौतिक देह का संवरण करके. उसको अपने स्वरूप में स्थिति करते हैं। इस प्रकार की यह स्थिति भी, शुद्ध-पुष्टि-भक्ति का चरम फल नहीं है। अपने स्वरूप में स्थित ऐसे भक्त को, अपने साथ क्रीड़ा करने के लिये भगवान्, स्वस्वरूप में से बाहर निकालते हैं। भगवत् स्वरूप में से, भक्त का, क्रीड़ार्थ यह निष्कासन विमुक्ति-विमोचन कहलाता है। भगवत्-स्वरूप में से भक्त का, भगवान् के साथ लीला रस की अनुभूति के लिये यह निर्गमन-विमोचन-

भगवान् के निरतिशय अनुग्रह द्वारा ही प्राप्त होता है–जीवस्य 'पंचभौतिकं निवर्त्य अलौकिकं दत्वा, स्वस्मिन् स्थितिं विधाय, ततो निष्कास्य, स्वलीलानुभवः प्रभुकारितः'। एकादशस्कंध में 'मुक्ति' शब्द का प्रयोग इस प्रकार के 'निष्कासन' अथवा 'विमोचन' के अर्थ में किया गया है। श्रीमद् आचार्य-चरणोक्त मुक्ति का यही लक्षण है–'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः'। मुक्ति का अर्थ है अन्यथा रूप के अर्थात् जीव-भाव के त्याग-पूर्वक लीलोपयोगी स्वरूप में स्थिति करना–यहां 'स्वरूपेण व्यवस्थितिः' का अर्थ है "लीलोपयोगी-स्वरूप में स्थिति"। लीलार्थ-सृष्ट जीव की, लीलोपयोगी स्वरूप में ही स्थिति को 'मुक्ति' कहते हैं–'लीलोपयोगित्वेनैव स्वरूपेण स्थितिः मुक्तिः'–वृ॰ प्र.। तदनुसार, पुरुषोत्तम-सायुज्य-मुक्ति को प्राप्त करके जो जीव, भगवत्-स्वरूप में, स्थित है–ऐसे जीवों का, स्वान्तः स्थितत्व रूप मुक्तित्व भाव से विमोचन ही एकादश-स्कंध का अर्थ है–'स्वान्तः स्थितत्वरूप–मुक्तित्व भावान्मोचनमेकादशार्थः'––वृ. प्र.। लीला रस का अनुभव कराने के लिये, भगवान्, इस तरह स्व-स्वरूप में से विमोचित जीवों को, आधिदैविक देहेन्द्रिय प्राणान्तः करण से संपन्न भी करते हैं। इस तरह, भगवत्-स्वरूप से, यह विमोचन अर्थात् लीला रस के अनुभवार्थ लीलोपयोगी-स्वरूप में यह स्थिति ही मुक्ति है–और प्रभु की, एकादश स्कंध में, यही मुक्ति-लीला है।

द्वादश स्कंध में, प्रभु की 'आश्रय-'लीला का निरूपण किया गया है। वास्तव में, भगवान् स्वयं 'आश्रय' हैं। जिसमें अथवा जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होता है, तथा जो सृष्टि के आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक स्वरूप का वेत्ता-ज्ञाता है, उसे ही 'आश्रय' कहते हैं–और, यदि कोई ऐसा आश्रय है तो वह साक्षात् भगवान् ही हैं। यही आश्रयरूप भगवान्, स्वस्वरूप से विमोचित-एकादश-स्कंधोक्त जीवों को, नित्य-लीला-मध्य-पाती भक्त-वृंद के साथ, लीला रह की अनुभूति कराके पुनः अपने स्वरूप में ही समेट लेते हैं, अपने ही आश्रय में कर लेते हैं, और, यही आश्रय-लीला है। जीव की यह पुनः पूर्व-भाव संपादनरूप भगवत् रूपता की प्र प्ति-रूप, स्थिति है–अर्थात् जीव को, भगवान् पुनः स्वस्वरूप में पूर्ववत् स्थित कर लेते हैं–इसे ही प्रत्यापत्ति कहते हैं–'पुनः पूर्वभाव-संपत्तेरेव प्रत्यापत्ति-पदार्थत्वात्'–श्रीमत्प्रभु-चरण। और, यही द्वादश-स्कंध का विषय है। भगवत्-स्वरूप में से लीला रसानुभव कराने के लिये भक्त के इस विमोचन से लेकर तथा लीलानुभावन के अनन्तर पुनःस्वस्वरूप में आश्रयीकरण पर्यंत समग्र लीला-प्रत्यापत्तिरूप है–लीला द्वयं प्रत्यापत्तिरूपम्–लेख.। इस से यह सिद्ध हो जाता है कि एकादश तथा द्वादशस्कंध में यथाक्रम-निरूपित विमोचनरूप मुक्ति तथा आश्रय–

यह प्रत्यापत्ति रूप उभय-लीला, फल-रूप नहीं है, फल रूप तो दशम स्कंधोक्त 'निरोध लीला' ही है।

उपर्युक्त विवेचन से, एकादश तथा द्वादश स्कंध की तथा उनमें निरूपित मुक्ति एवं आश्रय लीला की सार्थकता तो सिद्ध हो ही जाती है, तदुपरांत, निरोध को ही परम-फल मानने में जो शंका की गयी उसका भी समाधान हो जाता है, अर्थात् निरोध की परम-फलरूपता भी प्रतिपादित हो जाती है। इस तरह, निरोध की परम-फल-रूपता में न कोई क्षिति हुयी, और, मुक्ति तथा आश्रय के लक्षण वाक्य भी अक्षुण्ण रहे, उनके मूल-अर्थ में तोड़ मरोड़ भी नहीं करनी पड़ी–अर्थात् इन दोनों का अर्थ करने में लक्षणा-वृत्ति का सहारा लेने की भी आवश्यकता नहीं रही–न हि स्कंध द्वयवैयर्थ्यं, नापि प्रस्तुतस्य-निरोधस्य-परम फल हानिः, नापि लक्षणावाक्य-वैयर्थ्यं लक्षणापत्तिर्वा इत्यर्थः–वृ. प्र.।

इस तरह, मुक्ति तथा आश्रय के मूल अर्थ के अनुसार ही, श्रीमद्-आचार्य-चरण ने स्कंध-द्वय की सार्थकता को सिद्ध करते हुये, 'निरोध ही महाफल है'–अपने इस सिद्धांत का युक्ति-युक्त सहज प्रतिपादन भी कर दिया।

मुक्ति तथा आश्रय के पूर्वोक्त तात्पर्य को, श्रीमद्-आचार्य-चरणोक्त कारिका द्वारा इस तरह स्पष्ट किया गया है–निरोध-लीला मुक्तानां मुक्ति स्तदनुवर्ण्यते-मुक्तानामाश्रयः कृष्णो नान्येषामिति शास्त्रतः'। अर्थात् निरोध-लीला द्वारा, जिन भक्तों को प्रपंच-विस्मृति-पूर्वक भगवद्-आसक्तिरूप निरोध-सिद्ध कराने की इच्छा है–ऐसे निरोधनीय भक्तों की मुक्त–अर्थात् स्वस्वरूप में से मोचन, एकादश स्कंध का विषय है। तदनन्तर, द्वादश-स्कंध में, इस तरह विमुक्त किये गये भक्तों के 'आश्रय' का प्रतिपादन किया गया है, और, यह आश्रय साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इस तरह से मुक्त किये गये भक्तों के ही श्रीकृष्ण 'आश्रय' हैं तदतिरिक्त जीवों के नहीं। वास्तव में देखा जाये तो, पुष्टि-मार्गीय मुक्ति, मर्यादा-मार्गीय मुक्ति से सर्वथा भिन्न, विपरीत तथा विलक्षण है। श्री मद्-आचार्य-चरण ने इसी मुक्ति का, एकादश स्कंध में विमोचन रूप से प्रतिपादन किया है। परम-अनुग्रह पूर्वक स्वकीय-लीलारस का अनुभव कराने के लिये, स्वान्तः स्थित जीवों का स्वरूप में से, प्रभु-द्वारा विमोचन ही श्रीमद्-आचार्य-चरण के मत में मुक्ति है–अर्थात् भगवत्-स्वरूप में स्थितित्व रूप मुक्तित्व भाव से मोचन तथा इस प्रकार लीलोपयोगी स्वरूप में, ब्रह्मानंद से भी अधिक भजनानंद-दायिनी रसमयी लीला की अनुभूति को ही मुक्ति कहते हैं, तदतिरिक्त, मुक्ति के अन्य प्रकार, भक्त

के लिये निरर्थक हैं। निरोध को ही परम-फल मानने के कारण, विमोचन रूप मुक्ति का यह प्रतिपादन सुंदर तथा भागवत शास्त्र के स्कंध-क्रमानुसार है।

स्वकीय-भक्तों का, अपने में एकांत निरोध करने के लिये ही, भगवान् ने अपनी दश-विध-लीलायें प्रकट की हैं। प्रपंच-विस्मृति पूर्वक, भगवान् में परम-आसक्ति ही निरोध है। जितनी उत्कट आसक्ति उतनी ही निगूढ़ रसानुभूति। अतः, यह रसानुभूति ही भक्त के लिये परम पुरुषार्थ है, मुक्ति अथवा मोक्ष नहीं। अपने भक्त को, स्वकीय रसात्मक अनुभव कराने के लिये ही, भगवान्, भक्त द्वारा भोग्य बनते हैं। भगवद्-आनन्द को प्राप्त कर के ही तो, यह सचराचर जगत् 'आनन्दित' होता है–'रसं ह्यैवायंलब्ध्वानन्दी भवति'–यही जीव मात्र को आनन्द देता है 'एष ह्यैवा-नन्दयति'। भगवान्, इसीलिये तो, भोग्य बनते हैं।

परब्रह्म में आत्मारामत्व तथा पूर्णकामत्व आदि धर्म माने गये हैं, तथापि, भक्तों पर, अपने परम अनुग्रह एवं भक्तों की, अपने प्रति एकांत अनुरक्ति के कारण, वह मर्यादा का भी उल्लंघन करके, भक्तों के आधीन होकर, उनकी इच्छानुसार लीला करते हैं। भक्त-द्वारा, रज्जु-पाश से बद्ध होना भी, स्वीकारते हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है कि 'मैं अस्वतंत्र की तरह, भक्त-पराधीन हूं, तथा सती स्त्रियां जिस तरह, अपने पति को वश में कर लेती हैं, उसी तरह, भक्त, मुझे भक्ति से, अपना दास बना लेता है। अतः, रस की उत्कटता में रस की चरम-अनुभूति काल में, जब भुक्त होती हुयी स्वामिनी में, भोक्ता-भाव का उदय होता है, तब, भगवान्, स्वामिनी द्वारा भोग्य बनते हैं, अर्थात्, स्वामिनी भगवद्-अधर सुधा का साक्षात् स्वमुख से, पान करती है। यही 'मुख्य-रस-भोग' है, रसानुभव की यही चरम कक्षा है। इस अवस्था में, भक्त, प्रभु के अचिंत्य, अकल्प्य तथा अप्राप्य स्वरूपानंद-रूप रस का पान करता है। परब्रह्म, जिसे श्रुति ने 'रसो वै सः' कहा है, जो "सर्वरस" है, वही परब्रह्म अपने आनन्दात्म-रस का पान भक्त को कराता है!!! भक्त को, भगवान् का सुदुर्लभ, रस-पद्धति से सम्मत, किंतु, अद्भुत, यही स्वस्वरूपभूत आनन्दात्मक-निजा-नन्दरूप 'रस' का दान है। निरोध के फलरूप में, भक्त को, इसी 'मुख्य रस' भोग की सिद्धि मिलती है–'जाते निरोधे तेनैव भगवत्कारिते सुधानुभवे च सिद्धे–इत्यर्थः' वृ. प्र.। अतः, भगवद्-लीला-सृष्टि में, यह रसानुभूति ही परम पुरुषार्थ रूप है। तदनुसार, सायुज्यादि मोक्ष के प्रकार, इस रसोपलब्धि के समक्ष नितांत हेय तथा अरुचिकर है। देहेन्द्रिय आदि का 'रसो वै सः' परब्रह्म में विलीनीकरण एक बात है, और, इसी 'रस' का देहेन्द्रिय आदि से साक्षात् सिद्धि की चरमता। प्रभु के श्री अंग से, जिनकी सृष्टि की गयी है, ऐसे शुद्ध-पुष्टि जीव को इस प्रकार का रसानुभव, विलीनीकरण की

अपेक्षा एकांत रूप से स्पृहणीय है। प्रभु ने, जीव को, देह, इन्द्रियां, प्राण, अंतःकरण आदि से संपन्न किया है, क्यों ? अपने स्वरूपानंद का संपूर्ण उपभोग कराने के लिये, स्वस्वरूपानंद की उस रसानुभूति के लिये जो अक्षय और निरंतर है, काल से अतीत है, कर्म विपाक से रहित है, जो प्रतिक्षण नूतन है। यही 'रस' संपूर्ण भगवद्-लीला-सृष्टि का प्राण है–इसी 'आनन्द' से सचराचर अनुप्राणित हैं–को ह्योवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्' । यदि यह 'आनंद' अनाविर्भूत ही रहता, तो, प्राण से रहित देहादि की जितनी उपयोगिता अथवा निष्प्रयोजनता, उतनी ही निरर्थकता इस 'रस' से शून्य लीला-सृष्टि की–इस प्रपंच की।

स्वामिनी रूप आलंबन के अभाव में, इस 'रस' का आविर्भाव ही असंभव था। इस 'रस' की उपलब्धि कराने के लिये, विश्व को अनुप्राणित करने के लिये, उसकी स-प्रयोजनता के लिये ही तो, वस्तुतः लीला-सृष्टि का आविर्भाव किया गया है। यह 'रस' भूतल पर सर्वत्र प्रकट नही होता, जिस तरह देह के एकांत प्रादेश-मात्र हृदय-प्रदेश में, हृदय के एकांत कोण में, प्राण का स्पंदन होता है, एवं समग्र देह अनु-प्राणित रहता है, उसी तरह, ब्रह्मांड में, निगूढ-रूप से, कहीं भी विरल-स्थल में, विश्व के हृदय-भूत बृहत्-वृंदावनादि जैसे अगम्य, अचिंत्य तथा अलौकिक आधिदैविक-स्थल-विशेष में ही, भक्त द्वारा इस 'रस' का निरंतर उद्गम, प्रकटीकरण होता रहता है, और, यह सबकुछ लीला-सृष्टि की सार्थकता के लिये, जिस प्रयोजन को लेकर, सृष्टि का सृजन किया गया है, उसकी चरितार्थता के लिये।

अब, यदि लीला सृष्टि की सार्थकता के लिये ही इस 'रस' को प्रकट किया गया है, तो फिर, लीला-सृष्टिस्थ सभी जीवों को इस 'मुख्य-रस' के उपभोग का, प्रभु के अधर-सुधा रस पान का अनुभव होना चाहिये। तदुपरांत, आधुनिक जीवों को इस रस का साक्षात् अनुभव हुआ हो, ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आता। अतः, यह कथन की लीला-सृष्टि की सप्रयोजनता के लिये ही इस 'रस' का प्रादुर्भाव किया गया है, कहां तक उचित है ? 'ननु यदि एतदप्राप्तौ सृष्टिवैयर्थ्यं, तदा लीला सृष्टौ सर्वेषां एव एतद् भोगः कुतो न दृश्यते'–वृ. प्र.। यदि इस रस की अप्राप्ति में लीला-सृष्टि निरर्थक है, तो लीला-सृष्टि के सभी जीवों में, इस का उपभोग क्यों नहीं दिखाई देता ? इस शंका के समाधान में इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि–

इस 'मुख्य रस' भोग की सिद्धि नितांत दुर्लभ है। क्योंकि, इस मुख्य रस के उच्छिष्ट रीति से, साक्षात् उपभोग की सिद्धि, उसी को उपलब्ध होती है, जिस में, ब्रह्मानंद-भाव उत्पन्न हो गया हो, और, जो आधिदैविक स्त्रीदेह से अर्थात् लक्ष्मी-समान विग्रह से संपन्न हो–'अयंपुनर्ब्रह्मानंदे जाते, तत्राप्याधिदैविकरूपे संपन्ने लक्ष्म्या

इव मुख्य रसभोग संभवति'–सुबो.। तात्पर्य यह है कि प्रभु की अधर-सुधा का साक्षात्-उच्छिष्ट रीति से उपभोग ही 'मुख्य रस-भोग' कहलाता है और उसकी एकांत अधिकारिणी ब्रह्मानंद-रूपा लक्ष्मी है–अथवा लक्ष्मी के समान ही ब्रह्मानंद भाव से तथा अधिदैविक-विग्रह से संपन्न भक्त को भी, लक्ष्मी के समान ही, प्रभु के साथ मुख्य रस-भोग का अधिकार है। लक्ष्मी, ब्रह्मानंद स्वरूपा है ही, यही साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम की स्वकीया आलंबन-रूपा नायिका है। तदनुसार, निरंतर मुख्यरस भोग तो ब्रह्मानंद-रूपा लक्ष्मी तक ही समिति है, अथवा, लक्ष्मी के अंशों से आविष्ट, किंवा, भगवान् की प्रसाद-रूपाशक्ति से संपन्न अन्य-व्रजदेवियों को भी उपलब्ध है, तदतिरिक्त अन्य जीवों को, आधिदैविक-स्त्रीदेह से संपन्न होते हुये भी, यदि लक्ष्मी के अंशों का उन में प्रवेश नहीं हुआ हो तो यह रसभोग असंभव है–जैसे, गोप, गाय, पक्षी, वृक्ष, सरिता, सरोवर आदि। अतः, ब्रह्मानंद-भाव तथा लक्ष्मी समान विग्रह इस उभय धर्म से समवेत ही मुख्य रस-भोग के अधिकारी हैं, अन्य और कोई नहीं। भगवान्, जिन भक्तों को अपनी मुख्य नायिका-आलंबन रूपा लक्ष्मी के समान ही, मुख्य रस-भोग की, स्वकीय अधर-सुधा रस भोग की, अनुभूति कराना चाहते हैं, उनको ही ब्रह्मानंद भाव से तथा लक्ष्मी-तुल्य धर्मों से समन्वित करते हैं। कात्यायनी व्रतपरायणा कुमारिकाओं में, वसन दान द्वारा, यद्यपि, ब्रह्मानंद-भाव पूर्व से ही सिद्ध कराया जा सका था, तथापि, तदनन्तर, भगवान् की प्रसाद-रूपा शक्ति के प्रवेश से आधिदैविक स्त्री-देह की प्राप्ति कराये जाने पर ही, इनको, ब्रह्मानंद-रूपा मुख्य-नायिका लक्ष्मी के समान, निरोध-फल रूप मुख्य रस भोग की सिद्धि मिली। लक्ष्मी के अंशों से संपन्न, भगवद्-पत्नियों को भी, ब्रह्मानंद की प्राप्ति के अनन्तर ही, यथोक्तक्रम-पूर्वक, मुख्य रस भोग की उपलब्धि संभवित है।

इस तरह, मुक्ति तथा आश्रय–यह लीला-द्वय केवल 'प्रत्यापत्ति'-रूप होने के कारण, यह सिद्ध हो जाता है कि निरोध ही 'महाफल' है। यहां, 'महा' का अर्थ है, 'स्वरूपात्मक', निरोध' का अर्थ है, प्रभु की स्वरूपतः भोग्य-रूप में उपलब्धि, और, इस प्रकार का यह फल, केवल स्त्रियों में ही-पुरुषों में नहीं–स्वरूपात्मक रूप से सहज सिद्ध है। यह 'महाफल' रूप मुख्य रस-भोग एकमात्र स्त्रियों को ही उपलब्ध होता है। पुरुषोत्तम की अधर-सुधा का पान ही निरोध की चरम सिद्धि है। गोपांगनाओं ने ही, श्री पुरुषोत्तम के स्वरूपानंद का, परब्रह्म की परमानंद-रूपता का, जिसे श्रुतियों ने 'रसो वै सः' कहा है, पान किया। स्त्रियों से ही यह संभव है पुरुष से नहीं। प्रथम तो, पुरुष, रस का केवल आधार-मात्र है, प्रभु की तरह रस-रूप नहीं। तदुपरांत, पुरुष, कदापि स्त्री-भोग्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं

भोक्ता है 'और' न वह अन्य पुरुष से ही भोग्य हो सकता—दोनों की ही 'भोक्ता' संज्ञा है—अतः मर्यादा से विरुद्ध है। रसात्मक प्रभु, स्त्री—पुरुष उभय भावात्मक है, अतः स्वामिनी-सह रमण काल में, रसाधिक्य से, प्रभु, स्वामिनी भावापन्न होकर, भोग्य बनते हैं, तथा पुरुषोत्तमावेश से, स्वामिनी भोक्ता बनती है। ऐसी, स्थिति में, स्त्री भावापन्न रसात्मक प्रभु का, स्वामिनी भोग करती है। रस भोग की इस निगूढ़ता से, रहस्य से, स्त्रियों के इस माहात्म्य से परिचित अग्नि कुमारों ने, परब्रह्म की स्वरूपात्मक-रसानुभव करने के लिये ही, स्त्री भाव की—स्त्री-विग्रह की, स्त्रीत्व की ही प्राप्ति के लिये, तपश्चरण किया था—'अग्निपुत्राः महात्मानस्तपसा-स्त्रीत्वमापिरे भर्तारं च जगद् योनीं वासुदेवमजं विभुम्' ।। और, क्योंकि, इस रस-भोग के योग्य केवल स्त्रियां ही है, इसीलिये, अग्रिम प्रसंग में भी, पति रूप में, प्रभु-प्राप्ति के लिये, अग्नि कुमारिकाओं ने, भगवान् की प्रसाद-रूपा स्त्रीशक्ति को ही प्रसन्न करने के लिये, व्रताचरण किया था। स्त्रियों के इसी महात्म्य को सिद्ध करने के लिये ही, स्त्रियों के ही प्राधान्य का प्रतिपादन करने के लिये श्री शुकने, तामस-प्रकरण की तथा तदन्तर्गत प्रस्तुत अवान्तर प्रमेय प्रकरण की समाप्ति में, मुख्यतया स्त्रियों का ही निरूपण किया है—'भगवद् भोगानन्तरमेव, भगवान् भोग्यो भवति। अतोत्र शुकोऽपि मुख्यतया स्त्रिय एव वर्णयति'—सुबो. ।

**परं ज्ञात्वा पाने महान् रस इति भगवतोऽग्रे ज्ञानोपदेश निर्बंध :**—अब, यहां यह प्रश्न होता है कि इस तरह, गोपांगनाओं को निरोध सिद्ध होने से, महा फल रूप मुख्य रस भोग की, साक्षात् भगवद् अधर-सुधा-रस भोग की योग्यता प्राप्त हो चुकी है, तो फिर, अग्रिम भ्रमर-गीत प्रसंग में, इन्हीं गोपांगनाओं को, उद्धव-द्वारा ज्ञानो-पदेश देने का, भगवान् ने आग्रह क्यों किया ? इसका उत्तर यह है कि जिस रस के पान की सिद्धि प्राप्त हो चुकी है, उस रस के स्वरूप का, उसकी महिमा का भी यदि ज्ञान-परिचय करा दिया जाये तो उसके पान में एक महान् आस्वाद का अनुभव होता है। निरोध-सिद्धि-सुलभ इसी रस के अचिंत्य-स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये ही भगवान् ने, उद्धव द्वारा, गोपांगनाओं को ज्ञानोपदेश का आग्रह किया। अथवा, इस ज्ञानोपदेश द्वारा, प्रभु, गोपांगनाओं को यह प्रतीति कराना चाहते थे कि उनको जिस पुरुषोत्तम में परम-आसक्ति है, तथा जो पुरुषोत्तम उनका साक्षात् आत्मा-रूप है, वह साक्षात् मुख्य पूर्ण पुरुषोत्तम ही है, कोई अवतारी पुरुषोत्तम नहीं है, पूर्ण-पुरुषोत्तम का अवतार-विशेष नहीं है। गोपांगनाओं को जो पूर्ण-पुरुषोत्तम अपेक्षित है, अभिलषित है, वही तो साक्षात् उनकी आत्मा है, अतः आत्मस्वरूप होने के कारण वह उनको स्वतः सहज ही प्राप्त है—एतासां च स एवापेक्षित इति

तस्यात्मत्वेन कथने स एव प्रापितो भवति तथा'—श्रीमत्प्रभु.। और, उनका यह श्रीकृष्ण ही तो पूर्ण-पुरुषोत्तम है। आत्मा-रूप यह श्रीकृष्ण निरंतर, सदैव, सर्वथा उनके निकट ही है, सहज प्राप्त है। इस तरह के आश्वासन द्वारा, गोपांगनाओं के वर्तमान विप्रयोग-सुलभ-संताप का निवारण करने के लिये भी भगवान् का ज्ञानोपदेश में आग्रह था—'हे प्रियगोपांगनाओ! आप से मेरा वियोग है ही कहां? क्योंकि, मैं तो आपकी देहेन्द्रिय प्राणान्तः करण में, रोम रोम में स्वरूपतः आविर्भूत हूँ, आप लोगो ने व्यर्थ ही मुझ से अपना वियोग मान लिया है—'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्'। यदि भगवान् व्रजदेवियों को इस प्रकार का ज्ञानोपदेश नहीं भेजते तो 'प्रलयाग्नि से भी कराल, विरहानल से, उनकी देह कभी की भस्म-राशि बन गयी होती, एवं अग्रिम भजनानन्द की रसानुभूति कभी की स्थगित हो गयीहो ती "मेरे से प्रेषित संदेश ही, गोपियों को, मेरी वियोग-आधि से मुक्त कर सकेगा—मेरी ही आत्मावाली व्रजदेवियां, मेरे संदेश की प्रत्याशा में ही, किसी प्रकार अत्यंत कठिनता से अपने प्राणों को धारण किये हुये है" भगवान् के इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि ज्ञानोपदेश का एकमात्र प्रयोजन, गोपीजन की भगवद्-वियोग सुलभ मरणान्त-वेदना को निवृत्त करने का था—भगवताऽपि, तन्निवृत्तिरेवोपदेश-प्रयोजनम् उक्तम्'—श्री गोपेश्वर।

ज्ञानोपदेश के उपर्युक्त हेतुओं के विवेचन से, वास्तव में सारांश यह निकलता है कि उद्धव द्वारा प्रेषित 'भ्रमर-गीतात्मक ज्ञानोपदेश' में, गोपीजन को जो महान् निरोध सिद्ध हो चुका है, उसी के चरम रसमय, परमोज्ज्वल स्वरूप का, उद्धव को स्पष्ट साक्षात्कार कराया गया है। यह ज्ञानोपदेशात्मक लीला, वस्तुतः नितांत-निरोध लीला के अनश्वर-स्वरूप की परिचायिका है। उद्धव के ज्ञान-सूत्र, उस दृढ निरोध-पाश के समक्ष निरे कच्चे धागे ही सिद्ध हुये। उद्धव की ज्ञान-मयी अमृत-वाणी से, गोपीजन की विरहानल का शमन तो दूर रहा, अधिकाधिक आहूत सी उद्दीप्त हो उठी। यही आसक्ति है, आसक्ति की चरमता ही निरोध है। गोपीजन की विरहावस्था का ध्यान करते करते, स्वयं उद्धव, विरहातुर हो उठा, नहीं तो, बदरीकाश्रम प्रति गमन करते समय वह विदुर को कदापि इस तरह नहीं कहता'—भाई विदुर! मैं यहां आगया हूँ—मेरी आत्मा 'विरहाग्नि' से तड़प रही है'—'इहागतोऽहं विरहातुरात्मा'—श्री गोपेश्वर।

**उपसंहार**:—जैसा, इससे पूर्व विवेचन किया जा चुका है, प्रस्तुत प्रकरण में स्त्रियां ही मुख्य हैं, तथा निरोध-रूप महाफल रस-भोग की एकांत योग्यता स्त्रियों में ही है—इसी का स्पष्टीकरण अग्रिम १९वें अध्याय में किया गया है, जिसमें,

अग्निकुमारिकाओं ने, इसी रस-भोग की प्राप्ति के लिये, भगवत्-संबंधिनीउन की ही प्रसाद-रूपा स्त्री-शक्ति से, अथवा, स्वकीय आधिदैविक-स्त्री शक्ति से–अर्थात् कात्यायनी से, अपने लिये स्त्री भाव के दान की याचना प्रार्थना करेंगी–'यतोऽत्र स्त्रिय एव मुख्याः–योग्याः अतएव अग्रेऽधिदेवस्य भगवतः संबंधिनीं प्रसादरूपां स्वाधिदैविकरूपां वा स्त्रियं प्रार्थयिष्यन्ति'–लेख.।

स्वकीय-भक्तों को, इसी निरोध-रूप महाफल का दान करने की इच्छा से, नटवरवपु ने, अपने रसात्मक स्वरूप-द्वारा अर्थात् सुधा-संवलित वेणुनादात्मक स्वरूप सौंदर्य-द्वारा उनको अपने वश में करके 'रूपेण वशीकृत्य'–सुबो.–फिर, अपने अधरामृत का पान कराते हुये अधरामृतं पाययन्–सुबो.–अर्थात्, अपने आपको भक्त द्वारा उपभोग के लिये समर्पित करते हुये, भोग्य-भक्तों को भोक्तृत्व-भाव से संपन्न करते हुये, 'भोग्यानां भोक्तृत्वं संपादयन्'–तथा इस तरह अपनी स्वच्छंद लीलायें प्रकट करते हुये–किसी का आलिंगन करते हुये–'श्लिष्यति कामपि'–उस 'सर्वरसः' परब्रह्मने, वृंदारण्य में–स्त्रियों के समूह में–प्रवेश किया–'वृंदायाः स्त्रिया आरण्यं प्राविशत'–सुबो.।

भगवान् ने, प्रथम, वृंदारण्य में प्रवेश करके, गोपवृंद सहित वहां स्थिति की, अर्थात् प्रथम स्त्री-वन में प्रवेश किया, तदनन्तर, वेणु-नाद द्वारा तत्रस्थ वनसुंदरी-वृंद में कामोद्दीपन करके, उनमें संयोगात्मक स्वरूप से प्रवेश किया, इसी वेणु-नाद द्वारा व्रजस्थिता गोपांगनाओं में भावोद्दीपन करके, उनमें विप्रयोगात्मक स्वरूप से प्रवेश किया, परोक्ष अर्थ में यहां 'वृंदारण्य' उपर्युक्त स्थलत्रयी का बोधक है–और, इसी अर्थ के अनुसार यह विवेचन किया गया है। अर्थात् गोपवृंद सहित भगवान् ने, प्रथम वृंदारण्य में स्थिति की, तदनन्तर, वृंदारण्य में अर्थात् स्त्री-संगम रूप अरण्य-वन में प्रवेश किया, तदनन्तर, वन-सुंदरी वृंद में प्रवेश किया, तदनन्तर, गोपीजन में प्रवेश किया।

स्वकीय भक्तों को अपनी अधर सुधा का पान कराने के लिये जब रसात्मक पुरुषोत्तम, रसाधिक्य से स्त्रीभावापन्न होकर, भोग्य-भक्त केभो गार्थ अपने आपको समर्पित करते हैं, तब, इस प्रकार की यह लीला,–स्वच्छंद-लीला कहलाती है। "रसाधिक्य में, पुंभावापन्न नायिका द्वारा, नायक का भोग, रस शास्त्रों में निरूपित किया गया है"–लेख.। इसे स्वच्छंद-रमण कहते हैं। वृंदारण्य प्रवेश करकें, प्रभुने अपनी इसी स्वच्छंद-लीला को प्रकट की। वनसुंदरी-वृंद में, संयोग-कालीन रसाधिक्य-पूर्वक, स्वाच्छंद्य का संपादन किया; इसी तरह, गोपांगनाओं में भी, आंतरमणकालीन रसाधिक्यपूर्वक, विप्रयोगात्मक स्वरूपासक्ति रूप स्वाच्छंद्य संपादित किया।

स्वकीय-प्रियतमाओं में इसी स्वाच्छंद्य के संपादनार्थ, भगवान ने वृंदावन में प्रवेश किया 'प्राविशत्'–अर्थात् स्वकीय प्रियतमाओं में अपना आवेश किया–प्र-आविशत्–प्राविशत् का अर्थ है–स्व-स्वाभिनी वर्ग में, प्रकर्षता-पूर्वक, रसाधिक्य से उत्कंठतापूर्वक, स्व-आवेश किया–अर्थात् सर्वात्म-भाव-वान् भक्त में, भगवान् ने, स्वस्वरूपानंद के उपभोग की स्वतंत्रता स्थापित की–प्रदान की–भक्त को स्वतंत्र-भक्ति की उपलब्धि करायी। भक्त की, भगवद्-भोग में, यह स्वतंत्रता ही 'स्वतंत्र-भक्ति' है–जिसमें ब्रह्मांड का भोग करनेवाले भगवान् का भोग, भक्त करता है, अपनी माया से विश्व का नियमन करनेवाले नियन्ता का नियंत्रण, भक्त अपने निरवार्य-स्नेह-सूत्र से करता है। इसे ही 'पुष्टि-भक्ति' कहते हैं–'यत्र च भक्तस्य स्वातंत्र्य', तदिच्छानुसारेण–भगवत्कृतिर्यथादामोदर लीलायां सा पुष्टि:' –निबंध.। 'सोऽश्नुते: सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति' यह श्रुति भी, भगवान् के साथ भोग में, भक्त की प्रधानता का तथा परब्रह्म की गौणता का ही प्रतिपादन करती है।

भगवान् की यह स्वाच्छंद्य संपादन लीला, सर्वात्म भाव से संपन्न भक्त को ही उपलब्ध है–तथा परम-रहस्यमय (Mystic) एवं रसमय होने के कारण, नितांत गोप्य है–'निहितं गुहायाम्'। रस की रसरूपता उसके एकांत संगोपन में ही अक्षुण्ण किंवा अनवद्य रहती है। इसीलिये, नंदालय की अपेक्षा, इस लीला-कृति के लिये, अत्यंत निभृत तथा एकांत वृंदावन ही सानुकूल समझा गया।

**गोपवृंदैः** –इस प्रकार, गोकुल से संबंधित सर्व कार्य समाप्त करके, गोपवृंद सहित भगवान् ने, स्वच्छंद लीला संपादनार्थ वृंदावन में प्रवेश किया। गोपसखाओं को साथ में लाने का विशेष प्रयोजन था। इनमें से अमुक अंतरंग थे, बहुत से बहिरंग। स्वच्छंद लीला चरण के लिये, इन गोपवयस्यों की नितांत अपेक्षा थी-बहिरंग सखा गोचरणादि कार्य के लिये नियुक्त थे। इस तरह, गोचरणादि-धर्मानुष्ठान के साथ आचरित गोप्य-लीलायें लोक से अज्ञात अतएव दोषारोपण से मुक्त ही रहीं। रमण कालीन वातावरण की निर्भयता के लिये, अंतरंग सखाओं की उपयोगिता थी 'शक्तीनां निर्भयत्वाय ऐते देवाः साक्षिण:'। ये अंतरंग-गोपवयस्य देवता रूप थे इससे 'लीला' की निर्दोषता भी प्रतिपादित हो जाती है। गोचरणादि अन्य कार्य में चित्त-वृत्ति की अस्थिरता से, स्वच्छंद-लीला में तन्मयता सुलभ एकांत रसानुभव की निष्पत्ति नहीं होती। अतः स्वच्छंदता संपादनार्थ, वातावरण को निर्भय बनाये रखने के लिये, साथ ही गोचरणादि की व्यवस्था के लिये भी, उभय-विध गोपसखा–वृंद साथ ही में लाये गये।

**ननु जगति भक्तिर्न स्थापिता, इति कथं कृत-कार्यता ? तत्राह स्वपदरमणम् :–** प्रसंगवशात् यहां यह शंका होती है कि भगवान् का प्राकटच, भक्ति तथा धर्म आदि पुरुषार्थ-चतुष्टय के संस्थापनार्थ हुआ है'। 'धर्म संस्थापनार्थाय', 'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्' आदि वचनों द्वारा, भगवद्-अवतरण में उपर्युक्त हेतुओं का ही मुख्यतया निर्देश किया गया है। अतः जगत् में भक्ति की तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय की स्थापना ही जब नहीं की गयी, तो फिर ये उपर्युक्त प्रतिज्ञा-वचन अर्थात् भगवत् कृत कार्यता असिद्ध अथवा अपूर्ण ही मानी जायेगी? इस का उत्तर यह है–'स्वपदरमणं वृंदारण्यं प्राविशत्' अर्थात् भगवान् ने स्वकीय चरण संबंध से रमणीयता को प्राप्त वृंदारण्य में प्रवेश किया। वृंदावन, भगवान् की विहार-भूमि है। अतः उस का भगवद्-चरणों से संबंध है। भगवद्-चरणारविंद, साक्षात् भक्ति-रूप है, अतः भगवान् ने सर्व प्रथम अपने चरणों की स्थापना अर्थात् साक्षात् भक्ति की स्थापना, अपने प्रवेश से वृंदावन में ही की। भगवद्-चरणारविंदों के संपर्क से, वृंदावन अनुराग से आर्द्र है। अनुराग से आर्द्र अतएव भक्ति-रस से आप्लावित-संसिक्त-अपने अंक में समंकित भगवद्-चरणारविंदों को धारण किये हुये वृंदावन में रमणीयता का आविर्भाव हुआ है, इस तरह, उसमें, स्वपद-रमणत्व सिद्ध है। यहां वृंदारण्य-पद से त्रिविध-स्थलों का बोध कराया गया है :–(१) वृंदावन, (२) वनसुंदरी-वृंद तथा (३) व्रजस्थिता गोपांगनाओं का हृदय-प्रदेश। सर्व-प्रथम, भगवान् ने वृंदावन में प्रवेश किया तथा इस तरह वहां भगवद्-चरणों की स्थापना से, साक्षात् रमणीयता प्रकट हुयी–अर्थात्, रमणीयता का यह आविर्भाव, साक्षात् भक्ति की स्थापना से ही हुआ, क्योंकि, भगवद्-चरणारविंद तथा भक्ति में कोई अन्तर नहीं, भगवद्-चरणों की स्थापना ही, भक्ति की स्थापना है। वनसुंदरी-वृंद के स्तन-मंडल पर भगवान् ने, रमण-कालीनबंध-विशेष के आग्रह से, अपने कुंकुम-चर्चित-चरणारविंदों की अनेकधा स्थापना की। भगवद्-चरण चिन्हों से विमंड़ित इनके स्तन-मंडल में रमणीयता निःसीम हो कर उपस्थित हुयी है, अतः यहां भी स्वपद-रमणत्व सिद्ध है। वेणुनाद द्वारा व्रजस्थिता गोपांगनाओं के हृदय-प्रदेश में, भगवत्-स्वरूप के आविर्भाव समकाल में, भगवद् चरणों का भी आविर्भाव हुआ, अतः, आंतर-रमण काल में, इन चरणों के संस्थापन से, उनके अंतःकरण में भी साक्षात् रमणीयता अवतरित हुयी, अतः, यहां भी स्वपद-रमणत्व सिद्ध है। स्वपद के विहरण से ही, स्वपद की स्थापना से ही, इन सभी में सर्वत्र रमणीयता का आविर्भाव हुआ है–इसीलिये, वृंदावन आदि सभी 'स्वपद-रमण' कहे गये हैं। इस तरह भगवान् ने, स्वचरणों की स्थापना द्वारा, वृंदावन में, वनसुंदरी

वृंद में तथा गोपीजन में भक्ति की ही स्थापना की है। भगवान् के चरण स्वयं भक्ति रूप हैं। जिस स्थल में, जिस स्तन-मंडल पर, जिस हृदय-प्रदेश में, भगवद्-चरण समंकित हैं, वह स्थल, वह वक्षस्थल, वह हृदयस्थल साक्षात् वृंदावन ही तो है। तदनुसार, वृंदावन में, वनस्थिताओं में तथा व्रजस्थिताओं में, भक्ति की प्रतिष्ठा-पूर्वक, गोचारणरूप धर्म की संस्थापना भी हुयी। इस तरह, भक्ति तथा धर्म की स्थापना यथाक्रम स्वपद-रमण द्वारा तथा गोप-वृंद द्वारा-गोचरणादि-पूर्वक की गयी। भगवद्-चरण चिन्हों के दर्शन से, आधुनिक जीवों के हृदय में भी, निरंतर भक्ति भावोद्बोधन होता ही रहेगा। इस तरह दैवी-सृष्टि-रूप जगत में भक्ति की स्थापना से, उपर्युक्त प्रतिज्ञा वचन की सार्थकता, भगवत् कृतकार्यता स्वतः सिद्ध है। यह सब-कुछ कर लेने के उपरांत ही, भक्ति तथा धर्मरूप पुरुषार्थ की संस्थापना करके ही, भगवान् ने 'स्वच्छंदता' का संपादन किया। भक्ति तथा धर्म-स्थापना से निवृत्त होकर ही, भगवान् स्वकीय स्वच्छंद-लीला में प्रवृत्त हुये। 'सर्वं कार्यं कृत्वा स्वच्छंदतां संपादितवान्'–सुबो.। अतः, भगवत्-कृतकार्यता की सिद्धि में शंका की गंध-मात्र भी असंगत है।

**धर्म-स्थापनमाह-गोपवृंदैः**–इस तरह भक्ति की ही नहीं, धर्म आदि पुरुषार्थ चतुष्टय की भी भगवान् ने स्थापना की। इसीलिये, साथ में, वृंदावन में प्रवेश करते समय, गोपवयस्य भी लिये गये हैं। जैसे पहले कहा जा चुका है, गोपवयस्यों द्वारा, गोचरणादि-रूप धर्म की स्थापना की गयी है। जिस तरह, गोचरणादि लौकिक-धर्म के संपादनार्थ, बहिरंग सखाओं को साथ में लाये, उसी तरह, भगवद्-धर्म के अर्थात् दास्य-धर्म के स्थापनार्थ, अंतरंग सखा भी साथ में ही लाये हैं। वन-सुंदरी-वृंद के साथ लीला में अनुकूल सेवा, शृंगार, भोग, सामग्री, शय्या आदि संपादन रूप भगवद्-धर्माचरण की स्थापना, इन अंतरंग सखारूप सेवकों द्वारा निष्पादित करायी गयी। तदुपरांत, इन्ही अंतरंग सखाओं द्वारा स्वच्छंद-रमण कालमें इन वनस्था-रमणियों के मुखादि का वस्त्रादि से संगोपन-रूप स्त्री-सुलभ लज्जा आदि स्त्री धर्मों की सुरक्षा रूप संस्थापना की गयी। भगवद् सुखार्थ संपादित यह सेवा कृति ही सेवक का धर्म है–और इसे ही 'दास्य-धर्म' कहते हैं। इस तरह गोपवृंदैः इस पद द्वारा धर्म की स्थापना का निरूपण करके अग्रिम 'गीतकीर्तिः' पद द्वारा अवशिष्ट पुरुषार्थ-त्रयी-अर्थ, काम तथा मोक्ष-का प्रतिपादन किया गया है।

**अवशिष्ट-सर्व-पुरुषार्थ-स्थापनमाह–'गीतकीर्तिः'**–यहां भगवत्-कीर्ति का गान क्रमशः गोपांगनाओं ने, वनस्थिता सुंदरी-वृंद ने तथा शुक आदि महानुभावों ने किया है। व्रजस्थिता गोपांगनाओं द्वारा भगवत्-कीर्ति का गान, उनके लिये सर्वस्व 'अर्थ'

रूप ही है। साक्षात् विप्रयोग रसात्मक प्रभु के लीला-स्वरूप का परम-आसक्तिपूर्वक किया गया गुणानुवर्णन रूप संकीर्तन ही गोपीजन का एकमात्र अर्थ-रूप पुरुषार्थ है। वनस्था-रमणियों द्वारा साक्षात् संयोग-रसात्मक प्रभु के आसक्तिसहित किये गये गुण-गान श्रवण से, भगवदासक्त भगवदीय में, काम-भाव-रूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। श्री शुक आदि द्वारा किये भगवत्-कीर्ति के संकीर्तन-श्रवण से, आधुनिक-भगवदीय जीव को ब्रह्मानंद से भी अधिक परमानंद-लक्षणा रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस तरह, गीत-किर्ति पद से, अर्थ, काम तथा मोक्ष की स्थापना रूप, भगवत्-कृतकार्यता सिद्ध हो जाती है।

अथवा, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा गान-रूप भक्ति–इस पुरुषार्थ-पंचक की स्थापना का निरूपण, श्री वल्लभ-कृत 'लेख' के अनुसार, इस तरह भी किया जा सकता है–यथा, गोपवृंद में गोचरणादि रूपधर्म की एवं प्रभु के लिये भोग, शृंगार आदि संपादन रूप दास्य-धर्म की स्थापना की गयी। वन-सुंदरी वृंद में, स्वच्छंद-रमणरूप काम-भाव की 'स्वपदरमणद्वारा अर्थात् स्वचरणारविंदों की स्थापना द्वारा, उद्‌बुद्ध भावात्मक-भक्तिरूप अर्थ की तथा आसक्ति पूर्वक गुण संकीर्तन रूप-गानरूप-भक्ति की स्थापना की गयी एवं व्रजस्थ-गोपांगनाओं में आसक्ति-पूर्वक गुणगानरूप मोक्ष की स्थापना की गयी। इस तरह, प्रभु ने, गोपसखाओं में धर्म की, वनस्थाओं में अर्थ, काम तथा गानरूप भक्ति–इस पुरुषार्थ-त्रयी की तथा व्रजस्थिताओं में केवल मोक्ष की यथाक्रम स्थापना की। इस तरह, प्रभु ने वृंदावन में सर्वत्र, स्वचरणारविंदों से विहार किया; चरण, भक्ति रूप हैं, अतः इन की स्थापना द्वारा, भक्ति की ही प्रतिष्ठा हुयी तथा भूलोक कृतकृत्य हुआ। तदनुसार 'धर्म संस्थापनार्थाय–यदा यदा हि–धर्मस्य-तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्'–आदि भगवान् के प्रतिज्ञा-वचन सार्थक हुये।

**'स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्वम्' इति कृष्ण पदार्थः क्वचित् विवृतः**– श्री योजनाकार के मत में, इस फक्किका का तात्पर्य यह है–'रमण काल में ब्रह्मानंदरूपा-लक्ष्मी का भोग कर लेने पर, रसाधिक्य के कारण, भगवान् में लक्ष्मी-समान भोग्य होने के भाव को 'स्त्री-भाव' कहते हैं। ऐसी अवस्था में, पुरुषोत्तमावेश होने के कारण लक्ष्मी, भगवान् का भोग करती है, अर्थात्, भगवान् की 'सर्वाभोग्या' अधर सुधा का साक्षात् स्वमुख से पान करती है। भगवान् की यह स्त्रीभावापन्नता, अर्थात् स्त्री के समान भोग्य होने का यह भाव ही 'गूढ-स्त्री भाव' है, और, अनुग्रहात्मक पुष्टि मार्ग में, यह 'गूढ-स्त्री-भाव' ही 'तत्व' कहलाता है। पुष्टिमार्ग में, भगवान् भोग्य रूप से भक्त के अधीन रहते हैं, अर्थात् भक्तद्वारा, भोग्यरूप में, भक्ताधीन हैं,

किंतु, मर्यादा में, भगवान्, भक्त का भोग करते हैं, अतः, भक्त, भोक्ता-भगवान् के अधीन रहता है–"कृष्णाधीनातु मर्यादा-स्वाधीनापुष्टिरुच्यते"–पंचम-स्कंध के निबंध में पुष्टि-मार्ग का यही लक्षण दिया गया है। स्त्री-भावापन्न भगवान् ही परमानन्दरूप होने के कारण 'कृष्ण' कहलाते हैं, क्योंकि रसशास्त्र ने 'स्त्रीभाव' को ही, भोग्य होने के भाव को ही, 'परमानन्दरूप' कहा है। और श्रुति ने 'कृष्ण' पद का यही व्युत्पत्ति-अर्थ किया है, अर्थात्, 'कृष्ण' पद परमानन्द रूपता का अपर पर्याय है–'कृषिर्भूवाचकः शब्दो, णश्च निर्वृतिवाचक :–तयोरैक्यं परब्रह्म 'कृष्ण' इत्यभिधियते'। 'कृष्ण' में, कृषि-शब्द 'भू' अर्थात् 'सत्ता'-वाचक है–'भूसत्तायाम्'। और 'ण' शब्द आनन्द का, वाचक है 'सत्ता' का अर्थ है–'अतिशय', 'परम', 'उत्कृष्ट'। तदनुसार, इन दोनों शब्दों के ऐक्य को 'परमानन्द परब्रह्म श्रीकृष्ण' कहते हैं। 'सत्ता' ही परब्रह्म श्रीकृष्ण की स्वकीया 'लक्ष्मी-सत्ता' है–जब आनन्द (णश्च निर्वृतिवाचकः)–लक्ष्मी सत्ता से, रसाधिक्य के कारण, आविष्ट होता है, अथवा, जब आनन्दरूप परब्रह्म, लक्ष्मी सत्ता रूपं स्त्रीभाव से समापन्न होता है, तब, वह परमानंद रूप 'कृष्ण' कहलाता है। इस प्रकार, भोग्य-स्त्री-भाव-रूप संपन्नता में हीं, परब्रह्म की परमानन्द-रूपता है। 'परमानन्द' ही कृष्ण-तत्व है।

यह 'कृष्ण-पदार्थ' कभी-विरल समय में, किसी विरल गोपांगना में ही प्रकट होता है। भगवान् ने अनेक बार वेणु-नाद किया होगा, किंतु, इस प्रकार का, सुधा से संवलित वेणु-नाद कभी नहीं किया; कभी विरल समय में किये गये अधर-सुधा संवलित वेणु-नाद में ही 'कृष्ण' पदार्थ प्रकट किया जाता है जैसे प्रस्तुत प्रसंग में किये गये वेणु-नाद में। अर्थात्, वृंदावन प्रवेश करते समय, यद्यपि, प्रभु ने कई बार वेणुनाद किया है, तथापि, स्वकीय-अधर-सुधा से संवलित वेणु नाद तो कभी किसी विरल समय में ही किया। पंचम-श्लोकोक्त वेणु-नाद में ही, यह अधर-सुधा संवलित की गयी, एवं अधर-सुधा संवलित इसी वेणु-नाद द्वारा यह 'परमानन्द-रूप कृष्ण पदार्थ' किसी विरल गोपीजन के हृदय में ही विवृत प्रकट हुआ। यहां 'अधर-सुधा संवलित' यह पद वेणु-नाद का विशेषण है, अतः भगवद्-अधर सुधा की सार्थकता इसी में है कि इसका पान, गोपांगनाओं को ही कराया जाये और यह तभी संभव है, जब, भगवान् 'स्त्रीभाव' को स्वीकार करें तथा वेणु-नाद से अधर-सुधा का संयोजन करें। यह 'स्त्री भाव' ही कृष्ण-पदार्थ है, और, यही कृष्ण पदार्थ वेणु-नाद से संवलित किया गया है। वेणु-नाद' में 'अधर-सुधा भरते हुये'–वेणुनाद को अधर सुधा से संवलित करते हुये–'अधर सुधया पूरयन्'–इस उक्ति से यही सिद्ध होता है कि वेणु-नाद में कृष्ण-पदार्थ 'विवृत' किया गया अर्थात् स्त्री-भाव प्रकट किया गया–'स्त्री-भावो

विवृतः' क्योंकि, स्त्री-भाव के अभाव में, अप्रकटीकरण में 'अधर-सुधा' विफल ही रहती।

तात्पर्य यह है कि अपनी अधर सुधा की सार्थकता के लिये, भगवान् को स्त्री-भावापन्न होना अपेक्षित है। भगवद्-अधर-सुधा की सार्थकता इसी में है कि भक्त उसका उपभोग करे। भगवद्-अधर सुधा का पान, गोपांगनायें तभी कर सकतीं हैं, जब, भगवान्, स्त्रीभाव से समापन्न हों। अतः, स्त्रीभाव के अभाव में, भगवद्-अधर-सुधा विफल ही रहेगी। यह 'स्त्री-भाव ही कृष्ण-पदार्थ है'—तथा अधर-सुधा संवलित नाद द्वारा यह 'स्त्रीभाव रूप कृष्ण-पदार्थ' विवृत किया गया है। श्रीलेखकार के मत में, 'स्त्रीभावो गूढ़':—यहां भाव का अर्थ है 'सुधा'-भावः सुधा रूपः। गूढ़ का अर्थ है सर्वाभोग्य—गूढः सर्वाभोग्यः। स्त्री का अर्थ है—गोपीजन। अर्थात्, नाद द्वारा यह सर्वाभोग्या-सुधा रूप भाव, गोपांगनाओं के हृदय-प्रदेश में पूरित-प्रतिष्ठित किया गया है। सर्वाभोग्या सुधा ही यह गूढ़-भाव है और यह गूढ़-भाव ही कृष्ण-तत्व, कृष्ण-स्वरूप है। तदनुसार, सर्वाभोग्या-सुधा ही पुष्टिमार्ग में, तत्व है, मुख्य फल है। यह कृष्ण पदार्थ अर्थात् कृष्ण स्वरूप, सर्वत्र, यहां तक कि रमण काल में भी, संवृत-अतिगुप्त रहता है—किंतु, कभी किसी विरल स्थान में ही, कभी किसी विरल भक्त के हृदय-प्रदेश में ही वेणु-नाद के श्रवणपूर्वक, श्रोत्रद्वारा विवृत-प्रकट-होता है। अर्थात्, सर्वाभोग्या सुधा-रूप भागवत् स्वरूप, वेणु-नाद द्वारा कर्ण में प्रवेश करता हुआ हृदय-प्रदेश में ही, अथवा, समानशील गोपांगनाओं में ही व्यक्त-विवृत होता है—और यही आशय प्रस्तुत 'वर्हापीडं' श्लोक में निरूपित किया गया है।

इसीलिये, यहां यह नाद ही मुख्य-फल का अर्थात् सर्वाभोग्या-सुधारूप—'कृष्ण पदार्थ' का अनुभावक है। अतः, 'वर्हापीडं' श्लोक में यथाक्रम निरूपित रूप, नाद (वेणुनाद) तथा क्रीड़ा, इन तीनों में से, 'नाद' ही प्रधान है—रूप और क्रीडा-यह उभय गौण हैं, रूप और क्रीड़ा-इस उभय की अपेक्षा, वेणुनाद ही मुख्य है। अथवा, अधर-सुधा संवलित गूढ़-स्त्री भावात्मक कृष्ण पदार्थ के अनुभावक वेणु नाद से अतिरिक्त सभी गौण हैं; इस प्रकार का यह वेणु 'नाद' ही मुख्य है। 'वर्हापीडं' श्लोक के वाक्यार्थ का निरूपक होने के कारण, वेणु-नाद ही प्रधान है, तदतिरिक्त, सभी पांचों प्रकार के पुरुषार्थ भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा भक्ति—उपसर्जनीभूत, गौण ही हैं। यद्यपि, गोपांगनाओं को, रूप, क्रीड़ा, तथा नाद इन तीनों का ही अनुभव हुआ था, तथापि, रूप और क्रीड़ा का अनुभव कराने वाला तो वस्तुतः नाद ही था—अतः नाद ही प्रधान रहा; तदनुसार, रूप और क्रीड़ा को गौण रखते हुये, व्रजदेवियों ने प्रधानतया वेणु-नाद का ही वर्णन प्रारंभ किया।

# -स्त्री-भावो-गूढ़ः-

## -गो. श्रीहरिरायजीका स्वतंत्र-लेख-

ऐसा नियम है कि जिस वस्तु के प्रति आसक्ति होती है, उसी वस्तु का वर्णन करना उचित है। गोपांगनाओं की आसक्ति प्रभु-स्वरूप में है, तो फिर, भगवत्-स्वरूप का वर्णन न करके, उन्होंने वेणु-नाद का ही वर्णन क्यों किया ? इस शंका के समाधान में यह कथन है कि 'स्त्रीभाव गूढ़ है'-'स्त्रीभावोगूढ़:'। पुष्टिमार्ग, प्रमेय-मार्ग है, यहां सर्वसाधन संपत्ति साक्षात् प्रभु द्वारा ही संपादित की जाती है। पुष्टिमार्ग में संपूर्ण लीला-वैभव सहित स्वयं प्रभु ही आविर्भूत हुये हैं, इसीलिये, यह मार्ग, प्रमेय-मार्ग कहलाता है। जिस तरह, मर्यादा मार्ग में, लोक-वेद-प्रसिद्ध पुरुषोत्तम सर्वात्मक हैं, सर्व-प्राणियों के आत्म-रूप है, उसी तरह, पुष्टिमार्ग में लोक-वेद से अतीत-श्री पुरुषोत्तम गोपीजन के (स्त्रीणां) गूढ़ अर्थात् रसात्मक (भाव:) स्थायिभाव हैं। यह 'गूढ़-स्त्रीभाव' ही-अर्थात् स्त्रियों का रसात्मक-स्थायी-भाव ही, सभी शुद्ध-पुष्टि-भक्तों का भावात्मक-भगवद्-रूप है। तदनुसार यह भावात्मक भगवान् ही पुष्टिमार्ग में तत्व है, 'वास्तव वस्तु' माने गये हैं-अर्थात् भावात्मक-भगवान् ही पुष्टि-मार्ग का वास्तविक तत्व है। पुष्टिमार्ग में पुरुषोत्तम, भावात्मक हैं। यह, 'भाव' क्या है ? यह, भाव, रति कहलाता है। देवादि के प्रति भक्त की रति को, स्नेह को, भाव कहते है 'रदीर्देवादिविषयिणी भाव':-तत्व. दी. नि.। और, रस शास्त्र के अनुसार, 'रति', शृंगार-रस का स्थायीभाव है। पुष्टिमार्ग में पुरुषोत्तम का यही भावात्मक-रत्यात्मक स्वरूप है, तदनुसार, यही पुरुषोत्तम, गोपांगनाओं के स्थायिभावरूप, अथवा रतिरूप किंवा भाव-रूप-भावात्मक भगवान् हैं। यह भावात्मक-भगवान् ही 'कृष्ण-पदार्थ' है। गोपीजन के मात्र हृदय प्रदेशान्तर्वर्ति यह 'कृष्ण'-पदार्थ-तत्व ही सत्तानन्द-रूप, परमानन्द-स्वरूप कहलाता है। परमानंद का अपर पर्याय-रूप यह 'कृष्ण-तत्व' कभी कहीं विरल गोपांगना के ही, हृदय-प्रदेश में ही प्रकट होता है-सर्वत्र नहीं; इससे पूर्व यह तत्व, ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र आदि के रूपधारण करके, संप्रति, पुनः रसधर्मी-कृष्ण रूप में अवतरित हुआ है। यह कृष्ण-तत्व, सर्वत्र विवृत-प्रकट नहीं है, क्योंकि, भावात्मा भगवान् कृष्ण ने स्वरूपानंद के सार में से, अपने सुधारूप स्वरूप को, संप्रति, सुदूर-व्रज में उपस्थित गोपांगनाओं में स्थापित करने के लिये, वेणुनाद से संवलित किया (संप्रति गोपीजन वृंदावन में अनुपस्थित है-गोकुल में ही हैं-अतः, यहां परोक्ष-शब्द का प्रयोग किया गया है।) यह सुधा-रूप स्वरूप, सदा वेणुनाद से संवलित ही रहता है। संप्रति, विप्रयोग की स्थिति है, क्योंकि भगवान् वृंदावन में हैं और गोपीजन उन से वियुक्त सुदूर-व्रज में। संयोग में, स्वरूप की साक्षात् उपस्थिति में, अंग-संग की लालसा सर्वोपरि रहती है। अतः, संयोग काम-भाव को उद्बुद्ध

करता है। विप्रयोग में, सर्वात्मना प्रियतम के चिंतन में, भाव-सृष्टि, संपूर्ण जगत, प्रियतम-मय हो जाता है। आत्मा ही प्रियतम का रूपधारण कर लेती है—अतः- विप्रयोग में, काम-भाव, स्वयं प्रियतम-रूप हो जाता है, सर्वात्मभाव, सर्वोपरि रहता है। काम-भाव का सर्वात्म-भाव में लय हो जाता है। स्वरूप की विप्रयोगात्मक अर्थात् भावात्मक अनुभूति में, सर्वात्मभाव ही प्रधान रहता है तथा स्वरूप की संयोगात्मक अवस्था में, काम-भाव। वेणुनाद-संवलित सुधा के प्रवेश से, आधि-दैविक काम सर्वात्मभाव रूपता से संपन्न हो गया, सर्वात्मभाव में परिणत हो गया। इस से पूर्व संयोगावस्था में, उल्लास पूर्वक प्रभु सह रमण-सुलभ जो रसात्मक अनु-भूतियाँ हुयीं थी, वह सभी, स्वरूप भी, वेणुनाद-द्वारा सुधा प्रवेश से, गौण हो गये। सुधा प्रवेश से, काम-भाव भी, सर्वात्म-भाव-रूपता में विलीन हो गया। इस तरह से, संप्रति प्राप्त किया गया, अनुभूयमान स्वरूपात्मक नाद ही मुख्य रहा। काम के अभाव में, अर्थात्, विप्रयोग सुलभ सर्वात्म-भाव की दशा में, पूर्वानुभूत स्वरूप की भी विस्मृति हो गयी। स्वरूपात्मक 'नाद ही', संप्रति अनुभूयमानः होने के कारण, नाद की ही प्रधानता रही—अतः पूर्वानुभूत स्वरूप के विस्मरण पूर्वक गोपांगनाओं ने, संप्रति, अनुभूयमान नाद का ही, सर्वात्मभाव से, वर्णन प्रारंभ किया, एवं तत् सुलभ आनन्द में निमग्न हो गयीं। हमारे पूज्य श्रीमद् आचार्य चरण को 'स्त्रीगूढभाव' का यही अर्थ अभिप्रेत है।

**कियो निरूपित अर्थ यह निजाचार्य तोषार्थ।**
**स्वपद–सरोरुह–रेणुतें, कीजे मोंहि कृतार्थ ॥**

**—पंचम-श्लोक समाप्त—**

—: ० :—

## षष्ठ-श्लोक-विवरण :—

'वर्हापीडं' श्लोक के मुख्य अर्थ का अनुभावक 'वेणुनाद' ही है, अतः स्वरूप तथा लीला दोनों, वेणुनाद में ही प्रतिष्ठित होने के कारण गौण हैं, स्वरूप, लीला तथा वेणुनाद, इनमें से वेणुनाद ही मुख्य है। स्वरूप तथा लीला, एवं पुरुषार्थ पंचक-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति ये सभी अप्रधान हैं, वेणुनाद ही प्रधान है। इसलिये, गोपाङ्गनाओं ने उसीके वर्णन का प्रारंभ किया और इसीका निरूपण श्रीशुक 'इति-वेणुरवं'—इस श्लोक द्वारा करते हैं—

**इति वेणुरवं राजन् ! सर्वभूत मनोहरम्।**
**श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे।६।**

वशीकरन प्राणिन सकल, सुनि मुरली रणकार ।
व्रज-वनिता वरणन करत, लहहिं रमण-रस-सार ।। ६ ।।

**अर्थ :–**'हे राजन् ! सर्व-प्राणियों के मन का हरण करने वाले इस प्रकार के वेणुनाद को सुनकर, व्रजकी सभी स्त्रियाँ उसीका वर्णन करती हुयी, परमानंद रूप श्रीकृष्ण के साथ अभित: आन्तर रमण करने लगीं । ६ ।

**व्याख्या:–**यहां, वेणुनाद ही वर्हापीडं-श्लोक के अर्थ का अनुभावक होने के कारण, स्वरूप लीला तथा पुरुषार्थपंचक आदि सभी अप्रधान हैं, "इसी कारण- 'इति' हेतो:–वेणुरव का ही वर्णन करने के लिये, वेणुरव को सुनकर, उसीके वर्णन का प्रारंभ किया"–इस तरह श्लोक का संबंध है । 'प्रथम, जिस वेणुनाद का श्रवण किया, उसी वेणुनाद के वर्णन का प्रारंभ किया' । इस तरह 'श्रुत्वा'–श्रवण क्रिया का तथा 'वर्णयन्त्य:'–वर्णन-क्रिया का इन दोनों क्रियाओं का संबंध, उसके एक हीं कर्म (object) वेणुरव से है–अर्थात् श्रीगोपीजन ने 'पंचमश्लोकोक्त' 'वेणुरव' को ही सुना और इसीके वर्णन का प्रारंभ किया। जब किसी शब्द का 'श्रवण' उसके 'वर्णनार्थ' किया जाता है, तब, श्रोता उसका श्रवण, दत्तचित्त होकर, आदर-पूर्वक करता है । इसीलीये, वेणुनाद के वर्णनार्थ, उसका श्रवण करने के लिये गोपाङ्गनाओं ने अपनी अपनी कर्णेन्द्रिय को उत्सुकता पूर्वक उसीकी ओर केन्द्रित कर दी । उन्होंने यह स्पष्ट समझ लिया कि 'यह वेणुरव' सामान्य नाद-मात्र नहीं है–यह नाद, भगवद् लीला-स्वरूप की सौंदर्य सुधा से संपन्न है– इस तरह के आदर भाव सहित, श्रीगोपीजन ने, इसका श्रवण किया । तृतीय श्लोकोक्त 'वेणु-गीत' का भी गोपाङ्गनाओं ने श्रवण किया था, किंतु प्रस्तुत 'वेणु-रव'से वह सर्वथा भिन्न था । तृतीय श्लोकोक्त 'वेणु-गीतं' केवल नाद-मात्र था । अत: उसका श्रवण करके भी, गोपाङ्गनायें, भगवद्-लीला-स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ ही रहीं; किंतु, पंचमश्लोकोक्त 'वेणुरव', भगवद्-अधर सुधा सें संवलित था– 'अमुना प्रकारेणोद्गतं-अधर-सुधासंवलितं वेणुरवं नतु केवलम्'–अत:, इसके श्रवण करते ही, गोपाङ्गनाओं में वर्णन-शक्ति का उदय हुआ और, इसीके वर्णन का प्रारंभ, उन्होने प्रस्तुत छठे श्लोक सें किया । तृतीय श्लोक में तथा षष्ठ श्लोक में दोनों जगह-क्रमश: 'आश्रुत्य' तथा 'श्रुत्वा'–'इस' श्रवण क्रियापद की आवृत्ति से यह सूचित किया गया है कि तृतीय-श्लोकोक्त वेणु-गीत का गोपाङ्गनाओं ने श्रवण अवश्य किया, किंतु उसका वर्णन नहीं कर सकी–क्योंकी वह 'नाद्'-मात्र ही था, सुधा संवालित नहीं था । पंचम-श्लोकोक्त वेणु-रव का भी श्रवण किया गया, यह वेणु-रव सुधा संवलित था । इस स्वरूपात्मक वेणुरव में प्रतिष्ठित सुधाने श्रोत्र द्वारा गोपाङ्गनाओं के हृदय में प्रवेश किया, तदनुसार, उनमें परित: सुधा-गलन-रूप वर्णन-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ ।

'इति वेणुरवम्' पद में 'इति' शब्द के दो अर्थ हैं–'इति' का एक अर्थ है–इस कारण से 'इति हेतोः' दूसरा अर्थ है 'इस प्रकार से–'अमुना प्रकरेण'। अर्थात् 'इति' कारण-वाची भी है, प्रकार-वाची भी। पंचम-श्लोकोक्त वाक्यार्थ से, अर्थात्, वेणुरव से, संबंधित होने के कारण, 'इति' प्रकार-वाची है। अर्थात् पंचम श्लोकोक्त 'प्रकार' के वेणुनाद को ही गोपाङ्गनाओं ने सुना, और, क्योंकि, यह 'वेणुरव' सुधा संवलित 'प्रकार' का था, 'इस कारण' से (इति हेतोः), गोपाङ्गनायें, इसका वर्णन करने में समर्थ हुयी–इसका वर्णन करने लगीं, तृतीय-श्लोकोक्त वेणुगीत का नहीं, क्योंकि वह सुधा-संवलित नहीं था। इससे यह तात्पर्य निकला कि यहां, गोपाङ्गनाओं ने पंचम-श्लोकोक्त प्रकार के ही वेणु-नाद का वर्णन किया हैं, तृतीय-श्लोकोक्त प्रकार के वेणु-गीत का नहीं–क्योंकि पंचमश्लोक में निरूपित नाद ही, सुधा से संवलित है, तृतीय श्लोकोक्त 'गीत', केवल नाद-मात्र है। 'इति' के यह दोनों ही अर्थ यहां, 'संयोग-पृथकत्व'–न्याय से ग्राह्य हैं।

'वेणु-रवम्' यहां 'वेणु-नाद' अथवा 'वेणु-गीत' का प्रयोग न करके, 'वेणुरव' का ही जो प्रयोग किया गया है, उसमें विशेष तात्पर्य है। वेणुरव के 'रव' पद में 'र' अक्षर 'अग्नि-बीज' है तथा 'न' अक्षर 'अमृत-बीज'। तदनुसार, वेणुरव, प्रथम, विरहाग्नि प्रकट करके संताप देता है। फिर, संयोगावस्था में, अधरामृत का पान कराता हुआ, परमानन्द, प्रदान करता है। अतः यह 'रव' शब्द विरहाग्नि एवं अधरामृत-पान का सूचक है। 'विरहाग्निरधरामृतपानं च रवशब्देनोच्यते'। इस 'रव' पद के प्रयोग द्वारा, श्री शुकने, –'वेणुगीतं' के द्विविध-शृंगारात्मक-स्वरूप का विप्रयोग तथा संयोग श्रृंगारात्मक-स्वरूप का अवबोध कराया है। तात्पर्य यह है कि, भगवान् ने, वृंदावन में प्रवेश करके, प्रथम, तत्रस्थ वन सुंदरी वृंद को स्वच्छंद भोक्तृत्व के दान पूर्वक अर्थात् स्वकीय अधर-सुधा का पान कराते हुये, अपने संयोग-प्रधान श्रृंगार के रसात्मक स्वरूप का अनुभव कराया, तदनन्तर, व्रजस्था गोपाङ्गनाओं को सुधा संवलित वेणु-नाद द्वारा ही अपने विप्रयोगात्मक-परमान द-स्वरूप की रसानुभूति करायी, अतः, श्रोत्र द्वारा, हृदय में सुधा प्रवेश से, गोपाङ्गनाओं को, भगवान् के साथ आन्तर रमण प्राप्त हुआ। आंतर-रमण गुप्त-रस है, अतः इसका बोध भी, श्री शुक ने, गुप्ततया, इस 'रव' शब्द से ही किया है। और, क्योंकि, यह आन्तररमग गुप्त ही है, इसीलिये, भगवान् ने नाद से पृथक किये बिना ही अपने स्वरूप का बोध कराया, अर्थात्, नाद-समवेत ही स्वरूप की अनुभूति करायी; किंतु, वनस्थाओं को नादसे पृथक् तया निज स्वरूप का अनुभव कराया; क्योंकि, उनमें तो, 'स्वाच्छंद्य' संपादन पूर्वक रमण किया गया था। इस स्वाच्छंद्य संपादन का निर्देश, पूर्वश्लोकोक्त

'प्रात्रिशत' के 'प्र'+'आङ' उपसर्ग के प्रयोग द्वारा किया गया है। क्योंकि, वनस्था रमणियों में, श्रीपुरुषोत्तमावेश-प्रवेश से ही यह स्वच्छंद-भोक्तृत्व-भाव प्रकट हुआ था। यहां, श्रीशुकने, इसी स्वारस्य का गुप्ततया संकेत करने के लिये ही 'वेणुरव' का प्रयोग किया है। परीक्षित स्वयं इस रस से अनभिज्ञ है, और उसकी इसी अनिभिज्ञता का निर्देश करने के लिये, श्री शुकने, उसे 'राजन्' शब्द से संबोधित किया हे। तदुपरांत, राजा, अपने राज्य संबधित सभी कार्य गुप्त रूप से संचालित करते हैं। यहां राजा श्रोता है, और उसके श्रवण का विषय है 'वेणुरव'। वेणुरव में, भगवान् की द्विविध-रसात्मक लीला-गुप्त-रूप से विद्यमान है। गुप्त-नीति से कार्य करने वाले राजा परीक्षित को, भगवान् की गुप्त लीलाओं का निर्देश भी 'रव' शब्द द्वारा गुप्ततया ही किया गया है। परीक्षित को, 'राजन्' शब्द के संबोधन द्वारा, श्री शुकने यह संकेत किया है कि तुम स्वयं गुप्त नीतिज्ञ हो, अतः, भगवान् की इस रसात्मक गुप्तलीला को कदाच् अच्छी तरह समझ सकोगे। अथवा, गुप्त-नीतिज्ञ राजा को, भगवान् की गोप्य लीलाओं का संकेत भी, 'वेणुरवं, राजन्' आदि गुप्त-पदावलि द्वारा ही किया जाना उचित है। श्रीशुक, परीक्षित को, 'राजर्षि–सत्तम आदि अन्य नृपोचित नामों से भी संबोधित कर सकते थे, किंतु, ऐसा न करके, उसके लिये केवल स्वधर्म-निष्ठता वाचक 'राजन्' शब्द का ही प्रयोग किया है। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि केवल स्वधर्म-निष्ठ व्यक्ति इस रस को नहीं समझ सकता। अतः 'राजन्' शब्द के संबोधन द्वारा श्री शुक परीक्षित को यही सूचित कर रहें हैं कि आप इस रस से अनभिज्ञ हैं अतः सावधानतया श्रवण करें।

**सर्वभूत–मनोहरम्:–** अब, यदि केवल धर्म-निष्ठ-राजा अपनी अनभिज्ञता के कारण इस रस को नहीं समझ सकता, तो फिर, इस लीला रस के श्रवण में, उसकी प्रवृत्ति ही कैसे होगी? इस शंका के समाधान में यह उत्तर है कि, यहां, राजा की, इस कथन के श्रवण में जो रुचि हुयी है, वह केवल भगवत्-कृपा बल से ही हुयी है। अर्थात्, स्वयं प्रभु ने ही अनुग्रह-पूर्वक उसकी श्रवण में प्रवृत्ति करायी है। इसी अभिप्राय को लेकर, 'वेणुरव' के लिये 'सर्व-भूत मनोहरम्' विशेषण का प्रयोग किया गया है। यह वेणुरव, सर्व प्राणियों के मन को हरने वाला है। उसमें, सर्व के मन को वश करने का सहज धर्म है। लोह-चुंबक अपनी शक्ति से, वस्तु को स्वतः अपनी ओर आकर्षित करता है, उसकी यह शक्ति ही, प्रमेय-शक्ति-बल-कहलाती है। भले ही राजा परीक्षित स्व-धर्म-निष्ठ हो, रसानभिज्ञ हो, उसके चित्त को, वेणुरव का सर्वभूत-मनोहरत्व, अपने आप में स्वतः केन्द्रित कर लेगा। अर्थात्, वेणुरव के सर्वभूत-मनोहारि-रूप प्रमेय बल से ही, रसानभिज्ञ, धर्म-निष्ठ-राजा परीक्षित की अपने आप ही प्रवृत्ति होगी।

तात्पर्य यह है कि स्पष्ट-स्वरूपानुभव के अभाव में भी, वेणुरव के प्रति राजा की जो प्रवृत्ति होगी, वह वेणुरव के सर्वभूत-मनोहरत्व रूप प्रमेय बल से स्वतः होगी यह सूचित करने के लिये ही 'सर्वभूत-मनोहरम्' का प्रस्तुत श्लोक में प्रयोग हुआ है।

**'व्रजस्त्रियः'** – यहां गोपीजन के लिये, 'व्रजस्त्रियः' का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि ये गोपीजन, व्रजकी स्त्रियां है। भगवान् ने समस्त व्रज का अंगीकार किया है। व्रज-से संबंधित होने के कारण, वहां की जिन स्त्रियों का अंगीकार भगवान् ने किया है, उन स्त्रियों के जीवन में, भगवद-गुण संकीर्तन के अतिरिक्त अन्य कोई कर्तव्य ही शेष नही रहता। गोपीजन गृहणियां है, अपने समस्त गृहकार्य से निवृत्त होकर, यहां एकत्रित हुयी हैं। पुरुषवर्ग भगवान् के साथ वृंदावन में गोचारणार्थ गये हैं। संध्याकाल पर्यंत उनके पुनरागमन की कोई संभावना नहीं, आवश्यक-गृह कार्य से प्रातःकाल ही निवृत्त हो चुकी हैं, संध्या समय तक, अब अन्य गृहादि कार्य नही है। अतः आसक्ति पूर्वक केवल वेणुरव के वर्णन में ही तन्मय हो गयीं। भगवद्-वियोगावस्था में, भगवद्-लीलाओं का संकीर्तन एवं संयोगावस्था में प्रभु-सेवा, यही शुद्ध पुष्टि जीव की, व्रज-स्त्री मात्र की, इतिकर्तव्यता का, अथवा कार्यान्तर-अभाव के स्वरूप का सूक्ष्म निरूपण है। अतः समस्त व्रज स्त्रियां, मात्र सुधा संवलित वेणुरव के वर्णन करने में प्रवृत्त हो गयीं, वर्णन करते करते तन्मयता से समग्र प्रपंच की एकांत विस्मृति-पूर्वक, परमानंद में निमग्न होकर उसी में रमण करने लगीं।

संक्षेप में, प्रथम ही प्रथम, तृतीय श्लोक में निरूपित 'वेणु-गीत' का श्रवण करते ही, व्रजस्त्रियों में, स्मरण-रूप स्मरोदय हुआ, स्मरोदय से चित्त-चांचल्य के कारण वे वर्णन करने में असमर्थ हो गयीं। तदनन्तर, पंचमश्लोकोक्त सुधा-संवलित वेणु-रव के श्रवण से, व्रजस्त्रियों में सुधा का अन्तः प्रवेश हुआ उनके अन्तःकरण में सुधा अपनी परिपूर्णता से उच्छलित हो उठी, प्रतिक्षण वृद्धिगत होती हुयी, उमट उमट कर बाहर, वर्णन-रूप से निर्गलिग होने लगी। यहां, तृतीय-श्लोक से प्रस्तुत षष्ठ-श्लोक पर्यंत की यही संगति है।

**–षष्ठः श्लोक समाप्त–**

# अग्रिम-सप्तम श्लोक से बीसवें श्लोक पर्यंत 'वेणु-गीत-' का तात्पर्य --

कारिक :--

रसद्वयार्थं द्वितयं वेणु-पूरण-मेकत :-स्वच्छंदपाद-गमने हेतुश्चापि तथा परः ॥१॥
चतुर्भिः पीठिकैवं स्यात् षड्भिर्वेणोस्तु वादनम् ॥ १½ ॥

द्वाभ्यां भक्तेः प्रतिष्ठा च दोषस्यात् वर्णनेऽन्यथा।
वैपरीत्यात् समाधानमन्यथा स्यात्तुदूषणम् ॥ २½ ॥

संप्रति, अग्रिम 'अक्षण्वतां फलमिदम्'-श्लोक से लेकर, गागोपकैः' इस उन्नीसवें श्लोक पर्यंत, गोपीजन-कृत पारस्परिक गुणानुवर्णन का निरूपण किया गया है। इन तेरह श्लोकों के तात्पर्य को श्रीमद् आचार्य-चरण ने अपनी उपर्युक्त कारिकाओं द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है-

रसद्वयार्थं द्वितयम्-भगवत्-स्वरूप द्विविध-श्रृंगार-रसात्मक है। संयोग तथा वियोग भेद से शृंगार-रस दो प्रकार का है। धर्म सहित शृंगार रस, संयोगात्मक एवं केवल-शृंगार रस, जो नाट्य में प्रसिद्ध है, विप्रयोगात्मक कहा जाता है। भगवान् के इस द्विविध-शृंगार-रसात्मक-स्वरूप का उल्लेख- 'वर्हापीडं' श्लोक में हो चुका है। वहां, भगवान् को 'नटवर-वपु' कहा है, जिसमें 'नटवत्' पदसे उनके विप्रयोगात्मक रस स्वरूप का तथा 'वरवत्' पद से संयोगात्मक-रस स्वरूप का निर्देश किया गया है। भगवान् के इसी 'वरवत्' अर्थात् धर्म-सहित संयोगात्मक रस स्वरूप का निरूपण 'अक्षण्वतांफलमिदम्' इस सप्तम श्लोक में, तथा 'चूतप्रवाल' से प्रारंभ होनेवाले अष्टम श्लोक में, भगवान् के 'नटवत्' अर्थात् विप्रयोगात्मकं केवल रस स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। इस तरह शृंगार के संयोगात्मक तथा विप्रयोगात्मक स्वरूप का वर्णन यथाक्रम सप्तम तथा अष्टम इन दोनों श्लोकों द्वारा निरूपित किया गया है। भगवान् ने वेणु में अपनी अधर-सुधा आपूरित की, उसका वर्णन 'गोप्यः किमाचरदयं' इस नवम-श्लोक में हुआ है। अपनी स्वच्छंद-लीला के संपादनार्थ, भगवान् ने वृंदावन में जो पदार्पण किया, अपने चरण स्थापित किये, उसमें उनका प्रयोजन वहां की भूमि के यश को विस्तृत करने का था। इसी प्रयोजन अथवा हेतुका निरूपण 'वृंदावनं' सखि भुवः वितनोति कीर्तिम्' इस दशम-श्लोक में किया गया है। तात्पर्य यह है कि स्वकीय स्वच्छंद-गुप्तलीला करने के लिये ही भगवान् का वृंदावन में आगमन हुआ है, यहां, स्वरमणार्थ अपने चरणारविंद स्थापित किये हैं। भगवान् के चरण-युगल साक्षात् भक्ति रूप है। अतः, इस तरह, स्वच्छंद-लीला संपादनार्थ, अपने चरणारविंदो की

स्थापना द्वारा, भगवान् ने यहां वृंदावन में, पुष्टिभक्ति की ही प्रतिष्ठा की। भक्ति की इस स्थापना से, वृंदावन-भूमि के यश में अभिवृद्धि हुयी। वस्तुतः, भगवान् के साक्षात् भक्ति-रूप चरणों की संस्थापना से ही तो वृंदावन की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त है – विस्तीर्ण हुयी है। भगवान् ने वृंदावन में, स्वचरणारविंदो से जो गमन-रमण किया उस में आपका यही हेतु था कि वृंदावन-भूमि की कीर्ति का विस्तरण हो। 'स्वच्छंद-पादगमने हेतुश्चापि' -कारिका की इस पंक्ति में 'च' कार से पुष्टिलीला के स्वरूप की तथा 'अपि' से चरण के स्वरूप की यथाक्रम स्थापना रूप अन्य हेतु-द्वय का भी प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् प्रभु के वृंदावन-विहार में, अर्थात् स्वच्छंद पाद-गमन में, उनका एक मात्र हेतु, भक्ति-भाव को उद्‌बुद्ध करना ही नहीं था, अपितु, पुष्टि-लीला करने के लिये तथा स्वचरणों के माहात्म्य की स्थापना के लिये भी, प्रभुने, वृंदावन में 'पदार्पण–पादगमन' किया।

इस तरह, अग्रिम-श्लोक-चतुष्टय द्वारा पीठिका का अर्थात् भगवान् की संपूर्ण-लीलाकृति के सिंहासन का, आधार-स्तंभ का निरूपण किया गया है। तदनुसार, द्विविध-रस की, वेणु में सुधा-पूरण की तथा वृंदावन में स्वच्छंद विहार की, सप्तम श्लोक से दशमश्लोक पर्यंत-श्लोक-चतुष्टय द्वारा, सामान्य-पीठिका का निरूपण करके, तदनन्तर इनके विशेष निरूपण-प्रसंग में इससे अग्रिम छह श्लोकों द्वारा, अर्थात् एकादश श्लोक से षोडश-श्लोक पर्यंत, भगवत्-कृत वेणु-वादन का वर्णन किया गया है। यहां, 'वेणोस्तुवादनम्' कारिका में 'तु' पद, स्वरूप-लीला की व्यावृत्ति का निर्देश करता है अर्थात् वेणु के वादन द्वारा 'नाम लीला' का ही निरूपण किया गया है, 'रूपलीला' का नहीं। वेणु का नाद, नाम-लीलात्मक है, रूप-लीलात्मक नहीं।

'द्वाभ्यां भक्तेः प्रतिष्ठा च, दोषः स्यात् वर्णनेऽन्यथा'– इससे अग्रिम, सप्तदश तथा अष्टादश-श्लोक-द्वय में भक्ति की प्रतिष्ठा का वर्णन है। अर्थात्, यहां, भगवद्-चरणारविंदो के लोकोत्तर माहात्म्य का प्रत्यक्ष निदर्शन कराया गया है। भगवद् चरण, भक्ति मार्ग रूप हैं, अतः जहां जहां भगवान् ने स्वचरण स्थापित किये वहां वहां ही भक्ति की प्रतिष्ठा हुयी और यही भगवद् चरणों की चमत्कृत-महिमा है। भगवद्-चरणों के माहात्म्य का इस से अधिक और क्या प्रतिपादन किया जा सकता है कि पुलिन्दियों जैसी हीन स्त्रियों को भी, भगवद्-चरण-संलग्न-कुंकुम को, जो भूमि-गत तृणों पर अंकित हो गया था, उसको, अपने स्तन-मंडल पर लेप करने मात्र से, लक्ष्मी के समान महत्-सौभाग्य की प्राप्ति हो गयी!!! इसी तरह, इन चरणों के स्पर्श-मात्र से, गिरिराज हरिदासवर्य, भक्ति-सुलभ आनन्दमयता से पुलकायमान हो उठा!! उपर्युक्त दोनों श्लोको में, यदि भगवद्-चरणों की इस विलक्षण महिमा

का उल्लेख नहीं किया जाता, अर्थात् इन चरणों की यह महनीयता यदि अनुक्त ही रहती, तो एक महान् दोष, लोक-दृष्टि में एक अनर्थकारी भ्रांति उत्पन्न हो जाती। लोक में भी, अपने से निम्न-स्तरीय-स्त्री से संबंध करने वाला पुरुष, हीन-नायकत्वके दोष से नहीं बच सकता, तो फिर, भिल्ल-पत्नियों जैसी हीन जाति की स्त्रियों के साथ संबंध करने वाले, उनसे दिये गये कन्दमूलादि का भक्षण करने वाले श्रीपति पूर्ण पुरुषोत्तम के हीन-नायकत्व-रूप दोष की परिसीमा ही क्या ? साक्षात् भक्ति-रूप भगवद्-चरणों का माहात्म्य यदि अनुक्त ही रहता, स्पष्ट न किया जाता, तो भगवत् कृत यह आचरण लोक-वेद से गर्हित एवं विपरीत ही माना जाता। इस हीनता रूप दोष की निवृत्ति के लिये, उसके समाधान के लिये ही उपर्युक्त दोनों श्लोकों में, चरण-स्थापना रूप भक्ति-स्थापना का प्रतिपादन किया गया है।

'वैपरीत्यात् समाधानमन्यथा स्यात्तुदूषणम्'– तथापि, यह सब कुछ होते हुये भी, लोक और वेदकी दृष्टि में, प्रमाण तथा मर्यादा की सीमा में, यह एक महत्-दोष माना ही जायेगा। यह एक भ्रांति रह ही जायेगी। इसके समाधान में, श्रीमद्-आचार्य-चरण का कहना है कि हमारा मार्ग, पुष्टि-मार्ग अर्थात् प्रमेय मार्ग है। प्रमेय मार्ग, प्रमाण मार्ग से विपरीत तो है ही, बलिष्ठ भी है। पुष्टि मार्ग स्नेह-मार्ग है, मर्यादा मार्ग, विधि-मार्ग है– 'विधिस्नेहयोः स्नेहो बलिष्ठः'। स्नेह ही सर्वोपरि माना गया है, विधि नहीं। प्रमाण मार्ग की उत्तमोत्तम उपलब्धि 'मोक्ष' मानी गयी है, किंतु, प्रमेय मार्ग में इसका कोई मूल्य नहीं–प्रमेय-मार्गीय-भक्त अर्थात् पुष्टि-भक्त, मोक्ष दिये जाने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता –'दीयमानं न ग्रहणन्ति'। प्रमाण-मार्ग में, जो दूषण रूप हैं, प्रमेयमार्ग में वही भूषण रूप माने जाते हैं। प्रमेय अर्थात् स्नेह मार्ग की यही विलक्षणता है। इसमें 'बाधक' ही 'साधक' बन जाता है। 'स्नेहेन बाधितार्था : अपि प्रयोजका भवन्ति-' सुबो.। दूषण भी भूषण हो जाता है– 'मर्यादा–वैपरीत्यं भूषणमिति सारम्'। प्रमेय-मार्ग को प्रकट करने के लिये ही, संप्रति, भगवान् ने वृंदावन में प्रवेश किया है। वर्तमान में, भगवान् ने इसी मार्ग को स्थापित किया है। भगवान् के चरित्र को, मर्यादा मार्ग, विपरीत कह कर, दूषण-रूप मानता है; प्रमेय-मार्ग, भगवद्-चरित्र के इस वैपरित्य को ही उसका भूषण, मानता है, क्योंकि, भगवान् विरूद्ध धर्मो के आश्रय हैं– 'विरुद्ध धर्माश्रयत्वात्'। भगवान् का चरित्र ही विपरीत है। भगवान् के विपरीत चरित्र से ही, भगवान् की उपर्युक्त विपरीत लीलाओं का समाधान, 'गा गोपकैः'– इस उन्नीसवें श्लोक द्वारा किया गया है। भगवान् की उपस्थिति मात्र से अयोग्य, योग्य हो जाते हैं, और, जो योग्य हैं, वे अयोग्य हो जाते हैं!!! ब्रज की योग्य सजातीय कुलवधुयें अयोग्य हो गयी,

अरण्य-निवासिनी पुलिंद स्त्रियां योग्य होगयीं !!! जहां, प्रकृतितः गतिशील दौड़ती हुयीं सरितायें स्थिर हो जाती हों, तथा जन्मतः जड़-जाति के वृक्षों की शाखाशाखा में से रोमोद्गम पूर्वक मधु-धारायें प्रस्रवित होने लगती हों, वहां प्रमाण की सीमायें समाप्त हो जाती है, और प्रमेय के साम्राज्य का प्रारंभ, उन्नीसवें श्लोक का यही तात्पर्यार्थ है। बीसवें श्लोक में लीला की समाप्ति का वर्णन है। इस तरह, तेरह श्लोकों में, भगवत्-कृत त्रयोदश लीलाओं के पारस्परिक अर्थ की संगति तथा लीला के तात्पर्य का निरूपण करके चौदहवें श्लोक में लीला की परिपूर्णता का वर्णन किया गया है।

—: ० :—

## सप्तम-श्लोक विवरण:-

अक्षण्वतां फलमिदं न परंविदामः,
सख्यः पशूननु निवेशयतो वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ।।७।।

"ग्वाल-सखा सह लाल-व्रजेश के, आवहिं या वन धेनु चराने ।
वेणु-विभूषित वा मुख की छबि ! ! ! नैन अबैन जु कैसे बखाने ।। १ ।।
राग-भरी तिरछीजु चितौनितें, पान कियो जिन, भान भुलाने ।
या बड़-भागिन आंखिन को सखि ! नाहिन और महाफल जाने ।। ७ ।।

**अनुवाद :–** हे सखियो ! गोप-सखाओं द्वारा पशुओं को वन में प्रवेश कराते हुये श्रीनन्दनन्दन–युगल के, वेणुनाद करते हुये तथा अनुराग से कटाक्ष-निक्षेप करते हुये श्रीमुख का जिन्होंने सेवन अथवा पान किया है, उन इन्द्रियधारियों अथवा नेत्रधारियों के लिये एकमात्र यही मुख्य फल है, हम, इस 'मुख' से अधिक, और कोइ फल जानती ही नहीं 'परं'– सायुज्य-आदि मोक्ष भी नहीं ।

**व्याख्या :–** चतुर्थ श्लोक से, व्रजाङ्गनायें, जिस भगवत्-स्वरूप का वर्णन प्रारंभ करने ही लगीं थीं, किंतु, प्रारंभ करते ही, स्मरोदय से चित्त-विक्षेप के कारण वर्णन न कर सकीं, तथा जिस भगवत्-स्वरूप का वर्णन, गोपीजन की इस अशक्त अवस्था में श्री शुकने 'वर्हापीडं' श्लोक में किया, उसीका फल-रूप से वर्णन, गोपीजन 'अक्षण्वतां' आदि अग्रिम श्लोको से करती हैं । अर्थात्, श्री शुक ने अधर-सुधा से संवलित जिस वेणुरव का वर्णन 'वर्हापीड़' श्लोक द्वारा किया था, अधर-सुधा संवलित उसी वेणुरव का वर्णन, संप्रति, गोपीजन, अग्रिम श्लोक चतुष्टच्य से करती हैं । संयोग-शृंगार-रसात्मक भगवान् का स्वरूपतः वर्णन प्रथम, 'अक्षण्वतां' श्लोक से प्रारंभ करती हैं । विभावादि सामग्री सहित-शृंगार ही संयोग-शृंगार कहलाता है । भगवान् स्वरूपतः रसात्मक अत एव विभावादि सामग्री से स्व-संपूर्ण हैं । अतः, स्वरूपतः रसात्मक भगवान् का अर्थ है संयोग-शृंगार रसात्मक भगवान् । तदनुसार, यहां, वर्हापीडं श्लोकोक्त 'नटवरवपु' पदान्तर्गत 'वर' शब्द से निरूपित संयोग-रसात्मक प्रभु का, यह स्वरूपतः वर्णन है । इससे अग्रिम-'चूतप्रवाल' श्लोक में 'केवल' रसात्मक भगवान् का-'नटवत्' वियोग-शृंगार रसात्मक-भगवान् का, निरूपण किया जायेगा ।

'अक्षण्वतां फलमिदम्'-अक्षन् का अर्थ इन्द्रिय अथवा नेत्र, दोनों होते हैं । पुरंजनोपाख्यान में श्रीनारद के मतानुसार "अक्षण्वत्" पद इन्द्रियवान् का भी वाचक

है। 'अक्षण्वता मधिपतिस्ताम्यां याति करोतिच'। तदनुसार, एकादश इन्द्रियवान् का अथवा नेत्रवान् का यदि कोई परम-फल है तो यह 'इदम्'-हृदय में मनोरथ रूप से प्रकाशित पुरुषोत्तम-स्वरूप ही है, मोक्ष नहीं। मोक्ष का अर्थ है, देहेन्द्रिय आदिसे रहित जीव का पुरुषोत्तम में प्रवेश; इस प्रकार की मोक्ष में तो इन्द्रियों का वैफल्य ही है। अपने अपने विषय कि रसानुभूति में इन्द्रियों की सफलता है। अतः, इन्द्रियों का फल, मोक्ष नहीं है। इन्द्रियों का फल तो 'वर्हापीडं' में निरूपित यह-'इदम्'-रसात्मक भगवान् ही है। और यही हमारे संकीर्तन का फलात्मक विषय है। मोक्ष की फल रूपता का निषेध करने के लिये ही प्रस्तुत श्लोक में, 'इदम्' पदका 'फलमिदम्' प्रयोग किया गया है। श्रीमद्-आचार्य चरण ने, इन्द्रियवान् के लिये, इसी परम स्पृहणीय ईप्सिततमम् (संक्लृप्यमानस्य) —प्रमेय पुरुषोत्तम को एकमात्र फल माना है और इसी का प्रतिपादन निम्न कारिकाओं द्वारा किया गया है।

**"भगवता सह संलापो, दर्शनं मिलितस्य च, आश्लेषः सेवनंचापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ।। ३½ ।।**

**अधरामृतपानं च, भोगो रोमोद्गमस्तथा, तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ।। ४½ ।।**

**तदन्तिकगतिर्नित्य मेवं तद्भावनं सदा ।। ५ ।।**

**इद मेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोऽपि नान्यथा, यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णोः फलं भवेत् ।। ६ ।।**

**एवं मोक्षोऽपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि, बाधकानां परित्यागे साधकानां न तद्भवेत् ।। ७ ।।"**

भगवान् सर्वेन्द्रियों से भोग्य है। और यह भोग्य-स्वरूप ही फल-रूप है। भगवान् के साथ संभाषण, मिलन काल में उनके दर्शन, उनका आलिंगन, से-न तथा स्पर्शन, उनके अधरामृत का पान, उनके साथ रमण तथा तत्सुलभ रोमांच, उनके मधुरालाप का श्रवण, उनके श्री अंगका सर्वतः आघ्राण, उनके निकट नित्यगमन तथा उनका ही मन द्वारा सर्वदाभावन-इन्द्रियधारियों को, भक्ति के फल रूप में यही अभिलषित है- 'भक्तिफलत्वेनाभिलषितम्'। यहां, भगवत्-स्वरूप का, सर्वेन्द्रियों से भोग्यत्व ही फलरूपता है। प्रभु के साथ संभाषण, वाणी के कार्य का फल है; उनके दर्शन, नेत्रों का कार्य फल है ; उनका आलिंगन तथा उनकी सेवा, बाहु तथा कर अर्थात् हस्तेन्द्रिय का कार्य-फल हैं; उनका स्पर्श, त्वचा का; अधरामृत पान, रसना का; उनके साथ साथ संभोग-गुह्येन्द्रिय का; रोमांच, पायु का; उनके मधुरकूजन का श्रवण,

श्रोत्रेन्द्रिय का; उनके श्री अंगका सर्वत: आघ्राण, घ्राणेन्द्रिय का, उनके समीप नित्य गमन, चरणों का; तथा उनका सर्वदा चिंतन, मन का; यथाक्रम कार्य-फल है। यहां, गुह्येन्द्रिय का कार्य-फल, संभोग कह गया है। अर्थात् भगवत्-सेवोपयोगी-संतानोत्पत्ति में ही, इस इन्द्रिय की सार्थकता-फलरूपता-समझनी चाहिये। यहां रोमोद्गम को पायु-गुदा का कार्य बताया है। देह में से स्वेद, रोमांच आदि का जो निर्गमन-विसर्ग होता है, उसे श्रुति ने पायु का कार्य माना है। 'सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनम्'। विसर्ग का अर्थ है बाहर निकालना, बाहर निकालने का कार्य जिस इन्द्रिय से संपादित होता है उसको पायु कहते हैं। भागवत दशम स्कंध के तृतीय स्कंध में 'पुलकोद्भिन्नसर्वांग:' 'तथा एतत् हृषीकचषकै:' इन दोनों श्लोकों से भी श्रीमद्-आचार्यचरणने-दशम-इन्द्रिय पायु के स्वेद, रोमांच आदि विसर्ग कार्योंका निर्देश किया है। 'रोमांच: स्वेदश्च दशमकार्यं, अन्येषामुपयोग: स्पष्ट एव'। अर्थात् एकादश इन्द्रियों में, पायु दशम-इन्द्रिय है, जिसका कार्य, रोमांच और स्वेद है। इस प्रकार एकादश इन्द्रियों से भगवद्-भोग ही, इन्द्रियवान् का फल है।

जिस इन्द्रिय का जो विषय है, उस विषय की अनुभूति में ही उसकी सफलता है। इन्द्रियों की सार्थकता तभी मानी जायेगी जब उनको अपने अपने रस का उपभोग प्राप्त हो—जैसे नेत्रेन्द्रिय कि सफलता सौंदर्य-दर्शन में ही है। तदनुसार, भगवान्, के साथ संलापादि में ही, इन्द्रियवान् की वाणी आदि इन्द्रियों की सफलता है। अत: इन्द्रियधारी भक्त को तो, उसकी इन्द्रियोंके रसानुभावक होने के कारण, संलाप आदि ही फल-रूप में अभिलषित हैं, मोक्ष नहीं। मोक्ष तो अन्यथा है। मोक्ष में, इन्द्रियां, अपने अपने रसानुभव की अप्राप्ति के कारण, विफल ही रहेंगी। तदनुसार, मोक्ष, इन्द्रियों की विफलता का आपादक है। पुष्टि मार्गीय भक्त को, उसकी सेवा के फल-रूप में, भगवान्, सेवोपयोगी-देह-कदाचित्, प्रदान करे, तथापि, ऐसी अवस्था में भी इस प्रकार के संलापादि असिद्ध ही रहते हैं। भक्त को तो संलाप आदि ही फल-रूप से अभिलषित हैं। जहां, भक्त को, फल-रूप में प्रदान की गयी सेवोपयोगी देह के प्रति भी यह उपेक्षा है, वहां, मोक्ष के प्रति यदि उसको एकांत अरुचि हो तो आश्चर्य ही क्या ? मोक्ष में इन्द्रियवान् की इन्द्रियों को किसी भी प्रकार का रसानुभव नहीं, अत: मोक्ष में तो इन्द्रियां असफल ही रहती हैं। एकादश इन्द्रियों द्वारा, रसात्मक प्रभु का उपभोग ही, इन्द्रियवान् को, भक्ति के फलरूप में अभिलषित है, निष्प्रकारक रसानु-भावक अतएव इन्द्रिय-वैफल्य का संपादक, मोक्ष नहीं। मोक्ष में इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का तथा तत्सुलभ क्रिया का अभाव होने के कारण इन्द्रियों की, विफलताही रहती है। अत: मोक्ष तो इन्द्रियों आदि से रहित के लिये ही फल-रूप है, इन्द्रिय धारियों

के लिये मोक्ष कदापि फल-रूप नहीं- 'केवलानां' फल-रूपत्वान्न तथा- जन्यज्ञानक्रिया-अभावेन इन्द्रिय-वैफल्यान्न फलम् इत्यर्थं'. वृ प्र.। आधिदैविक देहेन्द्रियधारियों को तो, श्री पुरुषोत्तम के साथ, जिस इन्द्रिय का जो विषय है-रस है, उस इन्द्रिय द्वारा उसी विषय का, उसी रस का, अनुभव-उपभोग करना ही एकांत फल-रूप है।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि कैवल्य-रूप मोक्ष को सर्वाधिक माना गया है, तो फिर इसे फल-रूप मानने में क्या आपत्ति है? 'एकत्वस्य सर्वाधिकत्वात् तस्य कथं न फलत्वम्'?–वृ. प्र.। इसका उत्तर यह है कि एकत्व की, भेदके आत्यंतिक अभाव रूप आत्मैक्य की, अर्थात् एकांत-अभेद रूपता की स्थिति को ही मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार की मोक्ष में, अर्थात् पुरूषोत्तम में प्रवेश रूप जो सायुज्य मोक्ष है-उसमें, इन्द्रियां विफल-अकृतार्थ ही रहती हैं। जिस तरह अंधकार में ही सर्वदा स्थिति से, नेत्र का जो चाक्षुष-ज्ञान है, वह प्राप्त नहीं होता, उसी तरह, मोक्ष में-सायुज्य मोक्ष में-इन्द्रिय सुलभ ज्ञान तथा क्रिया के अभाव में, जैसा कहा जा चुका है, इन्द्रियां विफल ही रहेंगी। नेत्रधारी यदि अंधकार में ही रहे तो उसको उसकी नेत्रोन्द्रिय का क्या फल मिलेगा? अंधकार में स्पर्शादि द्वारा ज्ञान होने पर भी, नेत्र का विषय जो रूप ग्रहण करना है, प्राप्त नही हो सकता, अतः नेत्रेन्द्रिय की तो विफलता ही मानी जायेगी। इसी तरह, देहेन्द्रिय प्राणान्तः करण से युक्त जीव को, यदि मोक्ष प्राप्त हो, तो उस दशा में, उसकी इन्द्रियां अपने अपने रसानुभव रूप फल को कदापि प्राप्त नहीं कर सकतीं। अर्थात् अकृतार्थ ही रहेंगी–लेख.। अंधकार में स्पर्श-ज्ञान की तरह, यद्यपि मोक्ष में स्वरूपानुभूति होती है, आत्मद्वारा आनन्दानुभव होता है, तथापि, वाणी आदि प्रत्येक इन्द्रिय का भगवत्-सह संलापादि रूप जो फल है, प्रत्येक इन्द्रिय से संबंधित अपना अपना विषय-जो रसामुभव है, उस रसानुभव रूप फल का तो, इस मोक्ष में अभाव ही रहता है।

यद्यपि, अंधकार में ही किंचित्कालीन स्थिति से, कुछ सयम तक ही अंधकार में रहकर पुनः प्रकाश में ही आ जाने से तो, नेत्रेन्द्रिय की विफलता नही मानी जायेगी किंतु, अंधकार में ही सदाकालीन स्थिति में तो नेत्रेन्द्रिय का वैफल्य ही है। इस तरह आधिदैविक देहेन्द्रिय आदि से संपन्न जीव को भी, उत्कट भगवद् भावोदय की अवस्था में, देहेन्द्रिय आदि की अस्फूर्ति-विस्मृति-पूर्वक ब्रह्मानंद की अनुभूति होती है। किंचित्काल पर्यंत भगवद्-रूपता में देहेन्द्रिय आदि की यह अस्फूर्ति आपत्ति-जनक नहीं है, इन्द्रिय-वैफल्य कारक नहीं है, किंतु, मोक्ष में सर्वकालीन स्थिति तो इन्द्रियों के वैफल्य की संपादिका ही मानी जायेगी। अतः इन्द्रियवान् भक्त को, इस प्रकार की सर्वथा मोक्ष कदापि अभिलषित नही। सर्वथा मोक्ष प्राप्ति का अर्थ है, अंधकार

में ही सदाकाल स्थिति करना, क्योंकि दोनों में ही इन्द्रियों का वैफल्य रहता है। यहां कारिका में, 'नियत' तथा 'एवं सर्वथा' का अभिप्राय है– 'सर्वथा अंधकार एवं संपूर्ण मोक्ष'। सर्वदा अंधकार तथा सर्वथा मोक्ष इन्द्रियधारी को कदापि अभिलषित नहीं होती। जिस तरह नेत्रेन्द्रिय के वैफल्य का संपादक अंधकार है, उसी तरह सर्वेन्द्रियों के वैफल्य की संपादिका मोक्ष हैं– इस तरह दोनों प्रकार की अवस्थाओं में परस्पर उपमान उपमेय का संबंध है– 'तथा च इन्द्रिय-वैफल्या पादकत्वेन उभयोरुपमानोपमेयभावः'-लेख।

अब यदि यह प्रश्न किया जाये कि इन्द्रियों की विफलता के कारण, मोक्ष चाहे फल-रूप न मानी जाये? तथापि, हरिभक्तों को, मोक्ष की इच्छा न होते हुये भी, उनकी भक्ति के फल-रूप में, सायुज्य मोक्ष की ही प्राप्ति करायी जाती है। 'हृतात्मनो हृतप्राणानांश्च भक्ति-रनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुक्ते'– इस कथन के अनुसार हरिभक्तों को भी सायुज्य मोक्ष अवश्य प्राप्त होती है, तदनुसार, सर्वेन्द्रिय-युक्त भक्त के लिये मोक्ष क्यों न फल-रूप मानी जाये? इसका समाधान, श्रीमत्प्रभुचरण ने जिस तरह किया हैं–सेन्द्रियाणामपि तदफलने हेतु माह– उसका तात्पर्य यह है कि जिस भक्त को मुख्य-फल का अर्थात् श्री पुरुषोत्तम सह संलापादि रूप फल का अधिकार नहीं है, सर्वेन्द्रिय से युक्त उस भक्त को, भगवान् सायुज्य मोक्ष देते हैं, किंतु, प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार तो, जिस भक्त ने, इहलोक तथा परलोक में भी, भगवद्-अतिरिक्त सर्व-बाधक पदार्थों का परित्याग किया है–साधकानां परित्यागे-एवं जिसमें सर्वात्म-भाव का अभाव नहीं है, उसी सर्वेन्द्रिय युक्त भक्त को मुख्य-फल की प्राप्ति करायी जाती है, उसको मोक्ष फल नहीं दिया जाता। इस तरह, अधिकारी-भेद के कारण ही, यह फल भेद है–वृ. प्र.। वास्तव में देखा जाये तो सर्वात्म-भाव से भजन करनेवाले भक्त को, भगवद्-अतिरिक्त सर्व-बाधक-पदार्थो का परित्याग कर देने के कारण, मोक्ष नामक पदार्थ फल-रूप से अभिलषित है ही नहीं, उसको तो फल-रूप में श्री पुरुषोत्तम ही चाहिये, श्रीपुरुषोत्तम के अतिरिक्त अन्य पदार्थ से न तो वह परिचित है, और न वह चाहता, भले ही फिर वह पदार्थ मोक्ष ही क्यों न हो!! –"सर्वात्म-भाववतां मोक्ष-लक्षणं वस्तु फलत्वेन अभिलषितं न भवेत्"–लेख। तदनुसार बाधक-पदार्थो के परित्याग पूर्वक सर्वात्म-भाव की साधना में तत्पर साधक को ही, मुख्य फल प्राप्त होता है। मोक्ष की कामनावाले को अर्थात् मुमुक्ष को, सर्वात्म-भाव की साधना के अभाव में, बाधक पदार्थों के परित्याग करने पर भी, मोक्ष ही मिलती है, मुख्य फल नहीं–कारिकार्थ। अतः, मुख्य-फल की प्राप्ति में 'सर्वात्म-भाव' ही साधन है।

किंतु, सर्वात्म-भाव की उपलब्धि दुर्लभ है। सर्वात्म-भात्र का अर्थ है–'सर्वत्र आत्मनो भावः सर्वात्म-भावः' अर्थात् सर्वत्र आत्मा की विद्यमानता। आत्मा से अवियोग होते हुये भी, जहां वियोगानुभव हो, उस अवस्था को सर्वात्म-भाव कहते हैं। यह वह अवस्था है, जिसमें, भक्त के देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण जीव में, सर्वत्र सदा-सर्वात्मा श्रीकृष्ण-भाव अभिव्याप्त हो जाता है। जैसे काष्ठ के अणुअणु में अग्नि व्याप्त हो जाती है, वैसे ही, भक्त में 'श्रीहरी' का आवेश होता है। श्री हरिरायजी के मतानुसार यही 'धर्मी' विप्रयोग' कहलाता है। इस अवस्था में 'चित्त' भगवन्मय हो जाता है। भगवद्-अतिरिक्त अन्य-भाव का सर्वथा अभाव रहता है। "बाह्य आभ्यंतर-संवेदना से शून्य, भगवद्-भावमय"–यह अवस्था है। संयोग में जो आनंद है, संयोग में जो क्रिया है वे दोनों इस विप्रयोगात्मक अवस्था में विद्यमान रहती है। यह सर्वात्म-भाव, भक्ति की पराकाष्ठा है, पराभक्ति है। भगवद्-अतिरिक्त, सर्व-बाधक पदार्थों का परित्याग भी, इसी सर्वात्म-भाव के अंतर्गत आजाता है। किंतु, इस प्रकार का सर्वात्म-भाव तो किसी विरल गोप-वधु को ही सिद्ध हुआ है। अब, यदि सर्वात्म-भाव की सिद्धि इतनी दुर्लभ है, और, यदि इस प्रकार, सर्वात्म-भाव के अभाव में मुख्य-फल की प्राप्ति संभव नहीं है, तो फिर साधारण गोप और गोपीजनों को, अथवा आधुनिक जीवोंको, जिनमें इस प्रकार के भाव का स्वतः अभाव है, अथवा पुष्टिमार्गीय मोक्ष की कामनावाले भक्तों को, जो सर्वेन्द्रिय से युक्त हैं, किंतु जिनमें बाधक पदार्थ के परित्याग का अभाव है–इन सभी साधारण अधिकारियों को मोक्ष-फल ही मिलेगा, मुख्य-फल से वंचित ही रहेंगे? यहां, इस प्रकार की आशंका नही करनी चाहिये। प्रथम कक्षा के ऐसे साधारण जीवों को, मुख्य-फल की प्राप्ति में उपकारक [illegible]र्वात्म-भाव की सुख-साध्य-साधना का उपदेश, श्री कपिलदेव ने, भागव[illegible] के तृ[illegible] [illegible]र्गत बत्तीसवें अध्याय में दिया है–"इसलिये तुम श्रीहरि का ही, सर्व भाव[illegible] भज[illegible] करो–" तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्। श्री कपिलदेव के इस उपदेश का तात्पर्य–श्री सुबोधिनी के अनुसार यह है कि–देहादि से लेकर अर्थात् पति-पत्नि, पुत्रादि से लेक[illegible] ईश्वर पर्यंत, जितने भी काम्य अ[illegible] भजनीय पदार्थ है, तथा [illegible] जिस भावों से इनकी, कामना-स्पृहा की जाती है, उन सभी भावों को, भगवान् में ही केंद्रित कर देना चाहिये, उन सभी भावों द्वारा भगवान् ही स्पृहणीय अथवा भजनीय होने चाहिये। इस प्रकार के सर्वात्म-भाव का यह उपदेश श्री कपिलदेव ने प्रथम-प्रारंभिक कक्षा के जीवों के प्रति दिया है। उपर्युक्त कारिका में 'साधकानाम्' पद के पृथक् निर्देश करने में यही हेतु है। श्रीकपिलदेव के उपर्युक्त उपदेश के अनुसार 'सर्वात्म भाव' की व्युत्पत्ति इस तरह है–'आत्मनि भावः– आत्मभावः, सर्वश्चासौ आत्मभाव-

श्चेति-सर्वात्मभावः" –अर्थात् आत्मा के विषय में जो भाव, वह आत्म-भाव; सर्व ऐसा जो यह आत्मभाव वह सर्वात्मभाव। जैसी आसक्ति जीव को अपनी आत्मा के प्रति रहती है, वैसी आसक्ति, उसकी न तो अपनी देहेन्द्रिय आदि में है, और, न अपने पति, पत्नि, पुत्रादि में। अपनी आत्मा के सुखार्थ ही उसे, अपने अहंता के विषय देहेन्द्रिय आदि में, तथा अपने ममता के विषय, दारा-आगार, पुत्र-वित्तादि में, प्रीति है–'न पुत्रः कामाय पुत्रः प्रियो भवति, आत्मनः कामाय पुत्रः प्रियो भवति'। अपने सुख के लिये ही जीव को देह, गेह, पुत्र, मित्र, वित्त आदि प्रिय लगते हैं, और, यही पदार्थ, जब उसके आत्म-सुख में अनुपयुक्त हो जाते हैं, तब, अप्रिय लगने लगते हैं। वस्तुतः समस्त-प्राणियों के एकमात्र आत्म-तत्व श्रीकृष्ण ही हैं। भगवान् सर्व-आत्माओं के अन्तर्यामी हैं, अतः देहेन्द्रिय आदि के प्रति एवं दारागार पुत्र वित्तादि के प्रति जो जो भाव हैं, वे सर्व भाव, वस्तुतः आत्मारूप श्रीकृष्ण के प्रति ही कहे जायेंगे। अतः, ये सर्व-भाव वास्तव में श्रीकृष्ण के लिये ही हैं, और उनके लिये ही किये जाने चाहिये। यद्यपि, भगवद् अतिरिक्त सभी बाधक पदार्थों का परित्याग, सर्वात्म भाव के पृष्ठ-लग्न ही है, उसके अन्तर्गत ही आ जाता है, तथापि, श्री कपिलदेव ने, बाधक-पदार्थों के परित्याग का यह पृथक् उपदेश, सर्वात्म-भाव से रहित, प्रथक-कक्षा के आधुनिक जीवों के लिये किया है। अतः, इस प्रकार के दुर्लभ सर्वात्म भाव की सिद्धि-प्राप्ति के पूर्व, प्रथम कक्षा के साधक को, प्रभु के अतिरिक्त सर्व-बाधक-पदार्थों का परित्याग, बुद्धि-पूर्वक करते रहना चाहिये। सर्व-भाव पूर्वक भजन में ही साधक का साधकत्व है। अतः बुद्धि-पूर्वक बाधकों का परित्याग तथा इसकी निरंतर भावना, यह दोनों ही प्रारंभिक कक्षा के साधक के लिये परम-आवश्यक है। ऐसे जीवों को फिर फलरूप में मोक्ष नहीं दी जाती, मुख्य-फल ही उपलब्ध कराया जाता है। मर्यादा मार्गीयभक्त को ही मोक्ष फलित होती है। श्री कपिलदेवोक्त सर्वात्म भाव की साधना करने वाला प्रथम कक्षा का साधक, 'सर्वात्मभाव-ऋतु' कहलाता है, तथा इस जन्म में, अथवा अग्रिम जन्म में, श्री पुरुषोत्तम सह सर्व-कामाशन रूप मुख्य-फल की ही उसे प्राप्ति होती है, मोक्ष की नहीं, मोक्ष की उसे कामना ही नहीं।

यहां, 'सर्वात्म-भाव-ऋतु' में, 'क्रतु' का अर्थ यज्ञ है। 'ब्रह्म-सूत्र' के फलाध्यायान्तर्गत तृतीय अध्याय के छठे अधिकरण का सोलहवां सूत्र 'तत्क्रतु' है। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति यज्ञ द्वारा जिस की उपासना करता है उसको उसी उपास्य से संबंधित फल की सिद्धि मिलती है–'तं यथा यथोपासते' अर्थात् जो व्यक्ति ऋतु-यज्ञ द्वारा ब्रह्म की उपासना करता है, वह 'ब्रह्म-ऋतु' कहलाता है

तथा उसको ब्रह्मा के ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। इस तरह, पूर्वोक्त सर्वात्म-भाव का साधक 'ब्रह्म-ऋतु' की तरह 'सर्वात्म-भाव ऋतु'– कहा जाता है। सर्वात्म-भाव पूर्वक भगवद्भजन करने वाला साधक भक्त, 'ऋतु' रूप हो जाता है– 'तत्क्रतुः' तत्पूर्वं यत्सर्वात्मभावेन भजनं, क्रतुर्यस्य स तत्क्रतुर्भक्तः"–इस 'ऋतु-न्याय' के अनुसार, साधना के उत्तर काल में, या दूसरे जन्म में, साधक के समस्त भाव, भगवन्मय, भगवान् में ही केन्द्रित हो जाते हैं, तदनुसार, सर्वात्म-भाव से संपन्न भक्त को कैवल्य मोक्ष नही प्राप्त होती। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणासह'–इस श्रुति के अनुसार उसे एकादश इन्द्रियों से भोग्य पुरुषोत्तम ही फलरूप में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के, सर्वेन्द्रिय भोग्य मुख्य फल की प्राप्ति, भगवद्-भोग्या सर्वात्म-भाववती किसी विरल गोपाङ्गना को होती है। तदतिरिक्त, सर्वात्मभाव से रहित अन्य गोपीजन, इस फल से वंचित ही मानी गयी हैं; यहां तक इस प्रकार से कारिकार्थ किया गया है, अव अग्रिम अवतरणों में श्लोकार्थ का विवेचन प्रारंभ होता है :–

**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः**–अतः, सर्वेन्द्रियों से संपन्न के लिये, अथवा नेत्रेन्द्रिय से युक्त के लिये तो, हमारे हृदय में मनोरथ रूप से प्रकाशित यह स्वरूप ही परम-फल है, तदतिरिक्त, हम किसी अन्य फल को जानतीं ही नहीं। पुरुषोत्तम में प्रवेशात्मक सायुज्यादि-मोक्ष, इन्द्रियवान् का फल नहीं है। यदि कहा जाये कि श्रुतियों ने तो 'आत्मलाभात् न परं विद्यते' आत्म-लाभ रूप मोक्ष को ही परम फल माना है, तो फिर, सायुज्यादि मोक्ष को ही क्यों न परमफल-पुरुषार्थ माना जायें? इसके उत्तर में गोपांगनायें कहती हैं, 'विदामः'–मोक्ष के विषय में हम ही अच्छी तरह जानती हैं, क्योंकि, हम भी तो उपनिषद् रूपा हैं। यहां, प्रस्तुत-प्रसंग में मोक्ष का विचार चल रहा है, और, मोक्ष, उपनिषद् का विषय है, अतः श्रुतिरूपा गोपांगनाओं ने अपने आप को उपनिषद् रूपा कहा है, वस्तुतः ये श्रुति रूपा ही हैं–'वयमप्युनिषद् रूपाः' सुबो.–(वस्तुतः उपनिषद् श्रुत्युक्तगूढ अर्थ के निरूपक हैं–अतः उपनिषद्, श्रुतिरूप ही हैं)। श्रुतियां जिस फल का प्रतिपादन करती है, वह अनुभव सिद्ध होता है, अनुभव से अनिश्चित नहीं होता। श्रुत्युक्त-फल, कदापि ऐसा नहीं हो सकता जिसका विचार करते हुये भी, जो हम उपनिषद्-रूपाओं के अनुभव से विरुद्ध हो अथवा हमारे अनुभव से सुनिश्चित न किया गया हो। श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित फल, हमारे अनुभव से विरुद्ध अथवा अनुभव से असिद्ध नहीं होता। श्रुतियां आप्त हैं, वे कभी अन्यथा कथन नहीं करतीं। हम उपनिषद्-रूपाओं के अनुभव से अतिरिक्त अन्य फल का, श्रुतियां अनुमोदन ही कैसे कर सकेंगी? यह सायुज्यादि मोक्ष हमारे अनुभव से सर्वथा असिद्ध है। 'व्यवस्थित विकल्प' के अनु-

सार हम इसी व्यवस्थित किंवा निर्णयात्मक निष्कर्ष पर पहोंची हैं। किसी विषय का निर्णय करने के लिये, मन में, अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पात्मक विचार उत्पन्न होते हैं, यही 'विकल्प' है। इस प्रकार के विकल्पात्मक विचारों से यदि कोई संतोष कारक व्यवस्थित निर्णय न लिया जा सके, तब, शास्त्र के आधार पर, उस विषय में सुनिश्चित निर्णय किया जाता है। यह पद्धति 'व्यवस्थित-विकल्प' कहलाती है, अर्थात्, जहां 'विकल्प' में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य नहीं होता, किंतु, शास्त्र द्वारा ही व्यवस्था कर दी गयी हो, उसे 'व्यवस्थित-विकल्प' कहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में "इन्द्रियवान् के लिये तो, भगवत् सह संलापादि, अर्थात् भोग्य-स्वरूप फल रूप है तथा, निरीन्द्रिय के लिये (केवलों के लिये) सायुज्यादि मोक्ष फलरूप है"—इस प्रकार की यह व्यवस्था-निर्णय शास्त्र ने ही कर दिया है और यही व्यवस्थित-विकल्प है। 'वाङ्मनसि दर्शनात्' आदि ब्रह्मसूत्रान्तर्गत सूत्र चतुष्टय से यह सिद्ध होता है कि, संघात लय के पश्चात् जो जीव, पुरुषोत्तम में प्रवेश करते हैं, और जिनको, भगवान् आधिदैविक देहेन्द्रिय आदि का दान नहीं करने ऐसे जीव 'केवल' कहलाते हैं। इन 'केवलों' अर्थात् इन्द्रियों आदि से रहित जीवों के लिये तो, श्रीपुरुषोत्तम स्वरूप में सदा काल इस प्रकार की सायुज्य-मोक्षरूप 'स्थिति' ही फलरूप है—'ततः केवलानां तदेव फलम्' अर्थात् 'केवलं' के लिये तो मोक्ष 'ही' फल रूप है अन्य नहीं; यह निर्देश करने के लिये ही यहां 'एव' का 'ही' का प्रयोग किया गया है। किंतु जिन जीवों को, भगवान् देहेन्द्रिय आदि का दान करते हैं, अर्थात् संघातलय के पश्चात्, स्व-स्वरूप में से बाहर-निकाल कर, अपने स्वरूप से वियुक्त करके, आधिदैविक देहेन्द्रिय आदि से संपन्न करते हैं, ऐसे इन्द्रियवान्-अक्षण्वान् को प्रभु के न्यूनाधिक अनुग्रह के अनुसार, सेवा फलग्रंथ में निरूपित, अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य (अपने निकट स्थिति), तथा वैकुंठ आदि में निवासरूप, यह फल-त्रयी प्राप्त होती है। तदनुसार, देहेन्द्रिय आदि से रहित को तो मोक्ष ही मिलती है। इन्द्रियवान् को ही श्रीपुरुषोत्तम-सह संलापादि रूप मुख्य-फल की सिद्धि प्राप्त होती है। इस रहस्य को हम उपनिषद् रूपा व्रजदेवियां ही जानती हैं, और यही शास्त्र ने व्यवस्था दी है। इतना ही नहीं, किंतु, यहां उपस्थित, अन्य गोपीजन भी, जो स्वयं उपनिषद्-रूपा हैं, तथा इस विषय को संपूर्णरूप से जानती हैं, हमारे इसी अभिप्राय का एकमति से अनुमोदन करती हैं, उनकी भी यह सम्मति है। यहां उपस्थित ये सभी गोपीजन हमारी सखियां है—क्योंकि, हमारे समान ही विचार एवं सिद्धांतवाली हैं। 'इन्द्रियवान् का एकमात्र फल, यह भोग्य-स्वरूप श्री पुरुषोत्तम ही है" हमारे इस सिद्धांत से हमारी ये सभी व्रजदेवियां सहमत हैं, क्योंकि ये हमारी सहेलियां हैं—इसी का निर्देश प्रस्तुत श्लोक में 'सख्यः' इस संबोधनात्मक पद के प्रयोग द्वारा किया गया है।

**अक्षण्वतां फलमिदम्** :-इस पंक्ति में, अक्षण्वत् पद का अर्थ इन्द्रियवान् तथा नेत्रवान् दोनों होते हैं। यहां तक जो विवेचन किया गया वह 'अक्षण्वत्' के 'इन्द्रियवान्' अर्थ को लेकर किया गया है। और वस्तुतः, यही इस का मुख्य अर्थ है। अर्थात् एकादश इन्द्रियों से युक्तजीव के लिये, श्रीपुरुषोत्तम के साथ संलापादि ही मुख्य फल है और, इसी मुख्य-पक्ष का यहां तक समर्थन हुआ। किंतु, सर्वेन्द्रियों से भोग्य-यह मुख्य- फल, सर्वात्मभाव वाली किसी विरल गोप-वधु को ही प्राप्त होता है। सर्वसाधारण गोप, गोपीजन में, भगवान् के प्रति, सर्वात्म-भाव वंक सर्व-इन्द्रियों का विनियोग कदापि संभव नहीं। अतः सर्वात्म भाव से रहित, सर्वसाधारण अधिकारियों के लिये, सर्वेन्द्रिय भोग्य इस मुख्य-फल की उपलब्धि असंभव सी ही रहेगी, इसीलिये, सर्वसाधारण गोपीजन के साधारण पक्ष का-द्वितीय पक्ष का-विकल्प रूप से, श्लोक-गत विकल्पवाची 'वा' पद से प्रतिपादन किया गया है। "अक्षण्वताम्' के सर्वेन्द्रियवान् अर्थद्वारा मुख्य-पक्ष का निरूपण करके संप्रति, विकल्पवाची 'वा' पद से, अक्षण्वतां के नेत्रेन्द्रिय अर्थ द्वारा सर्वसाधारण के लिये, विकल्परूप में, द्वितीय पक्ष का निरूपण करना आवश्यक है। तदनुसार, 'अक्षण्वतां' इस पद की 'संयोग पृथकत्व' न्याय से आवृत्ति कर लेनी चाहिये-यथा 'अक्षण्वतामिन्द्रियवतां चक्षुष्मतां वा। 'वा' पद द्वारा, इस प्रकार से, अर्थान्तर का ग्रहण करना युक्तियुक्त है। सर्वेन्द्रियवान् का अथवा केवल एक नेत्रेन्द्रियवान् का सर्वेन्द्रियों से भोग्य अथवा केवल नेत्रेन्द्रिय से भोग्य, यह भोग्य स्वरूप श्रीहरि ही एकमात्र फल है। एकादश इन्द्रियों से श्रीपुरुषोत्तम का उपभोग तो किसी विरल भक्त को ही प्राप्त है, इस असंभावना में, विकल्प रूप से, सर्व साधारण के फल का भी कथन 'वा' पद से किया गया है और वह यह है, कि 'एकनेत्रेन्द्रिय मात्र से भी जिसने श्री पुरुषोत्तम का सेवन किया है, उसके लिये भी यही भोग्य-स्वरूप एकमात्र फल-रूप है-तदतिरिक्त, मोक्षादि कदापि फल नही' हम उपनिषद् रूपा गोपाङ्गनायें यही मानती हैं, और, हमारे इस अभिप्राय में तो यहां उपस्थित सभी श्रुत्यन्तररूप सखियों की संपूर्ण-रूपेण सम्मति है। सर्व साधारण पक्ष के इस समर्थन से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मुख्य पक्ष यहां अभिप्रेत नही है। यदि मुख्य पक्ष अभिप्रेत नही होता तो विकल्प वाची 'वा' पद का प्रयोग ही यहां नहीं किया जाता। यहां, यह भी समझ लेना चाहिये कि, 'अक्षण्वतां' पद का अर्थ एकादश 'इन्द्रियवान्' करो अथवा विकल्प से 'नेत्रवान्' करो, इन दोनों ही पक्षों में-मुख्य पक्ष में तथा विकल्प पक्ष में भी-यह भोग्य-स्वरूप ही एकमात्र फल है। मुख्य पक्ष में, जिस तरह एकादश इन्द्रियों से भोग्य-स्वरूप ही फल है, उसी तरह, विकल्प पक्ष में भी, केवल एक नेत्रेन्द्रियवान् से सेवित यही भोग्य स्वरूप फल है। दोनों ही पक्षों में नेत्रेन्द्रिय के

विषय एकमात्र श्री पुरुषोत्तम ही हैं। दोनों ही पक्षों में श्री पुरुषोत्तम ही एकमात्र फल रूप हैं; दोनों ही पक्षों में सायुज्यादि मोक्ष, फलरूप नहीं है, दोनों ही पक्षों में, भगवद् अतिरिक्त अन्य-पदार्थ फलरूप से अभिलषित नहीं है।

**पशूननुनिवेशयतो वयस्यैः**–यहां, 'अनु' उपसर्ग के पीछे, 'पशून्' पद की आवृत्ति कर लेनी चाहिये। तदनुसार, इस श्लोक पंक्ति की पदयोजना इस तरह होगी– "पशून्-अनु पशून् निवेशयतो वयस्यैः" अर्थात् वयस्यों द्वारा, गोवत्सादि पशुओं के पीछे-अनु–इस लीला-रस से अनभिज्ञ अतएव पशु-जैसे ही बहिरंग सखाओं को प्रवेश कराते हुये श्रीकृष्ण के ही एक मात्र मुख को जिसने अपने नेत्र-द्वारा प्रीति-पूर्वक देखा सेवन अथवा पान किया, उनके नेत्र-धारण करने का एकमात्र फल श्रीकृष्ण का यह मुख ही है, सायुज्यादि मोक्ष नहीं। यहां, भगवान् के साथ दो प्रकार के गोपसखाओं की मंडली है, एक बहिरंग सखाओं की दूसरी अंतरंग वयस्यों की। बहिरंग-सखा, लीलारस से अनभिज्ञ, अतः यहां पशुतुल्य कहे गये हैं। गाय आदि पशुओं के पीछे ही, इन पशु जैसे सखाओं का संचारण भगवान् अपने 'वयस्यों' द्वारा करवा रहे हैं। इन बहिरंग सखाओं को, जो लीला-रस से अनभिज्ञ अत एव पशुतुल्य ही थे, पशुओं के पीछे, वन में ही भेज देने में, यह प्रयोजन था कि इन बहिरंग सखाओं में, निर्गुण अवस्था के अधिकार का अभाव था अतः इनको सात्विक-अवस्था में ही रखना उचित था। भगवान् की लीला निर्गुण है, इस निर्गुण लीला में, इन सात्विक बहिरंग सखाओं का अधिकार नहीं है। यदि ये गोप-सखा, भगवान् के साथ ही रहते, तो सात्विक होने के कारण, भगवान् की निर्गुण-लीला के रहस्य को न समझते हुये, दुर्भावना से दोषारोपण ही करने लग जाते। वन सात्विक माना गया है, अतः, निर्गुण लीला स्थली की अपेक्षा, इन बहिरंग सात्विक सखाओं के लिये, सात्विक वनस्थली ही सानुकूल मानी गयी। तदनुसार, भगवान् ने, इन गोपों को, अपने वयस्यों सहित, पशुओं के पीछे-पीछे, वन में भेज दिये। 'वयस्य' वही कहलाते हैं, जिनका जन्म, भगवत्-प्राकटच समकाल में ही हुआ है–अर्थात् जो भगवद्-जन्मकालीन हैं; अथवा, जो लीला में तथा वय में, भगवद्-तुल्य हों वे भी वयस्य ही कहलाते हैं। अर्थात् जो भगवान् के साथ लीला करने के लिये ही जन्मे हैं, भगवान् का प्रादुर्भाव लीलार्थ हुआ है, और, इनका जन्म, भगवान् के साथ क्रीड़ा करने लिये–अतः लीला तथा वय में भगवद्-तुल्य होने के कारण भी–वे 'वयस्य' ही कहे गये हैं। यहां यह समझ लेना चाहिये कि वन में भेजे गये ये वयस्य, कात्यायनी-व्रत-प्रसंगोक्त वयस्यों से भिन्न है। मुख्य-वयस्य, जिनका उल्लेख कात्यायनी-व्रत-प्रसंग में किया गया है, भगवान् की अंतरंग लीला में निरंतर नियमित उनके साथ ही रहते हैं, किंतु यहां, जिन वयस्यों का वर्णन है, उन के

द्वारा, भगवान्, पशुओं का, वन में निवेशन करा रहे हैं, अपने साथ नहीं रखे। अतः, ये वयस्य, कात्यायनी व्रत प्रसंगोक्त मुख्य-अंतरंग-वयस्यों से भिन्न है–लेख.। संप्रति, भगवान् ने जिन गोप-सखाओं को, गोवत्सादि पशुओं के पीछे वन में ही भेज दिये, वे सभी बहिरंग थे–अन्यथा, उनको भगवान् कदापि वन में नहीं भेजते। तदनुसार, इन बहिरंग, रसानभिज्ञ-पशुतुल्य-गोपसखाओं को, जन्मकालीन वयस्यों के साथ, अथवा लीलाकालीन होने के कारण जिन वयस्यों का, यहां वन में आगमन हुआ, उनके साथ, भगवान् ने वन में भेज दिये–'येतु कालेन तुल्यास्तैः सह पशून् एतद्रसानभिज्ञान् वनं प्रवेशयति भगवान्'–'तदा तैः पशूनां वने निवेशनम्'–सुबो.।

इन वयस्यों को–इस तरह वन में भेजने का एक विशेष प्रयोजन था–पशुओं के पीछे पीछे वन में निविष्ट बहिरंग सखाओं की सहायता के लिये भी, इन वयस्यों को, इन के साथ ही, भेजना आवश्यक था। क्योंकि, ये बहिरंग सखा, वन में परिश्रांत होकर, यदि गोचारण में बराबर लक्ष्य न दें, तो ऐसी अवस्था में, इन के स्थान में–एवजी में, निवेशनार्थ, इन वयस्यों का ही उपयोग किया जाता था–'तथा सति वननिविष्टानां पशूनामपि गोपानां तत् श्रमे तत्स्थाने निवेशनार्थम्'–सुबो.। ये बहिरंग सखा, प्रायः अकर्मण्य ही थे। 'हे श्रीकृष्ण–यहां, शीघ्र ही दौड़कर आ जाइये–देखिये–गायें तृण चरतीं चरतीं बहुत दूर निकल गयी कहीं गुम हो गयीं हैं। इनके तीक्ष्ण-खुरों के कहीं चिन्ह भी तो दिखाई नहीं देते। उनकी तलाश भी करें तो किस तरह'? "गता गावो दूराः प्रखर-खुर-चिन्हान्यपि वने–न लक्ष्यन्ते हन्त ! द्रुततरमिहागच्छत विभो !" बहिरंग सखाओं का यह आर्त निवेदन, निर्भय-लीलाचरण में मूर्तिमान विघ्न ही है !!! इनकी व्यवस्था के लिये भी, भगवान् ने अपने वयस्यों के द्वारा ही, बहिरंग-सखाओं को, पशुओं के पीछे पीछे वन में प्रवेश कराया अथवा इन वयस्यों सहित, बहिरंग सखाओं का पशुओं के पीछे वनप्रवेश कराया, अथवा वयस्यों सहित भगवान् ने, पशुओं का तथा उनके पीछे बहिरंग-गोपों का-वन में प्रवेश कराया–इस तरह तृतीयान्त 'वयस्यैः' की यह त्रिविध-प्रकार से अर्थ योजना की जा सकती है। प्रस्तुत श्लोक में 'वन' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है–क्योंकि, 'निवेशयतः' प्रवेश कराते हुये–इस क्रिया पद में, अर्थापत्ति से 'वन' स्वतः उपलब्ध है। कहां निवेशयतः प्रवेश कराते हुये ? इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये–'निवेशयतः इस क्रिया पदमें ही' 'वन' शब्द का अर्थ स्वतः समाहित है।

इस तरह संपूर्ण श्लोक पंक्ति का–'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः–सख्यः ! पशून् अनु निवेशयतो वयस्यैः, वक्त्रं व्रजेशसुतयारनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतम्'–यह अर्थ निष्पन्न होता है–'अपने वयस्यों सहित, पशुओं को और उनके पीछे बहिरंग-सखाओं

को वन में प्रवेश कराते हुये, श्री रामकृष्ण के एक ही मुख को जिसने अपने नेत्रों से निरखा अथवा उसके सौंदर्य का पान किया उसके नेत्रधारण करने का यही परम फल है, मोक्ष नहीं"।

यहां 'वक्त्रं'-मुख-एक वचनान्त है। स्वरूप दो हैं–किंतु, मुख एक ही है–क्योंकि बलराम में, श्रीकृष्ण का ही मुख आविष्ट है, अतः बलराम का मुख स्पष्टतया पृथक् नहीं दिखाई दे रहा। बलराम के मुख की इस तरह स्पष्ट पृथक् प्रतीति न होने के कारण, उनके मुख का निर्देश पृथक् नहीं किया गया–बलराम, भगवद्-आवेश के अधिष्ठान है, भगवद्-आवेश का आधार जो संकर्षण-स्वरूप है, उसमें ही, भगवान् श्रीकृष्ण का मुख संवलित है, मिला हुआ है–अर्थात्, दोनों के मुख अभिन्न अतएव एक ही हैं। बलराम तथा श्रीकृष्ण -इन उभय में-एक श्रीकृष्ण का ही मुख है–इसीलिये, यहां इस एक ही मुख का निरूपण किया गया है। श्रीकृष्ण का मुख्य प्रकट मुख ही, उभय-स्वरूप का-बलराम तथा श्रीकृष्ण का मुख है अतः, जिसने अपने नेत्रों द्वारा, एक श्रीकृष्ण के ही मुख्य श्री मुख को देखा अथवा उसके सौंदर्य का पान किया, उसके नेत्रों के लिये यह मुख्य प्रकट मुख ही एकमात्र फल है। नेत्रों का एकांत परम-फल तो, केवल श्रीकृष्ण के ही प्रकट मुख्य मुख दर्शन में है, श्रीकृष्ण के उस मुख-दर्शन में नहीं जो बलराम के मुख में आविष्ट है, संवलित है।

गोपांगनाओं के हृदय में तो मात्र श्रीकृष्ण का ही श्रीमुख विराजमान है, रामाविष्ट–मुख नहीं–बलराम से संवलित कृष्ण का मुख नहीं। अतः उन्होंने स्वहृदय में भावित श्रीकृष्ण के मुख्य-प्रकट श्रीमुख का ही निरूपण किया। तात्पर्य यह है कि यद्यपि, गोपीजन ने, साधारण पक्ष को लेकर ही सामान्यतया बलराम का यहां वर्णन किया है। तथापि, मुख के निरूपण-प्रसंग में, रामाविष्ट-मुख अर्थात् बलराम में आविष्ट कृष्ण का मुख, इनके हृदय में आता ही नहीं, अतः, दो मुखों का वर्णन न करके, केवल मुख्य, श्रीकृष्ण के श्रीमुख का ही वर्णन करने लगीं। तदुपरांत, यद्यपि, मुख के अतिरिक्त, बलराम का गौर, तथा श्रीकृष्ण का श्याम-वर्ण श्रीअंग गोपीजन के समक्ष दृश्यत्व रूप से अवश्य उपस्थित हैं, तथापि, भोग्यत्वरूप से, रस की भावना से, उनके हृदय में तो, श्रीकृष्ण का ही एकमात्र श्रीमुख ही समाया हुआ है, वही उनके नेत्रों का अपलक-अनन्यविषय है। क्योंकि, इसी श्रीमुख में तो, गोपीजन के लिये अधरामृत-रूप भोग्य-रस भरा हुआ है। अतः उनके नेत्र वहां ही केन्द्रित होंगे, जहां उनके नेत्रों की निधि-रूप अधरामृत-रस अक्षय रूप में समाहित है। रसात्मक श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक तो अधरामृत रस के भोग की, रामाविष्ट मुख में संभावना ही कैसे कर सकते है? गोपांगनाओं

के हृदय को, रामविष्ट मुख की कल्पना स्पर्श तक नहीं कर सकती, अतः, रामाविष्ट-मुख का पृथक्-निरूपण किया ही कैसे जाता ? अतः, उभय-मुख का कथन न करके, केवल श्रीकृष्ण के श्रीमुख का ही गोपीजन ने वर्णन किया है। तदु-परांत, गोपीजन की भगवान् में ही, निरतिशय-आसक्ति है, इस कारण से भी उन्होंने उनके ही श्रीमुख का निरूपण किया, राम-मुख से संवलित-मुख का नहीं। भगवद्-श्रीअंग के अन्यान्य अवयवों को छोड़कर, यहां, प्रधानतया श्रीमुख का ही निरूपण किया गया है—क्योंकि, ध्यान सिद्धि के लिये, मुख की ही भावना करने का विधान है। श्रुतियों ने भगवद्-मुख को ही भावनीय माना है-यथा-"प्रभु के सर्वांग में तन्मय चित्त को शनैः शनैः एक एक अवयव में से खींचकर, उनके एक ही अंग-'श्रीमुख' में ही केंद्रित करें अन्यान्य श्रीअंगों का चिंतन न करें पुनः पुनः सुस्मित श्रीमुख की ही भावना करें'—तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्रधारयेत्—नान्यानि चिंतयेत्-भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्।

संप्रति, गोपीजन भिन्न भिन्न भावों से किये गये भगवन्मुख-दर्शन में, भिन्न भिन्न भेदों का निरूपण करती हैं। नंदराय के-व्रजेश के-इन दोनों पुत्रों के एक ही मुख का दर्शन, अन्यान्य साधारण गोप, गोपी अपनी अपनी भावना तथा बुद्धि के अनुसार करते हैं। बहुत से गोप, गोपी, नंदरायजी को ईश्वर मानते हैं, अतः उनके सुत-युगल का मुख-दर्शन, आराधन बुद्धि से-सत्कार अथवा पूज्यभाव से-करती हैं—अर्थात् व्रज के अधिपति नंदरायजी हमारे आराधनीय है, अतः; उसी तरह, इनके सुत भी आराधनीय हैं। अथवा, ये दोनों हमारे स्वामी नंदरायजी के पुत्र हैं, हमारे आश्रयदाता तथा वृत्ति-दाता हैं, यदि ये सानुकूल रहेंगे तो हमारी रक्षा करेंगे, वृत्ति बनी रहेगी। इस तरह की भावना तथा बुद्धि से, अर्थात् ईश्वर है, इस आराधन बुद्धि से, अथवा, अधि-पति के पुत्र हैं, इस अनुरोध-बुद्धि से, दर्शन करने में, लौकिक आपेक्षा रहती है। तदनु-सार, अन्य लोग जो दर्शन करते हैं, वे प्रायः लौकिक बुद्धि से अथवा 'व्रजेश के सूत हैं' इस सापेक्ष भाव से ही दर्शन करते हैं। किंतु भगवद्-गुणानुवर्णन-परायणा गोपीजन इस प्रकार की बुद्धि से, भगवन्मुख का दर्शन नहीं करतीं—सर्वेषां दर्शनकर्तॄणां साधारण पक्षत्वादेवमुक्तम्। वर्णिकास्तु नैवं विधा इति ज्ञेयम्'—लेख.। क्योंकि, उनके मत में, लौकिक-अपेक्षा से श्रीकृष्ण के मुख का दर्शन अनादरणीय पक्ष है, 'अनादरे लौकिक-सापेक्षदर्शनं हेतुः'—सुबो.। प्रस्तुत श्लोक में, विकल्प-वाची 'वा' पद से इसी 'अनादर' का सूचना किया गया है। यहां, यह समझ लेना चाहिये कि यद्यपि, बलराम, व्रजेशके पुत्र नहीं है, तथापि, आवेश पक्ष में तो, बलराम में श्रीकृष्ण का ही आवेश है, इसीलिये यहां, इन दोनों को ही 'व्रजेश सुत'-व्रजेश सुतयोः— जो कहा गया वह उचित है—

'आवेशपक्षे तु कृष्ण एवाविशति–इति युक्तमेव तयोर्व्रजेशसुतत्वम्'–सुबो.। यहां, अनावेश-पक्ष की व्यावृत्ति के लिये, 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः, 'नंदरायजी के सुत हैं' इस हेतु को लेकर किये गये श्रीकृष्ण के मुख दर्शन में ही जहां, गोपांगनाओं को अनादर है, वहां, बलराम में आविष्ट श्रीकृष्ण मुख के दर्शन में, यदि उनको 'अनादर' हो तो आश्चर्य ही क्या? व्रजांगनायें, यद्यपि श्रीबलराम का दर्शन, नंदराय के सुत-रूप में करती हैं, तथापि, अपने नेत्रों के फल रूप में नहीं। इनको तो श्रीकृष्ण के श्रीमुख से ही स्वभोग्य-रस के पान करने की कामना है, इसीलिये, विकल्प वाची 'वा' पद से श्रीबलराम में आविष्ट-भगवन्मुख के दर्शन में 'अनादर' का निर्देश किया है– 'तथाच ता बलदेवं व्रजेशसुतत्वेन पश्यन्ति, नतु स्वफलत्वेनातस्तथा (अनादरः) इत्यर्थः'–वृ. प्र.। ये व्रजदेवियां तो अलौकिक रस भाव से ही श्रीमुख का दर्शन करती है, अतः, इनकी दृष्टि में लौकिक भाव-सापेक्ष अथवा व्रजेश-सापेक्ष श्रीमुख दर्शन को स्थान ही कहां?

**अनुवेणुजुष्टं-यैर्वानिपीतम्**:– भगवान् का यह श्रीमुख कैसा है? यह श्रीमुख, वेणुवादन में तत्पर है 'अनुवेणु' वेणु-वादन में तत्पर इस श्रीमुख का जिसने प्रीति-पूर्वक सेवन किया-(जुष्टं)- अथवा, अन्तःप्रवेश पूर्वक पान किया-(निपीतं')- उनके लिये यह श्रीमुख ही फल है–यहां जुष्टम् का अर्थ है-सेवन करना तथा निपीतम् का अर्थ है, उपदिष्ट-विषय की संपूर्ण जानकारी के लिये उसको हृदयंगम करना, अन्तःप्रवेश पूर्वक उसका पान करना-जुष्टम्ःसेवनम्, निपीतम्ः निदर्शनम्-अर्थात् शिक्षार्थ अन्तःप्रवेश-पूर्वक पान करना। किसी शब्द का श्रवण-सेवन उसकी मनोहारिता को लेकर किया जाता है-और, उसका-अन्तः प्रवेशन पूर्वक पान, शिक्षणार्थ किया जाता हैं। यहां बहुत से भक्तों की दृष्टि, भगवन्मुख की ओर ही जो आकर्षित हो गयी उसमें वेणु-नाद का शब्द माधुर्य ही मूल हेतु है–तदनुसार, बहुत से भक्त वेणु-नाद की शब्द-मधुरिमा का श्रवण-सेवन-करने के लिये ही, भगवन्मुख का अवलोकन करते हैं, और बहुत से, भगवन्मुख का अवलोकन इसलिये करते हैं कि जिस निपुणता से, भगवान् वेणु-वादन कर रहे हैं, उसका ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके उनकी वादन शैली हम भी सीखलें-और हृदय में उतारलें-निपीत करलें-जिससे हम भी, इस प्रकार के वेणु-वादन में प्रवीण हो जायें। प्रस्तुत श्लोक में जो 'वा' का प्रयोग किया गया है, वह यहां, केवल अनादर मात्र का ही निर्देश करता है, ऐसा नही है, यहां, 'अनादर' तो गोपांगनाओं के कथन की शैली से ही प्रतीत हो जाता है- 'अनादरस्तु स्वरादेवायाति'–सुबो.। किसी ने शब्द के माधुर्य का सेवन किया अथवा किसी ने शिक्षणार्थ उसका पान किया-जुष्टं यैर्वानिपीतम्–इस तरह, यहां 'वा' से विकल्प का ही बोध कराया गया है-'वा' द्वारा अनादर का बोध तो

स्वरके फेरफार से-व्यंगोक्ति से ही-स्वतः हो जाता है। ('वा' का प्रयोग 'अनादर' में तथा 'विकल्प' में दोनों में होता है-यहां 'वा' का 'अनादर' अर्थ ध्वनि से ही सूचित (Implied) है, किन्तु, 'विकल्प' अर्थ तो व्यक्त है ही।) संक्षेप में, जिस भक्तने, शब्द माधुर्य से मुग्ध होकर, भगवन्मुख का अवलोकन किया अथवा (वा) जिस भक्तने, वेणु-वादन में भगवद्-तुल्य निपुणता प्राप्त करने के अभिप्राय से, शिक्षार्थी के रूप में नादाविष्ट होने के कारण, भगवन्मुख का अवलोकन किया, इन दोनों की ही नेत्रेंद्रिय का एक मात्र फल, भगवान् का यह श्रीमुख ही है। यहां यह समझ लेना चाहिये, कि वेणु-नाद के शब्द माधुर्य से मुग्ध-मन की, इस तरह नाद-ब्रह्म में तन्मयता के कारण, भगवन्मुख का यह दर्शनात्मक 'भजन' राजस-कोटि का माना गया है। काम-भाव से किया गया 'भजन'-(दर्शन)-तामस-कोटि का कहलाता है और, उसीका निरूपण इस तरह किया गया है–

बहुत से तामस-कोटि के गोपीजन, काम के संबंध से भी, पाक्षिक रूप में-अमुक सीमातक-भगवान् का दर्शन-अर्थात् भजन करते हैं-इसीका निरूपण 'अनुरक्त-कटाक्ष-मोक्षम्' इस पंक्तिसे किया गया है–'अनुरक्ताणां कटाक्षाणां मोक्षो यस्मिन् मुखे–' 'कामासक्ति पूर्वक विमुक्त किये गये हैं तिरछे नेत्र-वाण-जिसके मुख-प्रति'-ऐसा श्रीमुख ही इन कामासक्त भक्तों की नेत्रेंद्रिय का एक मात्र फलरूप है। अमुक भक्तजन काम-भाव से भी भगवन्मुख का अवलोकन कर रहे हैं, काम-भाव से श्रीमुख का अवलोकन करने वाले ये भक्त-जन, पूर्वोक्त भक्तजन से भी हीन कोटिके हैं 'कामेनातोतिहीनाधि-कारिणः' :– वृ.प्र.। इस तरह, भगवत्-स्वरूप को ही, अपनी एकादश इन्द्रियों का एक मात्र फल मानने वाले गोपीजन उत्तमोत्तम निर्गुण कोटि के भक्त हैं-तथा केवल नेत्रेंद्रिय द्वारा अलौकिक भाव से श्रीमुखावलोकन अथवा स्वरूपावलोकन करने वाले भक्त सात्विक कोटिके हैं।

यहां, इतना अवश्य समझलेना चाहिये कि काम-भाव से भी श्रीमुख का अवलोकन करने वाले भक्त के हृदय में भगवान् अपने आधिदैविक काम-भाव की स्थापना करते हैं, इसलिये, अन्ततः, भक्तगत काम-भाव, शुद्ध भाव में अर्थात् निर्गुण-भाव में ही परिणत हो जाता है--'मन्निष्ठो निर्गुणो भवेत्'।

इस तरह, भगवन्मुख का अवलोकन करनेवाले, निर्गुण, सगुण भेद से पांच प्रकार के भक्तों का यहां निरूपण किया गया है–

१. सर्वेंद्रिय-द्वारा अलौकिक भाव से रसात्मक स्वरूप का भोग करने वाले-ये निर्गुण-भक्त हैं।

२. नेत्रेंद्रिय द्वारा अलौकिक भाव से श्रीमुखावलोकन अथवा स्वरूपावलोकन करनेवाले-ये सात्विक भक्त हैं।

३. लौकिक सापेक्षभाव से मुख का अवलोकन करनेवाले तथा-

४. वेणुनाद के शब्द मनोहारित्व से आकर्षित होकर-अथवा वेणुवादन में नैपुण्य प्राप्ति के लिये मुखावलोकन करनेवाले-ये द्विविध भक्त राजस कोटि के भक्त हैं।

५. काम-भाव से मुखावलोकन करनेवाले-ये तामस-कोटि के भक्त हैं। प्रथम संख्यावाले भक्त-निर्गुण हैं, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम संख्या वाले भक्त-चतुष्टय सगुण हैं।

इस तरह यहां तक 'वर्हापीडं' श्लोक के वाक्यार्थ का अंगभूत जो 'वर' पद है, उसके अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया-अर्थात् यहां तक गोपीजन ने संयोग शृंगार-रसात्मक स्वरूप का वर्णन किया है, तदनुसार यह समग्र वर्णन फलरूप है-साधनरूप नहीं। यहां नेत्रधारी के फलरूप से 'कालाधिकहरि' की लीला का निरूपण किया गया है। अक्षर-ब्रह्म' आधिदैविक काल है, युग, आध्यात्मिक-काल है और सूर्य, आधिभौतिक। नेत्र, सूर्यरूप होने के कारण, काल के आधिभौतिक स्वरूप है। हरि कालाधिक है तथापि, पुष्टि-प्रभु हैं अतः कृपापूर्वक भक्त-नेत्र के एकांत फलरूप बनते हैं—कहां काल का एक तुच्छातितुच्छ-स्वरूप नेत्र और 'कहां कालाधिकहरि'— 'श्यामकंचुकनिदर्शनेन मम मानसेप्यणुतरेऽपि महान् स-मास्यति स्वकृपयैवदयालु :'—श्रीमत्प्रभुचरण।

—सप्तम श्लोक समाप्त—

—: ० :—

## अष्टम श्लोक विवरण :—

**चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ।**
**मध्येविरेजतुरलं पशुपाल-गोष्ठचां रंगे यथा नटवरौ क्वच गायमानौ।८।**

नेह के नूतन-अंकुर से दोउ कान रसाल-प्रवाल सटाये।
रागमयी सिरमौरपखा, व्यसनोत्पल-माल हिये लपटाये।।
वेष-विचित्र-धरे परिधान, सखान की मंड़ली-मध्य जुटाये।
गावहिं मंच पै, मानहुं दोउ पटू-नटजूकी छटाहु लुटाये।। ८।।

**अनुवाद** :—श्रीकर्ण-युगल में, आम्र की नूतन कूंपलों को, श्रीमस्तक पर, मयूर-पिच्छ-गुच्छ को तथा श्री कंठ में कमल-माला को धारण किये हुये तथा इन सभी से संपृक्त

पीतांबर आदि वस्त्रों को पहिने हुये, अतएव इस तरह विचित्र वेष वाले राम और श्रीकृष्ण, ग्वालबाल की मंडली के मध्य में कभी कभी गान करते हुये, उत्तम नटयुगल की तरह सुशोभित हो रहे हैं। ८।

**व्याख्या :–**प्रस्तुत श्लोक की निगूढ रसानुभूति के लिये, रस-निष्पत्ति के प्रकार का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। रसशास्त्र में, रति को शृंगार-रस का स्थायिभाव माना है। यह रतिरूप स्थायि भाव, प्राणी मात्र में अत्यंत सूक्ष्मतया अविच्छिन्न वासनात्मक-प्रवाह रूप से, उसके सर्वांग में अभिव्याप्त रहता है। यह रति-भाव, नायक नायिका आदि आलंबन-विभाव से प्रकट होता है, तथा, उपवन, चंद्रोदय आदि उद्दीपन विभावों से, इसकी अभिवृद्धि होती है–अर्थात् आलंबन, उद्दीपन विभावों से स्थायिभाव-रूप रति का आविर्भाव होता है। ये रतिभाव की उत्पत्ति में हेतु बनते हैं। कटाक्ष, चुंबन आदि अनुभावों द्वारा, रतिभाव की बाह्य अभिव्यक्ति होती है। अत: कटाक्षादि अनुभाव, रति-भाव की प्रतीति कराने वाले कार्य हैं। अनुभावों द्वारा अर्थात् कटाक्ष, चुंबनादि से रति-भाव की उत्पत्ति का अनुमान होता है। लज्जा, हर्ष आदि सहकारी रूप–व्यभिचारी-भाव, रति-भाव के पोषक हैं, व्यभिचारी-भाव, संचारीभाव भी कहे जाते हैं। इस प्रकार, प्रमदा आदि आलंबन-विभाव से आविर्भूत, चंद्रोदय आदि उद्दीपन-विभाव से वृद्धिगत तथा कटाक्षादि अनुभाव से अभिव्यंजित एवं लज्जा आदि संचारीभाव से संपोषित, इस रतिरूप स्थायिभाव की, शृंगार-रस में निष्पत्ति होती है। विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के संयोग से ही रसकी, यथाक्रम उत्पत्ति, अभिव्यक्ति तथा परिपुष्टि मानी गयी है। ये उत्पादक हैं, रस उत्पाद्य; ये अनुभावक हैं, रस अनुभाव्य; ये पोषक हैं, रस, पोष्य।

जिसके आधार से, रस का आविर्भाव होता है, उस आधार को आलंबन विभाव कहते हैं। नायक-गत रसोत्पत्ति में, नायिका आलंबन-विभाव है, नायिका-गत रसोत्पत्ति में, नायक। नायक विषयालंबन तथा नायिका आश्रयालंबन कहे जाते हैं।

कायिक, वाचिक तथा मानसिक भेद से अनुभाव अनेक प्रकार के हैं, कटाक्ष, भुजोत्क्षेप, व्यंगोक्ति प्रभृति इसी अनुभाव के अन्तर्गत है। इसे बिगाडभाव भी कहते हैं– 'विलोडित:, उन्मादपर्यंतं' संचालित: कटाक्षादिरूपो भावो विगाडभाव:' – उन्माद पर्यंत संचालित, मन का मंथन करनेवाले कटाक्षादि अनुभाव ही विगाडभाव हैं।

समुद्र में ऊपर उछलती हुयी तथा उसी में विलीन हो जाती हुयी तरंगों के समान, सर्वांग में रसोत्पत्ति के अनुकूल संचरण करनेवाले भाव, संचारी अथवा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं–निर्वेद, व्रीड़ा, औत्सुक्य, निद्रा, हर्ष आदि भेद से ये तेतीस-प्रकार के कहे गये हैं।

स्रक्-सूत्र न्याय से, अर्थात् माला में सूत्र की तरह, रति रूप स्थायिभाव, स्थिर माना गया है, तथा फेन बुद्बुद्-न्यायसे अर्थात् फेन-बुद्बुद् की तरह व्यभिचारी अथवा संचारी भाव, अस्थिर।

नाटय में, आलंबन-विभाव रूप नायिका, नायक आदि का, उद्दीपन-विभाव रूप चंद्रोदय आदि का तथा संचारी-भाव रूप व्रीड़ा आदि सामग्री का साक्षात् अभाव होता है, किन्तु, नर्तक, अथवा नट, अपने आहार्य (वेषात्मक), आंगिक, वाचिक, आदि अभिनय-नैपुण्य द्वारा उपर्युक्त नायिका आदि तथा चंद्रोदय, व्रीड़ा आदि भावों की अवतारणा करता हुआ-प्रेक्षकों में, शृंगार-रसकी निष्पत्ति, उसकी रसानुभूति कराता है, यहि नाटय है, यहां जिस रस की निष्पत्ति होती है-वह विप्रलंभात्मक-शृंगार रस कहा जाता है।

**'केवलं रस-रूप माह चूतेति':—** इससे पूर्व 'अक्षण्वतां' श्लोक में, भगवान् के 'वरवत्' स्वरूप का अर्थात् संयोग-रसात्मक स्वरूप का वर्णन किया गया था। प्रस्तुत श्लोक में प्रभु के विप्रयोग-रसात्मक-स्वरूप का निरूपण किया गया है। विप्रयोग शृंगार-रस को 'केवल-रस' कहते हैं-जो नाटय में प्रसिद्ध है। नाटय में, यद्यपि, पुष्पादि सामग्री का अभाव होता है, तथापि, नर्तक-नट-अपने आंगिक आदि अभिनय द्वारा हस्तादि की मुद्राओं द्वारा, पुष्पादि सामग्री का मानसिक-प्रदर्शन (Exhibition) करा देता है। इस तरह नाटच में केवल-रस की ही उपलब्धि होती है, सामग्री सहित-संयोग-रस की नहीं। संप्रति, केवल-रस रूप का, अर्थात्, विप्रलंभ-शृंगारात्मक प्रभुके स्वरूप का वर्णन किया जाता है।

**श्रीसुबोधिनी :—** गोपांगनाओं के मनरूपी-रंग-भूमि पर, उनका ही रति रूप स्थायि-भाव नट वेश में आविर्भूत हुआ है। प्रभु ने नटोचित वेश-भूषा धारण की है। कर्ण-युगल के ऊपरी भाग में आम्र की नूतन कूंपलों को विन्यस्त की हैं, अर्थात् कर्णिकार पुष्प के ऊपर ही ये कूपलें स्थापित की गयी हैं—वृ.प्र.। श्री मस्तक पर मयूर-पिच्छका गुच्छ धारण किया है-कंठ में कमल-माला पहिनी है-"आम्राणां प्रवालाः कर्णयोः। बर्हगुच्छानि शिरसि। उत्पलाब्जानां माला कंठे।' सुबो.। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की, बर्हापीडं-श्लोकोक्त-वैजयंती माला, कमल-पुष्पों की है-'वैजयंती च कमलानां बोध्या'—वृ.प्र.। श्री अंग पर पीतांबर सुशोभित है, बलराम ने नीलांबर धारण किया है, 'पीतांबरादि वस्त्राणि'-में-'आदि'-पद से नीलांबर का ग्रहण किया गया है-लेख। भगवान् का मोर-मुकुट, पीतवस्त्र-खंड से बंधा हुआ है, जिसके दोनों छोर, कर्णयुगल के उभय-पार्श्व की ओर लटक रहे हैं-तदनुसार मुकुट से बद्ध-पीतांबर-खंड, आम्र-पल्लवों से तथा

बर्हस्तबक से अनुपृक्त-उलझा हुआ-मिला हुआ सा है। आम्र-प्रवाल तथा मोरमुकुट से पीतांवर-के-संबंध-कथन में, यही अभिप्राय है—यो.। इसी तरह, उत्तरीय-पीतांबर भी, कमल-माला से संवद्ध-मीलित-है। जो धारण किया जाये उसे परिधान कहते हैं, परिधान के इस व्युत्पत्ति अर्थ में, आम्र-प्रवाल, बर्हस्तबक तथा कमल-माला यह तीनों भी यहां, 'परिधान' कहे गये हैं—ले.। ऐसे नील-पीत वस्त्रों सहित, पल्लवादि परिधान से समलंकृत श्रीकृष्ण तथा श्रीबलराम की वेशभूषा विचित्र अतएव अत्यंत मनोरम लग रही है। इस प्रकार के विचित्र वेश को धारण किये हुये भ्रातृ-युगल, अपनी ग्वालबाल सखाओं की मंडली में विराजमान हैं।

**बर्हापीडं-श्लोकोक्त 'नटवरवपु'**:—इस पदान्तर्गत 'वर' पद का निरूपण सप्तमश्लोक में हो चुका है। प्रस्तुत श्लोक द्वारा, वर-पदातिरिक्त 'नट'-पद का-केवल-रस के रूप में-निरूपण किया गया है। तदनुसार, केवल रस के अभिनयार्थ, यहां नटरूप में एक श्रीकृष्ण का ही निरूपण किया जाना चाहिये, तो फिर, श्रीकृष्ण तथा बलराम इन दोनों का बोध कराने वाले 'नटवरौ' इस द्वितीयान्त पद का प्रयोग क्यों किया गया? इसका कारण यह है कि जिस तरह अवतार दशा में, दुष्टों के दमन-पूर्वक, भूमि के भार-हरण द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने में बलराम का उपयोग है, उसी तरह, रस के अभिनय में, उनके साथ ही रहते हुये, उनकी प्रशंसा करते हुये, उनके ही आवेश-रूप बलराम उनकी प्रसन्नता में अभिवृद्धि करते रहते हैं। अभिनय-काल में, जब, श्रीकृष्ण स्वामिनी-सह रमण का अभिनय कर रहे हों, उस समय, स्वामिनीके स्कंध बाहु आदि को मानों सहारा दे रहे हों, ऐसे-अभिनय आदि में सहायतार्थ, बलराम की उपयोगिता स्पृहणीय मानी गयी है; तदनुसार, प्रस्तुत श्लोक में, श्रीकृष्ण तथा बलराम-इन उभय का बोध कराने के लिये ही, "नटवरौ' इस द्वितीयान्त-पद का प्रयोग किया गया है-'रसाभिनये अवतारवदेवावेशस्याप्युपयोगात् द्विवचनम्"—सुबो. वृ.प्र. तथा योजना।

**गुणा माया च वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ति हि।**
**अतो रसस्याभिनये चत्वारोर्थां निरूपिताः॥ १॥**
**रसरूप-सुगंधानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता।**
**धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते॥ २॥**
**वस्तु निर्देश मात्रेण श्रोतृणां काव्यवद् रसः।**
**रसवत्फलबोधाय प्रथमं पल्लवो मतः॥ ३॥**
**शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका भवेत्।**
**ततस्तस्य च वैचित्र्यं पुष्पस्थानमिहोच्यते॥ ४॥**

अहोरात्रं वासना स्यात् तत आच्छादनं स्मृतम् ।
रसोत्पत्त्यर्थ मेतावन् निरूपित मितिस्थितिः ।। ५ ।।
आविर्भावे रसास्वादान् नृत्यं शोभा ततो भवेत् ।
अतोतिगुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते ।। ६ ।।

**कारिकार्थः** –गुणा माया च वेषार्थ मुपयुक्ताभवन्ति हि......' इत्यादि कारिकाओं की–
**व्याख्या** :–यहां, भगवान् ने आम्रपल्लव, बर्हस्तबक तथा कमल माला का जो वेष-धारण-किया है, उसके प्रयोजन का निरूपण श्रीआचार्य-चरणने अपनी 'गुणामाया-च वेषार्थम्'-इत्यादि कारिकाओं द्वारा इस तरह किया है। नट का यह उपर्युक्त वेष, आहार्य-अभिनय में उपयोगी माना गया है, अर्थात्, इस प्रकार के अभिनय द्वारा, नट, स्वयं रसाविष्ट होकर, प्रेक्षकों में रसोत्पत्ति करता है। जैसे, कहा जा चुका है, रस की निष्पत्ति, विभाव, व्यभिचारीभाव तथा अनुभाव से होती है। ये विभावादि, शृंगार-रस के निष्पादक होने के कारण, उसके-शृंगार-रस के-'धर्म' अथवा 'गुण' माने गये हैं। यहां, विभावादि-रस धर्मों के-गुणों के अभाव में-प्रत्यक्ष अनुपस्थिति में-नटने, अपने आम्र-पल्लवादि के वेष द्वारा ही, इन गुणों का निर्देश किया है। अतः, नट रूप श्रीकृष्ण ने, शृंगार-रस की निष्पत्ति में उपकारक गुणों का अर्थात्, स्थायिभाव, व्यभिचारीभाव तथा अनुभाव का निर्देश करने के लिये, आम्र-पल्लव, मयूर-पिच्छ तथा कमल-माला धारण की है। यहां रस-निष्पत्ति में उपकारक, रस के विभावादि गुणों के निर्देशक, आम्र-पल्लवादि धारण किये हैं-'गुणा मयाच वेषार्थ उपयुक्ताः भवन्ति हि'-यहां 'गुणाः' का यही अभिप्राय है। नट रूप भगवान् ही यहां स्वयं आलंबन-विभाव हैं। यद्यपि भगवान् गोपांगनाओं के मूर्तिमान् रतिरूप होने के कारण स्थायिभावात्मक तो हैं ही, किंतु, साथ ही वे रसोत्पत्ति के आधार-हेतु भी हैं, अतः, आलंबन-विभाव भी हैं। इस कारण से, यहां स्थायिभाव और विभाव-(आलंबन)-एक ही है-ऐसा जानना चाहिये, अर्थात् यहां, विभाव, स्थायिभाव से भिन्न नही हैं–'स्थायिभावात्मकस्य स्वरूपस्यैवात्रालंबनविभावत्वात् स्थायिभावो विभावाश्चात्रैक एव ज्ञेयः'–लेख। अतः, यहां, आम्र-पल्लव, जिसको स्थायिभाव कहा है, वस्तुतः विभाव ही हैं। इस तरह, स्थायिभाव-किंवा विभाव, व्यभिचारी-भाव तथा अनुभाव-जो रस के गुण अथवा धर्म माने गये हैं, ये तीनों गुण ही यहां, यथाक्रम आम्र-पल्लव, बर्हस्तबक तथा कमल-माला रूप हैं। तथा माया ही पीतांबर-रूप परिधान है-जिसके द्वारा इन रस धर्मों का संगोपन किया गया है-क्योंकि रस के संगोपन में ही उसका रसत्व है–(इस विषय में विवेचन किया जा चुका है-तथा अग्रिम प्रसंगों में किया जायेगा)।

यहां, आम्र-पल्लवादि को यथाक्रम स्थायिभावादिरूप जो कहा गया है, उसमें यह युक्ति दी गयी है, कि आम्र-पल्लव में, मुख्यतया रस की स्थिति होने के कारण, उसकी नूतन कूंपल-स्थायिभाव रूप ही है। जिस तरह रति-रूप स्थायि भाव, सूक्ष्मतया वासना रूप से प्राणिमात्र में अभिव्याप्त रहता है, इसी तरह, आम्र के नूतन किसलय में भी अव्यक्ततया रस की स्थिति है। इसी हेतु से, यहां आम्र-पल्लव, स्थायिभाव के निर्देशक हैं। यहां, रस शब्द के श्लेषार्थ का उपयोग किया गया है। 'रस', द्रवद्रव्य में तथा शृंगार-रस में -उभय में प्रयुक्त होता है, यहां, इसके दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। —लेख:।

मयूर-पिच्छ के स्तवक द्वारा, व्यभिचारीभाव का बोध कराया गया है। मयूर-पिच्छ-गुच्छ में रूप-मात्र ही है, रस नहीं। जहां रूप होता है, वहां रस भी होता है- यह एक सहज-नियम है, किंतु, बर्ह-स्तबक में इस नियम का अपवाद है, उसमें रसका व्यभिचार-अनियमितत्व है; बर्हस्तबक में रूप है, रस नहीं, इस लिये, बर्हस्तबक, यहां व्यभिचारीभाव का निर्देशक है-लेख.। मयूर-पिच्छ-गुच्छ को व्यभिचारीभाव मानने में एक और युक्ति यह भी है कि व्यभिचारीभाव, रस के आविर्भाव क्रम में वस्तुत: एक क्षणिक किंवा अस्थिर माना गया है-व्यभीचारी का अर्थ ही 'अस्थिर' है। समुद्र में से-उछलती हुयी तथा अन्तत: उसी में पूर्ववत् समाजाती हुयी तरंगों के समान, ये भाव भी उभराते तथा विलीन होते रहते हैं। मयूर के पंखों की भी प्राय: यही स्थिति है। मयूर जब रसोन्मत्त होता है, तब वह अपनी पँखाओं को फैला कर नृत्य करने लगता है। नृत्योपरांत, उसके पंख सिमिट कर पूर्ववत् स्थिति कर लेते हैं-इसी आशय में बर्हस्तबक द्वारा यहां व्यभिचारीभाव की अवतारणा की गयीहै-निर्देश किया गया है।

कमल-माला अनुभाव की सूचक है। कमल में सुगंध प्रतिष्ठित है। सुगंध का आघ्राण करते समय, सुगंधित पुष्पों को चुंबन करने की सहज मनोवृत्ति हो ही जाती है। यह आघ्राण-कालीन चुंबन, रस का अनुभावक है। प्रियतमा के मुख-कमल की सुगंध लेते समय किया गया चुंबन, प्रियतमा के प्रति अनुराग की अभिव्यक्ति-रूप ही है। चुंबन मनोगत रतिभाव का अभिव्यंजक होने के कारण, अनुभाव कहा गया है। इसी कारण, अपनी सुगंध से चुंबन-व्यापार को जन्म-देने वाली कमल-माला अनुभाव-रूप ही है। टिप्पणीकार-श्रीमत्प्रभुचरण ने कमल-माला को विगाढ़भाव माना है। कटाक्ष से लेकर उन्माद पर्यंत जितने भी अनुभाव है, वे प्राय: आभ्यंतर-रति-भाव की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र हैं, तथापि जो भाव मन में संचित होते हुये, वहां न समाते हुये, मन का मंथन करते हुये, बाहर उभराने लगते हैं, तब मन की अन्तर्तम निगूढ़ रति-वृत्ति के-अभिव्यंजक ये भाव, विगाढ-भाव भी कहलाते हैं। इसीलिये, चुंबन, उन्माद आदि, विगाढ़ भाव में परिगणित किये गये हैं। तदनुसार, आम्र-पल्लव, बर्हस्तबक तथा

कमल-माला-इन तीनों में यथाक्रम रस, रूप तथा सुगंध प्रतिष्ठित होने के कारण, यह तीनों यथाक्रम स्थायिभाव, व्यभिचारीभाव तथा अनुभाव रूप है-आम्र में मुख्यतया रस की प्रतिष्ठाके कारण उसके पल्लव, स्थायिभाव रूप हैं, मयूर-पंखों में रूप-मात्र ही प्रतिष्ठित है किंतु रस का अपवाद है, इसलिये इनके गुच्छों को व्यभिचारीभाव माना गया है; कमल में सुगंध की प्रतिष्ठा के कारण उसकी माला अनुभाव रूप है, क्योंकि सुगंध का आघ्राण किंवा चुंबन रस का अनुभावक होता है-लेख. ("जिघ्रति" का अर्थ 'चुंबति' भी है)। इस तरह पल्लवादि में रस-आदि तीनों गुण और धर्मिस्वरूप का आच्छादक पीतांबर रूप माया, यह चारों पदार्थ, रस-निष्पत्ति में, नट-वेष के लिये उपयोगी हैं, और, इसीलिये प्रस्तुत श्लोक में इनका निरूपण किया गया है-'गुणा माया च वेषार्यमुपयुक्ता-भवन्ति हि-अतो रसस्याभिनये चत्वारोर्थाः निरूपिताः–" 'रस रूप सुगंधानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता-धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते'– कारिका.।

जैसा इससे पूर्व कहा गया है कि यहां, स्थायि-भावात्मक स्वरूप ही आलंबन-विभाव है–अतः, यहां, स्थायिभाव तथा विभाव दोनों एक ही हैं। तदनुसार, आलंबन-विभावात्मक धर्मि-स्वरूप में, जो साक्षात् भगवान् ही हैं, धर्म रूप स्थायिभाव-(आम्र-पल्लव)-, व्यभिचारीभाव-(बर्हस्तवक)-तथा अनुभाव-(कमलमाला)-से एक विचित्र निरतिशय रसरूपता का आधान हुआ है। आम्र-पल्लवादि, वेष रूप से तथा रस के धर्म रूप से भी, दोनों प्रकार से, यथाक्रम श्रीविग्रह में-तथा आलंबन-विभावात्मक धर्मि-स्वरूप में भी वैचित्र्य का-एक विशिष्ट मनोरमता का-संपादन कर रहे हैं। अर्थात्, आम्र-पल्लवादि स्थायिभावादि धर्मों से संपन्न अतएव विचित्र वेश से समलंकृत साक्षात् धर्मि-रूप विप्रयोग शृंगार-रसात्मक श्री पुरूषोत्तम, रसाभिनय द्वारा, गोपांगनाओं में रसोत्पत्ति करने के लिये आविर्भूत हुये हैं।

इन विभावादि रूप रस-धर्मों को भगवान् ने अवश्य धारण किये हैं, किंतु, रस को गुप्त रखने में ही उसका रसत्व है। प्रस्तुत, श्लोक में, आम्र-पल्लव रूप स्थायिभाव अथवा विभाव का तथा बर्हस्तबक रूप व्यभिचारी भाव का-इन दोनों रस-धर्मों का आच्छादन श्री मस्तक में आबद्ध पीतवस्त्र-खंड़ से किया गया है-तथा उत्तरीय-पीतांबर, कमल-माला से (जो यहाँ अनुभाव मानी गयी है) अनुपृक्त है। रस-धर्मों के इस आच्छादन से, रसानुभव में अतिशयिता (वैचित्र्य) अवश्य आती है किंतु, इसी रसकी निरतिशय-अनुभूति के लिये, सम्यक्-वैचित्र्यार्थ-साक्षात् धर्मिरस-स्वरूप के आच्छादन की भी आवश्यकता है-इसी लिये यहां 'माया' का भी निरूपण किया गया है-यहां 'पीतांबर' ही यह माया रूप है-'धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरुप्यते'-वैचित्र्य के संपादक तो यहां 'गुण' ही हैं-किंतु सम्यक्वैचित्र्यार्थ-धर्मिस्वरूप का आच्छादन भी

अपेक्षित है-अतः, गुणों के अतिरिक्त यहां माया भी निरूपित की गयी है। रस-ब्रह्म के साक्षात्कार में माया ही तो आवरण है।

इस संपूर्ण विवेचन का भावार्थ यह है कि भगवान् यहां गोपीजन में, अभिनय द्वारा रसोत्पत्ति करने के लिये आविर्भूत हुये हैं-रसशास्त्रानुसार रसोत्पत्ति, विभाव, व्यभिचारीभाव तथा अनुभाव द्वारा ही संभव है-तदनुसार इन विभावादि रस धर्मों का-गुणों का-निर्देश करने वाली-आम्र-पल्लव-बर्हस्तवक तथा कमल-माला रूप नटोचित-वेश-भूषा-धारण की गयी है। रस धर्मों के तथा धर्मिरस के संगोपनार्थ पीतांबर पहिना है।

अथवा, यहां-"गुणा मायाच वेषार्थ"-में गुणाः का अर्थ सत्व, रजस् तथा तमस् भी किया गया है। तदनुसार, आम्र-पल्लव- बर्हस्तबक तथा उत्पल-माला-यह तीनों यहां यथाक्रम रजस्, तमस् तथा सत्त्व-स्वरूप हैं-यह तीनों ही गुण, भगवद्-रसानुभव में उपयोगी है-जैसे, रजोगुण से, भगवान् के प्रति विविध भावों की उत्पत्ति होती है, तमोगुण द्वारा, भगवान् के किसी भी एक अवयव में दृढता-पूर्वक आसक्ति हो जाने पर, उसमें मन का लय हो जाता है; 'भगवत्-संबंधी सभी पदार्थ, भगवत्-स्वरूप की ही अनुभूति कराते हैं'-इस प्रकार का यह ज्ञान, सत्व-गुण से ही उत्पन्न होता है। धर्मिरस-स्वरूप से संबंधित गुण-त्रय से उत्पन्न होने वाले सभी कार्यों के संगोपनार्थ, पीतांबर-परिधान द्वारा माया का संसूचन किया गया है-अर्थात् पीतांबर-रूप माया से, यहां यह निर्देश किया गया है कि भक्त को, कापट्य, चातुर्य आदि करके भी अपने में स्थित, भगवद्-रसका संगोपन करना चाहिये'—योजना.।

**रस-रूप-सुगंधानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिताः**—"यदि यहां यह प्रश्न किया जाये कि इन पल्लवादि के धारण करने में, प्रभु का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यह है कि भगवत्-स्वरूप अर्थात् भगवान् के श्रीअंग, रस के, रूप के, तथा सुगंधि के निधि-रूप हैं, जिसका उपभोग स्वकीय कोटि की स्वामिनी तुल्य किसी विरल व्रजांगना को ही उपलब्ध है। अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित इन रस, रूप, सुगंध का, स्वकीय-भक्त को, गुप्ततया-सूचन करने के लिये ही, भगवान् ने, क्रमानुसार, आम्र-पल्लव, बर्हस्तबक तथा कमलमाला, अपने श्रीविग्रह पर धारण किये हैं। अपने श्रीअंग पर सुशोभित इन उपकरणों द्वारा, गोपांगनाओं को, भगवान्, यह संकेत कर रहे हैं कि तुम्हारे जैसे ही, अतिप्रिय भक्तों द्वारा उपभोग्य, मेरे में ये तीनों ही गुण-वर्तमान हैं। आम्र-पल्लव में जैसे रस-व्याप्त है, वैसे ही मैं स्वयं रस-रूप हूँ। मेरे में, तुम्हारे लिये, इसी प्रकार से रोम रोम में, रस भरा हुआ है। इसी तरह, बर्हस्तबक में जैसा रूप है, वैसे ही मेरे अंग अंग में, तुम्हारे उपभोगार्थ, रूप राशि कूटकूट कर भरी हुयी है। इसी का बोध-कराने

के लिये श्रीमस्तक पर मयूर-पिच्छ-गुच्छ धारण किया है। कमल-माला में सुगंध है, मैं स्वयं आनन्दमय-विग्रह हूँ, अत: मेरे में सुगंध सहजतया व्याप्त है-इसी का संकेत करने के लिये, भगवान् ने, श्री कंठ में, कमल-माला पहिनी है। रस, गोप्य है, यह निर्देश करने के लिये, मयारूप पीतांबर धारण किया है"–योजना.।

**वस्तु निर्देशमात्रेण श्रोतृणां काव्यवद्-रसः**– यहां, यह शंका होती है कि आम्र-पल्लव, बर्हस्तबक तथा कमल माला के निर्देश-मात्र से, उसमें प्रतिष्ठित रस-रूप-तथा सुगंध का रसानुभव किस तरह संभव है? साक्षात् अनुभव के अभाव में पल्लवादि वस्तुओं के निर्देश-मात्र से ही तत्संबंधी रस का अनुभव किस प्रकार से किया जा सकता है? यहां सभी पदार्थों का कथन, मात्र शब्द से ही किया गया है। 'शर्करा'-मधुर है, इस तरह, रस युक्त वस्तु के कथन से ही, शर्करा के माधुर्य की अनुभूति, किसी को कदापि नहीं होती!!!

इस शंका का समाधान यह है कि वस्तु के निर्देश मात्र से भी, श्रोता में, रस की उत्पत्ति होती है; साक्षात् स्वरूप के साथ रसानुभव के अभाव में भी, रस, रूप, सुगंध से युक्त वस्तु के निर्देश-मात्र से भी, वस्तुगत रसादि की अनुभूति संभव है। 'रसवद्-वाक्यं काव्यम्'–रसात्मक-वाक्य को काव्य कहते हैं। काव्य, रसमय माना गया है, रसात्मक काव्य के श्रवण से, रसज्ञ-श्रोता, काव्य-निष्ठ-रस का आस्वादन करता है। काव्य की परिभाषा में काव्य-रस का यह आस्वादन-'चर्वणा' कहलाता है। चर्वणा रूप यह आस्वाद रसना ग्राह्य, अथवा किसी इन्द्रिय का सीधा विषय नहीं बनता; इन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य-रस से, यह रस भिन्न है तथा आत्मा के आनन्द से संबंधित, अनिर्वचनीय किंवा लोकोत्तर होता है-चर्वणा आस्वादनं, तच्च-'स्वादः काव्यार्थ संभेदात् आत्मानंदसमुद्भवः।' वन में निवास करने वाली-वनस्थिता-देवियों को, आम्र-पल्लवादि से निर्दिष्ट किये गये-रस-रूप-सुगंध की साक्षात् अनुभूति, आनन्द मय स्वरूप के साथ संयोगावस्था में जिस तरह हुयी है, उसी तरह की अनुभूति, सुदूर-व्रज में स्थित, भगवद्-वियुक्ता व्रजांगनायें, विप्रयोग-रसात्मक-स्वरूप के परस्पर-आसक्ति-पूर्वक किये गये रसमय संकीर्तन द्वारा ही कर रही हैं!!! साक्षात्-स्वरूप के साथ संयोग रसानुभूति के अभाव में भी, रसात्मक-काव्य के श्रवण से तन्निष्ठ-रसास्वाद के समान, परस्पर में किये गये परितः सुधा-गलन रूप भगवद्-गुण-संकीर्तन के श्रवण द्वारा, गोपांगनायें, भगवद्-अधर-सुधारस का आस्वादन-चर्वणारूप आस्वादन-करती हैं। अर्थात्. काव्य के रसात्मक-वाक्य के श्रवण से, काव्य-निष्ठ-रस, श्रोता को एक लोकोत्तर आनन्द से अभिभूत कर देता है। गोपीजन-कृत रसात्मक-स्वरूप का गुणानुवर्णन परितः सुधा-वर्षण-रूप है, अतः, परस्पर-कृत सुधा रूप गुणानुवर्णन के

पारस्परिक श्रवण से, वर्णन-गत-रस, गोपीजन में, एक अलौकिक चर्वणा रूप आस्वाद की अनुभूति कराता है। गोपांगनाओं को, रसात्मक-स्वरूप-वर्णन के पारस्परिक-श्रवण से, उसमें निहित रस का अनुभव होता है। इसी तरह, आम्र-पल्लवादि के दर्शन मात्र से, उसके द्वारा निर्दिष्ट रस का भी आस्वादन-अनुभव-होता है। तद्नुसार, वस्तु के निर्देश मात्र से, कथन-मात्र से, तन्निष्ठ-रस का अनुभव होना सहज है–लेख.।

**'रसवत्-फलबोधाय प्रथमं पल्लवो मतः'**–अब, यहां, आम्र पल्लव, बर्हस्तवक तथा कमल-माला-इनका निरूपण, प्रस्तुत श्लोक में, इसी क्रम-पूर्वक जो किया गया, उसका प्रयोजन कहते हैं। वृक्ष में सर्व-प्रथम पल्लव का, कूंपलों का उद्गम होता है, फिर कली बैठती है, फिर, यही कालिका पुष्प रूप में विकसित होती हुयी फल रूप में परिणत हो जाती है। इसी तरह, प्रथम प्रेमोदय होता है, फिर, आसाक्ति, तदनन्तर व्यसन तथा अंत में संयोग-रूप फल की प्राप्ति होती है। यहां, आम्र-पल्लव, प्राथमिक प्रेमोदय-रूप हैं, बर्हस्तवक, कलिका रूप हैं, अतः कलिका के सूचक बर्हस्तबक ही, यहां आसाक्ति-भावोदय रूप है। कलिका रूप आसाक्ति, अंत में पुष्प-रूप व्यसन-भाव में विकसित होती है। यहां, कालिका का हेतु पल्लव है, पुष्प का हेतु कालिका है, पुष्पागमन फल का हेतु है। भावों के उद्गम का यही सहज मानसिक-क्रम है-और, फलोद्गम में भी यही प्रकृति का नियम है। अतः, आद्य-पल्लव आदि में-प्रथम ही प्रथम पल्लव-धारण में-यही प्रणाली नैसर्गिक मानी गयी।

तदनुसार, आम्र की अरुणाभ, कर्णोपरि स्थापित कोमल कूंपलों द्वारा, भगवान् गोपांगनाओं को गुप्ततया यह बोध कर रहे हैं कि उनको, स्वरूपानंद की सार-भूत जो सुधा है, उस सुधात्मक रसमय फल का अनुभव, अब, इससे आगे, शीघ्र ही प्राप्त होने वाला है। गोपीजन को यही बोध कराने के लिये, भगवान् ने सर्व-प्रथम 'पल्लव' ही धारण किये हैं–'रसवत् फल बोधाय प्रथमं पल्लवो मतः'। वस्तुतः, भगवद्-अधर-सुधा भोग को ही, रस शास्त्र ने, एकांत फल-रूप माना है। पल्लव के दर्शन से, इस सुधा-रूप फल भोग की, भावी प्राप्ति के परिज्ञान से 'शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात्'-अर्थात् भविष्य में सुधा-भोग की प्राप्ति सुनिश्चित है, ऐसी श्रद्धा होने पर, भक्त में, भगवत्-प्रति स्नेहांकुर, कलिका रूप-आसक्ति-भाव में परिणत हो जाता है-योजना। स्नेह अथवा प्रेम के अनन्तर ही आसक्ति का उद्गम होता है, प्रेमोत्तरभाव ही आसक्ति है और, भावोद्गम का यही सहज-क्रम है-क्योंकि, प्रमाण प्रकरण में, प्रभु की निर्दोष मधुर मधुर बाल-लीलाओं से, गोपांगनाओं में, प्रभु-प्रति इसी प्रेमांकुर का प्रथम ही प्रथम प्रस्फुटन हुआ था। फिर, प्रमेय प्रकरण में, भगवान् की अलौकिक लीलाओं से, गोपीजन का यही प्रेम, आसक्ति में परिणत हो गया-भावस्य कलिका

भवेत्-(भावस्य) भगवद्, विषयक स्नेह की, (कलिका भवेत्): आसक्ति रूप भाव में (कलिका में) परिणति हो गयी—योजना. ।

यहाँ, कलिका के समान बर्हस्तबक ही 'आसक्ति' रूप हैं। कलिका में, रस रूप-सुगंध-ये सभी विद्यमान होते हैं किंतु अव्यक्त-रूप में ही-"नहि पराग नहि मधुर-मधु, नहि विकास एहिकाल—अली! कली ही सों बिंध्यो आगे कौन हवाल ?" इसी तरह, आसक्ति में भी, आसक्ति के अभिव्यंजक कटाक्ष, स्मित, आलाप आदि भावों की स्थिति, यद्यपि है, तथापि अप्रकट ही मानी गयीं हैं। तदनुसार, कलिका आसक्ति के समान ही है। अतः, इसी आसक्ति के निर्देशार्थ कलिका-तुल्य बर्हस्तबक को भगवान् ने श्रीमस्तक पर धारण किया है। यही कलिका, अपने प्रस्फुटित-विकसित स्वरूप में जिस तरह पुष्प कहलाती है, उसी तरह आसक्ति-भाव अपनी स्फुट-व्यक्त-दशा में 'व्यसन' रूप हो जाता है। कली की यह पुष्परूपता ही उसका वैचित्र्य है। विचित्र का अर्थ है विविधता अथवा विलक्षणता। कली जब विकसित होती हुयी पुष्प बनती है, तब उसमें रस, रूप, सुगंध आदि विविधतायें-विलक्षणतायें-प्रकट होती हैं। इसी वैविध्य अथवा विलक्षणता के सूचनार्थ भगवान् के वेश के लिये 'विचित्र' विशेषण का प्रयोग किया गया है-'विचित्रवेषौ'। यह 'व्यसन,' यहां पुष्प-स्थानीय 'कमल-माला' है (पुष्पस्थानमिहोच्यते-पुष्पस्थान का अर्थ है, पुष्प का स्थान-अर्थात् माला)। यहां व्यसन ही पुष्प-माला है, क्योंकि पुष्प में जिस तरह रस, रूप, सुगंध आदि व्यक्त हो जाते हैं, उसी तरह व्यसन-भाव में संपूर्ण-वासनायें-आलिंगन आदि विविध-विलास-चेष्टायें— जो आसक्ति की अवस्था में अव्यक्त ही थीं, वे सभी, तथा व्यसन-सुलभ-सभी भाव, प्रकट होजाते हैं। इसी व्यसन-भाव के सूचनार्थ भगवान् ने विविध विलास-चेष्टाओं की प्रतीक रूप कमल-पुष्प-माला धारण की है।

कलिका, जब पुष्प रूप में विकसित होती है तब उसकी 'वासना' अर्थात् 'सुगंध सर्वत्र फैलने लगती है-प्रकट हो जाती है। पुष्पोद्गम के साथ ही वासना का उदय होता है, इसी तरह, व्यसन होने पर, व्यसन सुलभ दर्शन, आलिंगन, चुंबन, एकांत में संभाषण आदि विलास चेष्टाओं के नित्य प्रति गतिमान रहने से, उसका ज्ञान सभी लोगोंको होने लगता है। व्यसन-सुलभ रस-प्रसंगों के लोक विदित होने से, तत्-गत रसत्व का ह्रास हो जाता है, वह 'रस' न रहकर, रस का आभास मात्र ही रह जाता है-यही रसाभास है। रस, यदि अनावृत ही रहे, तो रात-दिवस उसकी लालसा-वासना-बनी रहती है, सर्वदा अहोरात्र उसी की वासना-उसीका अनुभव-होता रहता है। यदि रस, इस तरह अगुप्त ही रहे तो उसकी रस रूपता क्षीण होजाती है-अतः रस के आच्छादनार्थ, भगवान् ने माया रूप पीतांबर धारण किया है। रस के रसत्व की साधना के लिये आच्छादन

की नितांत अपेक्षा है-यह सूचित करने के लिये ही यहां पीतांबर धारण किया गया है। यहां पीतांबर के लिये माया शब्द का जो प्रयोग किया गया उसका तात्पर्य यह है कि दर्शन, आश्लेष आदि व्यसन-सुलभ रस के प्रसंगों को गुप्त रखने के लिये चातुर्य रूप कापटच आदि आवश्यक माने गये हैं। विविध प्रकार के असत्य कथन एवं छद्म-आचरण से ही रसका संगोपन किया जाता है। जैसे, निकुंज में से, कृष्णसह क्रीड़ा करके आती हुयी राधा के-विदीर्ण अधरोष्ठों को देखकर सखी प्रश्न करती है 'अधरों पर यह दंश क्यों? राधा कहती है कि सखि "दुष्ट-भ्रमरों ने मुझे ऐसा त्रास दिया कि देखो, अधर, और कपोल ही नहीं, वक्ष-स्थल पर भी क्षत करदिये हैं"। रस की निगूढ अनुभूति के लिये, रस-चेष्टाओं के संगोपनार्थ, इस प्रकार के चातुर्य-पूर्ण कथन, छद्म आचरण, रस शास्त्र से सम्मत हैं–'अहोरात्रं वासना स्यात्, ततःआच्छादनं स्मृतम्'।

रस की यथाक्रम निष्पत्ति के लिये, उपर्युक्त पदार्थ-चतुष्टय का, आम्र-पल्लव, बर्हस्तबक, उत्पलमाला तथा पीतांबर का निरूपण किया गया है, और, रसोत्पत्ति में, यही रस शास्त्रोक्त प्रणालि है-मर्यादा है-'रसोत्पत्यर्थमेतावत् निरूपितमिति स्थितिः'-कारिका। यद्यपि, भगवान्, इस रस-शास्त्रीय प्रणालि के बिना भी, इस रस-निष्पत्ति के प्रकार का आश्रय लिये बिना ही, गोपांगनाओं में रसोत्पत्ति करने में समर्थ हैं, तथापि, रस की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिये, रस-शास्त्र की मर्यादा के संस्थापनार्थ, भगवान् ने, रसशास्त्र से अनुमोदित पद्धति को ही अपनाया। रस-शास्त्र के अनुसार, विभाव, व्यभिचारीभाव तथा अनुभाव के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है; विभावादि से अभिव्यक्त, स्थायिभाव को रस कहते हैं–विभावाः अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः–व्यक्तस्तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः"। भगवान् ने जो आम्र-पल्लव, बर्हस्तबक तथा कमल माला धारण की है, वह यथाक्रम स्थायिभाव, व्यभिचारीभाव तथा अनुभाव है, इनके संयोग से, भगवान् गोपांगनाओं में रसोत्पत्ति करने के लिये, नट रूप में उपस्थित हैं, रस के संगोपनार्थ पीतांबर धारण किया है, जिससे रस का रसत्व अक्षुण्ण रहे।

यहां, यह शंका होती है कि इस तरह से 'रस' का जो निरूपण किया गया वह तो आम्रपल्लवादि से निर्दिष्ट-विभावादि धर्मों-सहित-रस का निरूपण कहलायेगा-'केवल'-रस का नहीं, धर्म अथवा सामग्री से रहित धर्मि-रसरूप का नहीं। अर्थात्, आम्रपल्लवादि सामग्री सहित होने के कारण, यहां निरूपित किया गया रस, संयोग-शृंगारात्मक है, विप्रयोगात्मक-केवल-नहीं, और, प्रतिज्ञा की गयी है 'केवल-रस' के निरूपण की 'केवलं रस रूपमाह'। इसका समाधान यह है कि इतना-एतावत्-यह सब कुछ, गोपाङ्गनाओं में, धर्मि-रस स्वरूप के ही आविर्भावार्थ ही निरूपित किया गया

है, धर्म-सहित रस-स्वरूप के आविर्भावार्थ नहीं। विभावादि के बिना रस कदापि प्रकट नहीं होता। भरत-सूत्र ने विभावादि-भावों के संयोग से रसकी निष्पत्ति मानी है। रस के आविर्भाव क्रममें-यही मर्यादा-'इति स्थितिः'-यही प्रणालिका, रसशास्त्र ने स्थिर की है। अतः शास्त्र-सम्मत रस-मर्यादा के अनुसार ही, गोपीजन में रस का आविर्भाव इसो क्रम से किया गया। यह तो हुआ गोपांगनाओं में रसाविर्भाव के क्रम का निरूपण, अब, भगवान् में रसाविर्भाव के क्रम का जो प्रकार है, उसका निरूपण किया जाता है। यहां नट-वेष रूपमें, भगवान्, अभिनय द्वारा, शास्त्रोक्त मर्यादा पूर्वक, गोपीजन में रसोत्पत्ति कर रहे हैं। प्रेक्षकों में रसोत्पत्ति तभी संभव है, जब, नट स्वयं रसावेश पूर्वक अभिनय करें। गोपांगनाओं को रसास्वादन-कराते हुये, अभिनय-सुलभ रस का, भगवान् स्वयं आस्वादन कर रहे हैं। उधर गोपीजन, रसावेश सें परितः सुधा-वर्षण रूप गुणानुवर्णन कर रही हैं, इस गुणानुवर्णन से भी, भगवान् में रसोद्‌बोधन हो रहा है। इस प्रकार प्रतिक्षण उपचीयमान रसास्वादन के-अनिर्वचनीय आनन्दोद्रेक से अभिनय-परायण भगवान् ने नृत्य किया-"अभिनयकर्तुर्भगवतो रसास्वादात्-नृत्यं अभूत्"-योजना.। बर्हापीडं-श्लोकोक्त 'नटवर' पदान्तर्गत 'नट' शब्द का अर्थ इस-तरह यहां 'नृत्य' पद से किया गया है-'इति 'नट' इत्यस्यार्थ उक्त':-योजना। रसोन्माद में नृत्य करने की वृत्ति हो आना सहज है। रसावेश में मयूर अपने पंख फैलाकर नृत्य करता है, इसी तरह भगवान् ने भी रसास्वादन से-नृत्य किया। अथवा, गोपीजन को अभिनय द्वारा रसास्वादन कराके, भगवान् ने नृत्य किया-'रसास्वादानन्तरं नृत्यम्'–लेख.। अपने श्रीमस्तक पर धारण किये गये, बर्हस्तबक' द्वारा भगवान् गुप्ततया, गोपीजन को यह सूचित कर रहे हैं कि मेरे में भी रसाविर्भाव हुआ है, मयूर की तरह मैं भी नृत्यमान हूँ। इस तरह नृत्यपरायण भगवान् अनंत शोभा को प्राप्त हुये-'शोभाततो भवेत्'-कारिका। जहां स्वयं रसस्वरूप नृत्य करता हो, उस समय की शोभा, वाणी का विषय नहीं बनायी जा सकती। शोभा की इस निरतिशयता का उल्लेख, यहां प्रस्तुत श्लोक की- 'विरेजतुरलं' इस पंक्ति द्वारा किया गया है–आविर्भावे, रसास्वादात् नृत्यं, शोभा ततो भवेत्।

इस तरह उद्‌बुद्धता को प्राप्त यदि रस का संगोपन न किया जाये तो रसाभास का प्रसंग आ जाता है। इसीलिये, जैसा कहा जा चुका है, भगवान् ने, जिस जिस वस्तु से, जिस जिस रसधर्म का, गुप्ततया संकेत किया जा सकता है, उस उस (आम्र पल्लवादि) वस्तु से ही अपने श्रीअंग को समलंकृत किया है। इतना ही नहीं माया रूप पीतांबर भी धारण किया है। 'रस' का रसत्व उसके एकांत संगोपन में ही निहित है, रस में जितनी निगूढता, उतनी ही उसकी उत्कट-रस रूपता '-गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यते'–सुबो.।

इस कथनानुसार, श्रुति ने जिस परब्रह्म को 'रसो वैसः' कहा है, उसकी रसरूपता का इस तरह समर्थन हो जाता है। कदाच्-इसीलिये श्रुतियोंने, 'परम-व्योम' में अथवा निगूढ-स्थलों में ही परब्रह्म की प्रतिष्ठा का निरूपण किया है-'परमे व्योम्नि-निहितो गुहायाम्'। 'अतोऽतिगुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते'–कारिका।

**–इति कारिकार्थः–**

—: ० :—

**श्रीसुबोधिनी :–** (यहां तक कारिकाओं की व्याख्या की गयी है। इससे पूर्व जहां तक श्रीसुबोधिनी की व्याख्या की जा चुकी है-उससे अग्रिम-अवतरणों की व्याख्या यहां से प्रारंभ होती है।)

**विचित्रंवेषौः**–आम्र-पल्लवादि का वेश स्वयं में विचित्र ही है–'परिधानविचित्रवेषौ' इस प्रकार के कथन मात्र से ही 'वेश के वैचित्र्य' की प्रतीति होजाती है, तथापि ऐसे पहरवेश के लिये-'विचित्र'-पद का पृथक्तया प्रयोग सविशेष अर्थ का सूचक है। भगवान् ने यहां आम्र पल्लवादि का वेश सभी रसों के-अर्थात् नव-रस के अभिनयार्थ-अभिनिवेशनार्थ-धारण किया है। जिस वेश द्वारा रस के सभी प्रकारों का अभिनिवेश किया जाता हो, वह विचित्र ही कहलायेगा। आम्र-पल्लवादि रूप होने के कारण यह वेश विचित्र अवश्य है, किन्तु, नव-रस की निष्पत्ति में, साधन-रूप होने के कारण सविशेष विचित्र है। यदि नव-रस के अभिनिवेशनार्थ यहां 'विचित्र वेषौ' इस पद का प्रयोग किया गया है-तो फिर, नव-रस की निष्पत्ति के साधन भी नव प्रकार के होने चाहिये, किंतु, यहां तो पल्लवादि रूप-यथाक्रम स्थायिभाव, व्यभिचारीभाव तथा अनुभाव इन तीन साधनों का ही उल्लेख है, साधन तीन है, रस, नव हैं; नव रस के निष्पादक भी नव होने चाहिये-इस प्रश्न के-समाधान में यह उत्तर है कि यहां ये आम्रपल्लवादि ही नवरस के साधन हैं, क्योंकि, रजस्-तमस् तथा सत्वगुण रूप आम्रपल्लवादि, स्थायिभाव व्यभिचारीभाव तथा अनुभाव (विगाढ़-भाव) रूप हैं-इन तीनों के पारस्परिक गुण की प्रधानता से ही नवरसों की निष्पत्ति होती है-'त्रयाणां अन्योन्यगुणप्रधानभावे नव-रसा भवन्ति'–सुबो.। जहां 'हास'-'स्थायिभाव', प्रधान हो किंतु 'रति' (शृंगार का स्थायिभाव) गौण हो, वहां 'हास्य' रस निष्पन्न होता है-हास गौण हो, तथा रति प्रधान हो, वहां शृंगार-रस की निष्पत्ति होती है। इस तरह, स्थायिभाव के, व्यभिचारी-भाव के तथा विगाढ़ भाव के परस्पर गुण-प्रधानता से नव रस की निष्पत्ति हो जाती है, त्रिगुणात्मक ये तीनों भाव, नवों रस के साधक हैं। इस प्रकार से नवों रस के साधन-रूप पल्लवादि के इस विचित्र-वेष को प्रभु ने धारण किया है-'विचित्र वेषौ इति सर्व रसाभि-

निवेशनार्थम्-' सुबो. । प्रस्तुत श्लोक में 'विरेजतुरलं'- द्वारा उस धर्मि-रस स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है जिसमें, निखिल ब्रह्मांड की शोभा-सौंदर्य निहित है, वास्तव में, 'इस प्रकार की शोभा से संपन्न 'रस-रूप' भगवान् का निरूपण ही इस श्लोक का वाक्यार्थ है, 'तादृश-शोभा–विशिष्ट–धर्मि-रस–निरूपणं वाक्यार्थः'–लेख. ।

इस तरह रस रूप भगवान् का निरूपण करके, सामाजिको में, अर्थात् पशुपाल-मंडली में-इस रस के पोषक गीत-वाद्य विशेष का वर्णन 'मध्ये विरेजतुः' इस पंक्ति से किया जाता है। भगवान्, पशुपाल मंडली में विराजमान हैं। यह पशुपाल मंडली, सर्व साधारण गोपों की प्रकट सभा है, अतः सर्व-गम्य है, सर्व-साधारण बिना रोक-टोक जा सकते हैं। तदनुसार, इससे यह सूचित किया गया है कि यहां यह 'रस' सर्व-सुलभ है। गोपाङ्गनाओं की रस-मय गोष्ठी में यदि विराजमान होते तो और बात थी, वहां, सर्व साधारण की पहोंच ही कैसी ? गोप-गोष्ठी में स्थित भगवान् के सौंदर्यामृत का पान सब के लिये खुला है, किंतु, गोपिकान्तर्गत गोष्ठी में स्थित भगवान् के, प्रथम तो दर्शन ही दुर्लभ, फिर, रसपान की कल्पना ही कैसी ? ऐसी गोष्ठी में स्थित भगवान् हमारे जैसों के हृदय में क्यों कर आगमन करेंगे ? उस समय, पशु-पाल समाज में, गीत और वाद्य हो रहे थे, अतः ऐसा लगता था मानों रंग-भूमि में नट-कला-प्रवीण श्रेष्ठ नट-युगल सुशोभित हों। यहां नट के दृष्टांत से वाद्य का कथन तथा नृत्य का सूचन किया गया है। इसी तरह, 'क्व च गायमानौ' कभी कभी गान करते हुये-इस पदद्वारा गान का कथन तो हुआ ही है, नृत्य भी-सूचित होता है–तदनुसार, 'नटवरौ तथा गायमानों-' इन दोनों पदों से, गीत, नृत्य और वाद्य इन तीनों का स्वतः कथन हो जाता है, इन तीनों की समानता ही सर्वोत्तम है-इन तीनों की समानता में ही नट-कला की सर्वोत्तमता है। समान स्वर में, समान लय में तथा समान ताल में, नृत्य, गीत और वाद्य के निर्वर्तन से, लोकोत्तर-रस की निष्पत्ति होती है। जिस निपुणता से गान किया जाये, उसी निपुणता से वाद्य का तथा उसी निपुणता से नृत्य का अनुष्ठान, रस की उत्कट अनुभूति कराता है। इस तरह नैपुण्य की समानता में ही सर्वोत्तमता है, उसकी-नैपुण्य की-न्यूनाधिकता में नहीं। तदनुसार कारिकोक्त 'शोभा' का अर्थ-यहां 'साम्य' अथवा 'समानता' है-अर्थात् गीत, नृत्य तथा वाद्य का साम्य अथवा समानता में ही 'शोभा'-सौंदर्य-तत्व निहित है।

यहां, यह प्रश्न होता है, कि 'नटवर' पद का वाच्यार्थ 'नृत्य' तथा सूचितार्थ 'वाद्य'-इस तरह क्यों न किया गया ? इसका उत्तर यह है कि पशुपाल मंडली में मुख्यतया अधिकांश समय पर्यंत गीत और वाद्य ही होते रहे नृत्य तो, कभी कभी, बीच में, रस के अतिशय आवेश काल में ही किया जाता था, इसीलिये नृत्य शब्द का यहां-वाच्यार्थ

'वाद्य' ही किया गया है, 'नृत्य' तो सूचितार्थ ही है, 'नृत्यस्य तु विशेषः प्रायिक एवेति तदेवोक्तम्—सुबो.। गीत और वाद्य बहुत काल तक होते रहे'-यही सूचित करने के लिये यहां 'अलम्' शब्द का प्रयोग किया गया है, अर्थात् गीत और वाद्य के प्रायिक-अथवा कभी कभी ही होने का निषेध 'अलम्' शब्द से हुआ है-कादाचित्कनिषेधार्थं-'अलम्'-इति—सुबो.। अथवा, 'अलं' से दूसरा अभिप्राय यह भी हो सकता है कि भगवान्, पशु-पाल गोष्ठी को अपनी दीर्घ-कालीन उपस्थिति से सुशोभित करते रहे।

यह अभिनय सर्व प्रकार से रसोत्पादक था एवं रस-शास्त्र-सम्मतरीति से ही संपादित किया गया था, यही सूचित करने के लिये 'रंगे यथा नटवरौ' इस पंक्ति के अन्तर्गत 'रंग' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'रंग मंडप' रस शास्त्रोक्त अभिनय-स्थल को ही कहते हैं, अतः यहां, रस-शास्त्रोक्त प्रणालि के अनुसार ही अभिनय किया गया है। यहां 'नटवरौ' में 'वर' पद, धर्म-सहित रस के अर्थात् संयोग शृंगार-रस के निरूपणार्थ नहीं हुआ है, अपितु, अभिनय की लौकिकता के निषेधार्थ प्रयुक्त किया गया है-अर्थात् यह अभिनय, अलौकिक था। राम और कृष्ण जैसे 'वर' अर्थात् श्रेष्ठ नट-युगल द्वारा अभिनीत हुआ था। तदनुसार 'वर' शब्द-अभिनय की अलौकिकता का तथा उसकी 'राजस'-भावरूपता का ज्ञापक है। 'क्व च गायमानौ'-इस पद द्वारा सात्विक-भाव युक्त अभिनय का बोध कराया गया है। तामस-भाव युक्त नृत्य, बर्हस्तबक द्वारा निर्दिष्ट किया गया है-अर्थात् 'नटवर' पद से राजस-भाव युक्त, गान-पद से (गायमानौ) सात्विक भावयुक्त तथा बर्हस्तबक से, तामस भावयुक्त नृत्य, यथाक्रम सूचित किये हैं। 'प्रेक्षकों में, मोह-भाव उत्पन्न करने के लिये ही भगवान् ने बर्हस्तबक का मोहक मुकुट धारण किया है'-इस प्रकार का तामस-नृत्य, प्रायः ऐसे ही प्रसंगो पर किया जाता है। यहां भगवान् ने, भाव-त्रय से युक्त, अर्थात्, यथाक्रम राजस्-सात्विक तथा तामस भाव से युक्त-त्रिविध नृत्य द्वारा, रस की निष्पत्ति की है।

श्रम रहित गान तभी संभव है, जब बैठ कर किया जाये-अब, यदि बैठ कर कोई गान करता हो तो फिर, नृत्य-क्रिया कैसे संभव हो सकती है? इस शंका के उत्तर में यह कहा गया है कि दोनों भाई, हस्ताभिनय पूर्वक, अपने करकमलों को, इतस्ततः अभिनयात्मक ढंग से, ढुलाते हुय, और इस तरह भावाभिव्यक्ति-पूर्वक, गान कर रहे थे। बैठकर गाते हुये, हस्ताभिनय-पूर्वक नृत्य, लोक में प्रसिद्ध है। ऐसे नृत्य में श्रम नहीं होता और इसी कारण, यह सात्विक-नृत्य कहा गया है- "उपविश्य गाने नृत्यं कथं संभवतीत्यत आहु र्हस्तेति-सात्विकत्वे हेतु माहुः—श्रमरहितम् इति"—लेख.।

**"गुणा माया च वेषार्थमुपयुक्ताभवन्ति हि...अतोति गुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते"** इत्यादि इन छहों कारिकाओं का अभिप्राय-'प्रकाशकार' के मत में—

## –रस-निष्पत्ति का प्रकार –

प्रस्तुत अष्टम-श्लोक की रस-रूपता को स्पष्ट करते हुये, श्रीमद्-आचार्य-चरणने 'गुणा माया च वेषार्थ मुपयुक्ता भवन्ति हि'-आदि जो छह कारिकायें आलेखित की हैं- उसका अभिप्राय, 'लेख' तथा योजना के मतानुसार, इससे पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है। इन कारिकाओं में निहित 'रस' के दार्शनिक स्वरूप का निगूढ विवेचन 'प्रकाशकार'-गो. श्री पीतांबरजीने, अपनी पांडित्योचित शैली में किया है। विषय की गंभीरता के कारण, शैली अवश्य क्लिष्ट बन गयी है, तथापि, अंत में 'रस' के जिस समुज्ज्वलस्वरूप से परिचय कराया गया है, वह सर्वथा 'भव्य' है।

"प्रस्तुत श्लोक में, केवल-रस रूप का ही कथन है 'केवलं रस-रूपमाह'- यह जो कहा गया वह असंगत है- क्योंकि, 'केवल-रस' के निरूपण-प्रसंग में आम्रपल्लवादि सामग्री का कोई प्रयोजन नहीं। केवल-रसकी अर्थात् विप्रयोग-शृंगार रस की अभिव्यक्ति, नाटच द्वारा ही संभव है, और, नाटच में तो सामग्री आदि का अभाव ही रहता है, अतः यहां पल्लवादि सामग्रीसहित स्वरूप का वर्णन संयोग शृंगार-रस का ही निरूपण कहलायेगा-सामग्रीसे रहित विप्रयोगात्मक 'केवल-रस' का नहीं जो नाटच में ही प्रसिद्ध है-इस शंका के समाधान में यह वक्तव्य है कि–

गुणा माया च वेषार्थ....इत्यादि पूर्वोक्त कारिकाओं द्वारा, प्रस्तुत-श्लोकोक्त- 'चूत-प्रवाल'-आदि के निरूपणका प्रयोजन स्पष्ट किया गया है। यहां, यह समझ लेना चाहिये कि 'नाटच' शब्द रस-अर्थ का वाचक है-रसोत्पादक होने के कारण प्रधानतया 'रस'-अर्थ में प्रयुक्त होता है। तदनुसार, चार-प्रकार के अभिनय से युक्त नर्तन को- नृत्य को ही लक्षणावृत्ति से, रसज्ञ-पंडित-'नाटच' कहते हैं। यहां रस-संबंधी आंगिकादि- चतुर्विध अभिनय से युक्त जो नृत्य-विशेष है, वह रसोत्पादक होता है, अर्थात् इस प्रकारके नृत्य का लक्ष्यार्थ 'रस' है। ऐसे नृत्य विशेष में प्रयुक्त 'नाटच' शब्द, इसी लक्ष्यार्थ-रसका प्रतिपादिक है, इसीलिये, 'नाटच' शब्द रसोत्पादक नृत्य-विशेष में रुढ है। अर्थात् अभिनय का मुख्य प्रयोजन है-सामाजिकों में रसोत्पत्ति करना, और यह नाटच शब्द, रसशास्त्र में अभिनय नाम से प्रसिद्ध है-इस तरह लक्षणावृत्ति से, 'नाटच' शब्द, रस के अर्थ में व्यवहृत होता है-और इसी अर्थ में रूढ-प्रसिद्ध है। संगीत-रत्नाकर में तथा इसके मूल-भूत आर्ष-ग्रंथों में भी, 'नाटच' का यही अर्थ किया गया है।

नाटच-शब्द का योगिक (व्युत्पत्ति से किया गया) अर्थ भी 'रस' है-'नटितुं अभिनेतुं योग्यं नाटचम्'-अर्थात् जो अभिनय के योग्य हो, उसे नाटच कहते हैं। यहां 'नट्' धातु में 'कृत्य'-'य'-प्रत्यय के योगसे-(अर्हार्थेकृत्य)-नाटच शब्द सिद्ध होता है। इस तरह, नाटच-शब्द का योगिक अर्थ लो अथवा रूढ अर्थ-दोनों प्रकारसे-नाटच का अर्थ 'रस' ही

है। जिस तरह 'पंकज' शब्द 'कमल' के अर्थ में ही योग रूढ है, पंक से उत्पन्न 'शैवाल' आदि में नहीं, उसी तरह 'नाटच' शब्द 'रस' में ही योग रूढ है, अन्य अर्थ में नहीं।

तदुपरांत, जैमिनीय-स्मृति का एक सूत्र है-'अन्यायश्चानेकशब्दत्वम्'-अर्थात् अेक शब्द का अेक ही वाच्य-अर्थ करना चाहिये-एक शब्द, एक ही अर्थ का वाचक होना चाहिये। शब्द के अनेक अर्थ किये जा सकते हैं-किंतु, जो 'अर्थ' उस शब्द के धर्म-विशेष में पर्यवसित होता हो, उस शब्द के धर्म-विशेष का निर्देशक हो, उस शब्द का वही अर्थ, अन्य अर्थ की अपेक्षा, प्रशस्त एवं ग्राह्य माना गया है और यही शब्द-शास्त्र का नियम है–यत् परः शब्दः, स शब्दार्थः। तदनुसार, नर्तन अथवा नृत्य का पर्यवसान, रस-विशेष की अभिव्यक्ति एवं साक्षात्-प्रत्यक्ष-अनुभूति-(दृश्यापन्नत्वम्)-में होता है, अतः नाटच शब्द, नर्तन अथवा नृत्य द्वारा-अभिव्यक्त एवं अनुभूत रस-विशेष का वाचक है, और यही उसका अर्थ होता है। नर्तन द्वारा अभिव्यक्ति को प्राप्त एवं संवेद्य रस-विशेष ही 'नाटच' का धर्म-विशेष है, अतः उपर्युक्त सूत्रानुसार, नाटच शब्द का वाच्य अर्थ रस ही माना गया है।

नाटच का, नर्तन अर्थ में भी विचार करें, तो भी दोनों में यथाक्रम 'ष्यञ्' तथा 'ल्युट्' प्रत्यय का विधान भाव तथा कर्म में होता है-अर्थात्, नाटच पदके नर्तन-अर्थ में भी, नट का भाव अथवा कर्म ही नाटच में मुख्य है। 'नट्' में 'ष्यञ्' प्रत्यय के योग से 'नाटच शब्द बनता है। 'ष्यञ्' प्रत्यय का विधान, भाव तथा कर्म दोनों में ही होता है, तथापि, यहां 'ष्यञ्' प्रत्यय का मुख्य-विधान, 'कर्म' के प्रयोजक 'भाव' में ही किया गया है। नाटच, यद्यपि 'नर्तन-कर्म' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, तथापि, नाटच में, नट के 'कर्म' की अर्थात् नर्तन की अपेक्षा, नट के 'भाव की ही प्रधानता है। 'भाव' के विना, केवल नृत्य-कर्म उत्तम नहीं। रसोत्पादक-भाव ही नाटय में मुख्य है। रस की सत्ता विना, नृत्य के ष्यञ्-प्रत्यय का प्रयोग युक्ति-युक्त नहीं है-क्योंकि कर्म का प्रयोजक वस्तुतः भाव ही है, और इसीलिये, भाव में ही, यहां ष्यञ् का प्रयोग मुख्य है; कर्म में सामान्यतया प्रयुक्त-'ष्यञ्' प्रत्यय, अपने योग की विशेषता के कारण, रस के अभिव्यंजक कर्म में संकुचित ही रहेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भाव अथवा रस सत्ता के विना, केवल नृत्य कर्म-रसोत्पत्ति में असफल हीं रहता है, क्योंकि, नृत्य कर्म का प्रयोजक भाव है; नट-भाव के अभाव में, केवल-नृत्य-कर्म-नीरस है, हाथ पैर को इधर उधर पछाड़ना मात्र है। तदनुसार, 'नर्तव्य' अर्थ में भी, नाटच-शब्द का अर्थ शक्य-संबंध रूप लक्षणा-गर्भित ही है–'लक्षणा शक्यसंबंधः' अर्थात् नाटच शब्द, लक्षणा-वृत्ति से, रस-अर्थ का ही वाचक है-क्योंकि रस की अभिव्यंजना, नृत्य द्वारा ही होती है-"रसस्य नृत्याभि-व्यंग्यत्वम्।

संगीत-रत्नाकर में नर्तन के त्रिविध-भेदों का उल्लेख किया गया है। नाटच, नटकृत उस अभिनय की आत्मा है, जिस अभिनय द्वारा नटकथित वाक्यों तथा पदों के अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती है। अर्थात् जिस नर्तन में, नटकृत अभिनय द्वारा, नटकथित वाक्यार्थ की तथा पदार्थ की प्रतीति सामाजिकों को करायी जाती हो, वह नाटच कहलाता है। जिस नर्तन में, केवल आंगिक अभिनय द्वारा ही भावों की अभिव्यक्ति की जाती हो, वह नृत्य-शास्त्र में, 'मार्ग' शब्द से प्रसिद्ध है। जो नर्तन, अभिनय के सर्व प्रकारों से रहित हो,अर्थात् जिसमें चतुर्विध अभिनय का अभाव हो, किंतु, जहां, आंगिक-अभिनय में कहे गये प्रकार से, अंगोपांगों का-अर्थात् गात्रों का इतस्तत: विक्षेप मात्र किया जाता हो, उसे 'नृत्त' कहते हैं। इस तरह, नर्तन के (नृत्यके)-नाटच, मार्ग तथा नृत्त ये त्रिविध भेद हैं।

संगीत-रत्नाकर के अग्रिम अवतरणों में, 'सत्वत्राभिनयो भवेत्'-इस पंक्ति से प्रारंभ करके-'काव्य-बद्धं विभावादिव्यंजन् योऽर्थोनिटे स्थित:— सामाजिकानां जनयन् निर्विघ्नं रससंविदम्'-इस श्लोक पर्यंत, अभिनय का लक्षण कहा गया है-'कवि-विरचित नाटकादि रूपक में, विभावादिक्रम से जिस-रसकी निष्पत्ति की जाती है-अपने हृदय में स्थित-भावित-उसी रस-रूप अर्थ को, नट, अपनी यथानुरूप आंगिक चेष्टाओं द्वारा, यथोक्त विभावादि के क्रम से अभिव्यक्त करता हुआ, सामाजिको में सहजतया रस का अनुभव-ज्ञान-कराता है, नट-गत यह चेष्टा ही अभिनय का स्वरूप है। आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्विक भेद से यह अभिनय चार-प्रकार का कहा गया है।

'नेत्र, कटाक्ष आदि अंग की चेष्टाओं सहित किया गया नृत्य, आंगिक अभिनय है; वाणी से-विरचित काव्य, नाटक आदि के वर्णन सहित नृत्य, वाचिक अभिनय है। हार, कंकण, नूपुर आदि-आभूषणों के परिधान-पूर्वक आचरित-नृत्य, आहार्य अर्थात् वेषात्मक अभिनय-है। स्वेद, स्तंभ, रोमांच आदि द्वारा अंत:करणस्थ-भावों का बाह्य-प्रकटीकरण, सात्विक अभिनय है। रसज्ञ-सामाजिकों को विशेषतया इस प्रकार से सात्विक-भावों के प्रदर्शन द्वारा ही रसानुभव होता है। यही चतुर्विध-अभिनय हैं।

**'गुणा माया च वेषार्थम्'** :—उपर्युक्त चतुर्विध अभिनय में से जो वेषात्मक आहार्य-अभिनय है, उसके लिये ही, रस रूप और सुगंध-ये तीनों गुण तथा परिधान रूप-(कनक कपिश-पीतांबर रूप) माया-यह—पदार्थ-चतुष्टय उपयोगी माने गये हैं-इसलिये, और, क्योंकि, प्रस्तुत-श्लोक में रसोत्पत्ति के लिये आहार्य-अभिनय ही निरूपणीय है, इसलिये भी, गुण-त्रय के-रस-रूप-सुगंधके-सूचक यथाक्रम आम्रपल्लव, वर्हस्तबक तथा कमल-माला-इन तीनों का तथा माया के निर्देशक कनक कपिश पीतांबर

का-इन चारों ही पदार्थों का निरूपण किया गया है। क्योंकि, इस प्रकार के वेष-धारण-पूर्वक किया गया आहार्य-अभिनय ही रसोत्पत्ति में समर्थ होता है। और, स्थायि-भावात्मक अमूर्त रस, विभावादि से वृद्धिगत होता हुआ भी, यदि आलंबन न हो तो, अनभिव्यक्त ही रहता है। आलंबन के विना रस, व्यक्त नही होता-अर्थात् साक्षात् रस स्वरूप आलंबन के विना, गोपांगनाओं में, विभावादि से उपचीयमान स्थायि-भावात्मक-अमूर्त रस व्यक्त नहीं किया जा सकता। गोपांगनाओं के-रसावलंबन रूप तो स्वयं भगवान् ही हैं। ऐसी स्थिति में, यदि साक्षात् रस स्वरूप आलंबन ही उपस्थित हो जाये तो वह संयोग-शृंगार-रस कहलायेगा, विप्रयोगात्मक 'केवल-रस' नहीं जो नाट्य में प्रसिद्ध है। अतः आलंबन द्वारा रस की अभिव्यक्ति भी हो-और, नाट्य-रूपता भी बनी रहे, इस उभय के सामंजस्यार्थ अर्थात् समन्वय के लिये, उभय-कार्य संपदनार्थ-संयोग में भी, विभोग रूप केवल-रस के निष्पादनार्थ, स्वयं रसावलंबन रूप प्रभु ने, नटवेषात्मक आहार्य अभिनय द्वारा अर्थात् आम्रपल्लवादि के द्वारा, अपने धर्मि-रस स्वरूप में, आलंबनता का आरोपण किया तथा आंगिक-वाचिक तथा सात्विक-इन अवशिष्ट त्रिविध-अभिनय द्वारा सामाजिक गोपांगनाओं को विप्रयोग-शृंगार-रस का अनुभव-(संविद्-ज्ञान) -कराया-'रससंविज्जननम्'। अर्थात् आंगिकादि त्रिविध-अभि-नय द्वारा तो उनके स्थायिभावात्मक अमूर्त रस को पुष्ट किया तथा स्वकीय रस-स्वरूप में, पल्लवादि वेषात्मक आहार्य-अभिनय से आरोपित आलंबन-विभाव द्वारा इसी रस की वियोगात्मक रूप में अनुभूति करायी।

किंतु जहां आलंबन-विभावात्मक रसरूप-भगवान् ही नटरूप में उपस्थित हों, वहां भी, नाट्य दशा में, रस के, मुख्य धर्मों के अप्रकट रहने से-अर्थात् आलिंगन चुंबन आदि मुख्य रस-धर्मों को प्रकट न करने के कारण, आलंबनता गौण ही रहेगी। नट-वेष में, आलंबनता भी आरोपित ही होती है। "भगवान्, नटवेष में, मुख्य रसधर्मों को प्रकट न करते हुये, इतनी कुशलता से अभिनय कर रहे हैं कि जिससे गोपीजन को यही प्रतीत होता रहा कि मानों इस नट ने अपने पल्लवादि वेष द्वारा, साक्षात् रसावलंब-नता को ही, अपने में आरोपित कर ली है, आलंबनता की अवतारणा कर रहा है।" अर्थात्, रसात्मक स्वरूप में गुप्त-रस को नहीं जानने के कारण गोपीजन यही समझ रही हैं कि यह आलंबनता प्रत्यारोपित है।

"इसी तरह, प्रस्तुत प्रसंग में, 'ब्रह्मात्मक रस' स्वयं वह रस है, जिसकी निष्पत्ति गोपांगनाओं में की जा रही है, तथा यही ब्रह्मात्मक-रस, स्वयं वह आलंबन-विभाव भी है, जिसके द्वारा, इसी रस की निष्पत्ति की जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मात्मक रस ही, गोपांगनाओं में निष्पन्न होन वाला रस है, तथा यही ब्रह्मात्मक-

रस उनमें अपनी निष्पत्ति का हेतु अर्थात् आलंबन भी है। इस तरह निष्पन्न होने-वाला रस, तथा इस रस की निष्पत्ति में हेतु रूप आलंबन–ये दोनों यद्यपि परस्पर अविरुद्ध हैं–एक ही है"–अर्थात्, यद्यपि, रसात्मक स्वरूप में, ब्रह्मानन्दात्मक-रस तथा रसावलंबनता, पूर्वोक्त प्रकार से, दोनों ही विद्यमान हैं–इन में परस्पर कोई विरोध नहीं, तथापि, जिस तरह, प्रभु, अपने रसत्व को अर्थात् रसभावों को–किसी समय गौण कर के, अपनी आलंबनता को ही प्रकट करते हैं, उसी तरह, यहां स्वाव-लंबनता को गौण करके, अर्थात् अपनी रसावलंबनता को प्रकट नही करके, नटत्व को-नटवेष को-ही प्रकट करके, गोपांगनाओं के अंतःकरण में, संगीत-शास्त्रोक्त रीति से अभिनय द्वारा, अपने श्रुत्युक्त 'रसो वै सः' इस स्वरूपात्मक–रस को, आविर्भूत करते हैं। संयोग-शृंगार में, भगवान् रस-रूप में नहीं किंतु रसमय सामग्री सहित साक्षात् रसावलंबन रूप में, बाहर प्रकट होते हैं, किंतु, विप्रयोग-शृंगार में, अपने आलंबनत्व को गौण करके, नटरूप धरकर अभिनय द्वारा अपने रसात्मक रूप से, गोपांगनाओं में आविर्भूत होते हैं।

संगीत-शास्त्रोक्त पद्धति-पूर्वक अभिनय द्वारा, अपने स्वरूपात्मक-रस को, गोपांगनाओं में अभिव्यक्त करने के लिये ही यहां गुणों आदि का अर्थात् रस, रूप तथा सुगंध का उपयोग है, अतः, इन तीनों गुणों का यथाक्रम निर्देश करने के लिये, आम्रपल्लव, बर्हस्तबक तथा कमल माला का निरूपण किया गया है। अर्थात् इस प्रकार के रसाभिनय में, रस, रूप तथा सुगंध की उपयोगिता के कारण आम्रपल्लवादि का उल्लेख हुआ है। यहां यह प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति में, रस-रूप तथा सुगंध इन तीनों गुणों का ही यहाँ निरूपण करना उचित था, पल्लवादि रूप गुणी-पदार्थों का नहीं। इस का उत्तर 'रसरूप सुगंधानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता-धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र-निरूप्यते'–इस कारिका द्वारा दिया गया है। रस, रूप तथा सुगंध, यथाक्रम आम्रपल्लव, बर्हस्तबक तथा कमल में सहज रूप से प्रतिष्ठित हैं। रसादि धर्म, पल्लवादि के आगन्तुक धर्म नहीं है, किंतु, सहजात धर्म हैं, और यही निर्देश करने के लिये, पल्लवादि-गुणि-त्रय का ही यहां निरूपण किया गया है। यदि यहां केवल रस, रूप आदि गुणों का ही वर्णन किया जाता तो 'ये गुण-त्रय, भगवान् में, सहज रूप में प्रतिष्ठित नहीं हैं, अपितु, उनके आगन्तुक गुण हैं'–यही प्रतीति होती। अतः, यहां पल्लवादि गुणित्रय का ही जो उल्लेख किया गया वह यह बोध कराने के लिये ही किया गया है कि जिस तरह ये रसादि तीनों गुण, पल्लवादि में सहज रूप से उपलब्ध हैं, उसी तरह ये गुण, प्रभु में निसर्गतः प्रतिष्ठित हैं। आम्र-पल्लव, बर्हस्तबक तथा कमल-माला द्वारा, भगवान्, गोपां-

गनाओं को निगूढ़तया यह संकेत कर रहे हैं कि मेरे में, तुम्हारे उपभोगार्थ रस, रूप तथा सुगंध ये तीनों गुण उसी तरह सहज रूप से प्रतिष्ठित हैं, जिस तरह आम्र-पल्लवादि गुणि-त्रय में। वस्तुतः, धर्मि-रस स्वरूप में गुप्त-रस का बोध कराने के लिये ही, यहां, पल्लवादि का निरूपण किया गया है। यहां, पीतांबर रूप माया का निरूपण, स्वयं धर्मि-रस के आच्छादनार्थ-संगोपन के लिये–किया गया है। क्योंकि रस को गुप्त-रखने में ही उसका रसत्व है।

यहां यह शंका होती है कि रस की सहज-प्रतिष्ठा तो आम्र के फल में है, उसके पल्लवों में नहीं अतः उनका यहां कोई उपयोग नहीं, और, यदि उसका उपयोग किसी तरह, आवश्यक मान भी लिया जाये तो फिर हस्तादि के अभिनय द्वारा पल्लव की अवतारणा-उसका निर्देश सहज ही किया जा सकता है, उसको-पल्लवको-श्रीकर्ण में शृंगारार्थ -वेषार्थ-धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं–इसका समाधान यह है कि–

**वस्तु-निर्देश-मात्रेण श्रोतृणां काव्यवद् रस** :–नाट्य-गत रस, रसना का विषय नहीं है, पानक की तरह रसना द्वारा आस्वाद्य नही है। काव्य के श्रवण से जिस तरह श्रोता को शब्द द्वारा रसास्वाद होता है, उसी तरह, नाट्य में हस्तादि के अभिनय द्वारा अवतारित पल्लवादि के–अवलोकन से नेत्रों द्वारा मानस आस्वाद अवश्य होता है, किंतु, शृंगारार्थ श्रीकर्ण के ऊपर स्थापित पल्लव द्वारा यहां जिस रसमय-फल का बोध कराना अभीष्ट है, उस रसमय-फल का बोध हस्तादि के अभिनय द्वारा अवतारित पल्लव द्वारा नहीं कराया जा सकता। रसमय-फल का बोध तो साक्षात् स्वरूप में ही स्थापित किये गये पल्लव द्वारा ही संभव है, हस्तादि के अभिनय मात्र से निर्दिष्ट-पल्लव द्वारा नहीं–'न तु तदभिव्यंग्यस्यार्थस्य बोधनम्'। अतः रस-पूर्ण फल के अवबोधार्थ ही यहां, प्रथम ही प्रथम पल्लव-स्थापना का उल्लेख ही उचित माना गया–अर्थात् कोमल नूतन रसमय आम्र-कूंपलों के प्रथम दर्शन से, भावी रसमय फल की उपलब्धि सुनिश्चित है, और उसी रसमय-फल का अवबोध, यहां, पुष्प-माला द्वारा कराया गया है। इस प्रकार के अवबोध से, गोपांगनाओं में, मानसिक आस्वाद की जो सिद्धि हुई वह सहज है। आम्र-पल्लव के दर्शन से, यदि इस प्रकार के मानसिक आस्वाद की अर्थात् रस की निष्पत्ति होती है, तो फिर, आम्र-पल्लव में भी रस की प्रतिष्ठा असंभव नहीं कही जा सकती, क्योंकि, रसयुक्त वस्तु से ही रस की निष्पत्ति होती है, नीरस-वस्तु कदापि रसोत्पादक नहीं मानी गयी। अतः यह कथन की आम्र-फल में ही रस है, आम्र-पल्लव में नहीं, असंगत है। आम्रपल्लव में भी यहां रस की प्रतिष्ठा जो कही गयी, वह कोई

अनोखी बात नही, युक्तियुक्त है। अतः शृंगारार्थ कर्णोपरि पल्लव-धारण का निरूपण उचित है। कहने का तात्पर्य यह है कि हस्ताभिनय द्वारा, पल्लव का, मात्र, मानस-बोध ही कराया जा सकता है, किंतु, इस प्रकार से अभिनीत पल्लव द्वारा, यह अवबोध नहीं कराया जा सकता कि इस पल्लव का समापन-परिणति-अन्त में रसपूर्ण-रसवत्-फल में ही होगी, रसवत्-फल में परिणति का बोध तो रस-स्वरूप में साक्षात् पल्लव की स्थापना द्वारा ही कराया जा सकता है। अतः, रसवत्फल-पर्यवसायित्व का बोध कराने के लिये ही, स्वरूप में ही पल्लव की स्थापना की गयी है।

यहां, यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि रसात्मक-भगवान् अभिनय आदि के द्वारा, जब किसी भी अनुग्रहीत जीव में, अपने स्वरूपात्मक-रस की ही स्थापना एक बार कर देते हैं, तब, यह स्वरूपात्मक-रस, वहां उसके हृदय में से कदापि नही हटता, वह वहां ही सदा के लिये स्थिर हो जाता है; इतना ही नहीं, यह स्वरूपात्मक--रस बीज रूप होनेके कारण, अन्त में फल-प्रदान करता ही है, और, रसात्मक-वस्तु का यही स्वभाव है। तदुपरांत, रस-शास्त्रोक्त-प्रणाली से, इस तरह रस को प्राप्त सर्वात्मभाव-संपन्न भगवदीयों को, अग्रिम-भावी-फल की (रास-लीला संबंधी संयोग-रस की) निःसंदिग्ध प्राप्ति होगी, इसी का बोध कराने के लिये, रसात्मक-स्वरूप में प्रथम, पल्लव की स्थापना का कथन किया गया है। तात्पर्य यह है कि भगवान् ने अपने रस-स्वरूप में यथाक्रम आम्र-पल्लव, बर्हस्तबक तथा कमल-माला स्थापित की है। इन में, सर्व-प्रथम, पल्लव-स्थापन का ही जो उल्लेख है, उससे यह संकेत किया गया है कि भगवद्-भाव से संपन्न गोपांगनाओं को, जिन में नाट्य-प्रणाली के अनुसार रस निष्पत्ति हो चुकी है, अब अग्रिम-प्रसंग में, रस-मय फल की प्राप्ति निःसंदेह होने ही वाली है।

यहां यह शंका होती है कि, यह सब कुछ जैसा कहा गया वह भले वैसा ही हो, तथापि, यह एक नियम है कि अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से अथवा दर्शनादि से आत्मा प्रमुदित हो उठती है, रसशास्त्र में इसे 'प्रमोदात्मा' कहते हैं, यही स्थायी-भाव है। यह भाव प्राणि-मात्र म वासना रूप से सूक्ष्मतया व्याप्त रहता है। रस, नव-प्रकार के हैं, प्रत्येक रस का अपना अपना स्थायीभाव होता है। जिस जिस रस का जो जो स्थायी-भाव है, वह अपने अपने रस के अनुकूल हेतुओं को लेकर, वृद्धिगत होता हुआ, उस उस रसरूप में अभिव्यक्त होता है, जिस जिस रस का वह स्थायी-भाव है। जैसे शृंगार-रस का स्थायी-भाव रति है। यह रति-रूप स्थायी भाव ही, शृंगार-रस के अनुकूल, देश, काल, कला, वेश, भोगादि के

उपसेवन आदि हेतुओं से उपचीयमान होता हुआ, शृंगार रस में अभिव्यक्त होता है। इस तरह, विभाव, अनुभाव, तथा संचारीभाव से अभिव्यक्त स्थायी भाव ही रस कहलाता है; यह रस अपनी उत्पत्ति-क्रम से अनुसार, एक आन्तर-मनोविकार मात्र ही है, और, मनोविकार-मात्र होने के कारण, यह रस अनेक रूप तथा अनित्य ही माना जाता है। किंतु, भगवान् न तो मनोविकार हैं, न अनेक रूप हैं और, न अनित्य ही; भगवान् तो अविकृत, एक तथा नित्य-कालातीत हैं, तथापि, इससे पूर्व 'अक्षण्वतां' श्लोक में, इनका 'वर वत्' रूप से, तथा प्रस्तुत श्लोक में 'नट वत्' रूप से इनका निरूपण किया गया है—नायक तथा अभिनेता कहे गये हैं। तदुपरांत, प्रस्तुत श्लोक की कारिकाओं में भी, 'नट' के दृष्टांत द्वारा, इनके 'अभिनेतृत्व' का ही प्रतिपादन किया है। इस तरह, भगवान् का आलंबनत्व तथा अभिनेतृत्व ही यहां स्पष्ट किया गया है; उनका सर्व रसत्व नहीं, अर्थात्, भगवान् रस के आलंबन-मात्र, रस का मात्र अभिनय करने वाले, एक 'नट' ही हैं, सर्व-रस नहीं, यहां यही निरूपित किया गया है; अर्थात् इस तरह, नायक (वर) रूप में तथा नट रूप में भगवान् का आलंबनत्व तथा अभिनेतृत्व ही सिद्ध होता है, उनका सर्व रसत्व सिद्ध नहीं होता। तदनुसार, प्रस्तुत श्लोक में, विप्रयोगात्मक केवल-रस-रूप के निरूपण की जो प्रतिज्ञा की गयी है, उसकी पूर्ति किस तरह हुयी ? वह अपूर्ण ही रह जाती है। इस शंका समाधान—'शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात्'—इस कारिका द्वारा किया गया है—तात्पर्य यह है कि श्रुति ने, भगवान् को, 'रसो वै सः' अपने इस कथनानुसार 'रस' माना है। तदुपरांत, इसी श्रुति ने, 'असद्वा इदमग्र आसीत्'—अपने इस मंत्र के अनुसार यह भी प्रतिपादित किया है कि यह दृश्य-जगत्, अदृश्य अवस्था में, इस आनंद-स्वरूप में ही एकाकार था—इस श्रुति द्वारा 'सर्वोपादान-रूप ब्रह्म का रसत्व सिद्ध हो जाता है—अर्थात् 'यह ब्रह्म ही रस है' श्रुति का यही मत है। यहां 'रस' शब्द, शास्त्र तथा लोक दृष्टि से भी, रसना से ग्रहण किये जाने वाले गुण-विशेष में, द्रव-द्रव्य में, सारभूत अर्थ में तथा आस्वादनीय एवं आनन्द-जनक पदार्थों में, इस तरह, विभिन्न अर्थ तथा अभिप्राय में, जहां जहां इसका प्रयोग किया जाता है, वहां वहां, प्रसिद्ध है। प्रस्तुत-प्रसंग में यह रस-शब्द, अपने उपर्युक्त किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है ? रस शब्द के इन अर्थों में से कौनसा अर्थ यहां अभिप्रेत है ? यह जान लेना आवश्यक है।

'रस' का यहां श्रुति-सम्मत अर्थ ही ग्रहण करने योग्य है—"रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति—कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्; एष ह्येवानन्दयति"—श्रुति के इन कथनों का यह अभिप्राय है कि 'इस रस को प्राप्त करके

जीवात्मा निःसंदेह आनन्दित होता है। ऐसा कौनसा प्राणी है जो इस रस के विना, इस रस से अतिरिक्त, किसी अन्य पदार्थ से प्राणधारण कर सका हो—अनुप्राणित हो ? यदि हृदय रूपी आकाश में, यह सर्व व्यापक आनन्द-रस नहीं होता, तो फिर जीव-मात्र किस प्रयोजन को लेकर प्राणधारण करता ? यह रस ही प्राणी मात्र को आनन्दित करता है"। श्रुति के इन अवतरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि यह 'रस', 'आनन्द-रूप' है। प्राणधारण कराने में प्रयोजक है। अर्थात् जिस 'प्रयोजन' को लेकर जीव, प्राण-धारण करता है, वह 'प्रयोजन' ही, यह रस है। यह 'रस' जीव मात्र के हृदयाकाश में प्रतिष्ठित है, तथा यह रस ही उसको आनन्दित करता है। अर्थात्, श्रुति यह प्रतिपादित करती है कि 'प्राणियों के हृदय में स्थित, आनन्द-जनक जो आनन्द है, वही 'रस' है और यही रस उसे जनुप्राणित करता है, आनन्दित करता है।

इस 'रस' से किंवा आनन्द से उत्पन्न होने वाले रसरूप कार्य की अर्थात् आनन्द रूप कार्य की अनुभूति उन उन अवयवों में होती है जिन जिन (नेत्रादि) अवयवों में यह उत्पन्न होता है—इस तरह, यद्यपि आनन्द सर्वशरीर-व्यापी है, तथापि, सर्वांग में व्याप्त इस आनन्द की स्थिति को, उपर्युक्त श्रुतियों ने, विशेषतया 'मन' में ही निर्णीत की है। अन्य श्रुतियों का भी यही अभिप्राय है कि यह आनन्द 'मानसीन' है, मन में ही रहता है- 'स मानसीन-आत्मा जनानाम्'—प्राणियों की आत्मा-रूप यह आनन्द मन में ही स्थिति-आसीन है। इस निर्णय के अनुसार यदि रस-कार्यरूप आनन्द की स्थिति विशेषतया मन में ही है तो फिर, रसशास्त्रोक्त प्रणाली से उदीयमान जो प्रमोदात्मा-मनोविकार है, वह रसात्मा भगवान् का ही कार्य रूप है और यही श्रुति का निश्चयात्मक मन्तव्य है—'एष ह्येवानन्दयति'—एषः हि एवः 'यह रसात्मा भगवान् ही (एव) प्राणी-मात्र को आनन्दित करता है'—इस मंत्र में 'ही'—एव—शब्द द्वारा, श्रुति ने अपने निर्णय की 'सावधारणता' का—निश्चयात्मकता का—निर्देश किया है। इस तरह यह प्रमोदात्मा, रसात्मक भगवान् का कार्य-रूप तो है ही, अंशभूत भी है—अर्थात् जीव-मात्र के मन में उत्पन्न होने वाला यह 'मानसीन आनन्द' उसी रसात्मा भगवान् का, जिसे श्रुति ने 'रसो वै सः' कहा है अंश-भूत है, मात्रारूप है—'तस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' अन्य समग्र-प्राणी, इसी रसात्मा भगवान् की अर्थात् आनन्द की मात्रा-मात्र से, उसके स्वल्प, सूक्ष्माति सूक्ष्म अंश से ही जीवित हैं, इसी रसात्मा के उपजीवी हैं। कारण-रूप रसात्मा भगवान् के अर्थात् कारण-रूप आनन्द के, कार्यरूप आनंदांश से ही प्राणियों में रस की किंवा आनन्द की प्रतीति अथवा उसका अनुभव होता है।

तात्पर्य यह है कि उत्कटता को प्राप्त–प्रकृष्यमाण–इसी रस में–रसात्मक-भगवान् में लोक को रसत्व की प्रतीति होती है–'प्रकृष्यमाणे तस्मिन् (रसात्मनि भगवति) रसत्व-प्रतीति र्लोकानाम्'। वस्तुतः भगवान् ही रस है 'रसो वै सः'–सर्वत्र ब्रह्मादि देवताओं में तथा प्राणियों में जो आनन्द-प्रतिष्ठित है वह इसी रस का अंश मात्र है। सर्वत्र ब्रह्मादि से लेकर एक चींटी पर्यंत यही रस, अंश-मात्रारूप से विभक्त है, अर्थात्, अन्य सभी देहधारी, रसात्मा भगवान् के अनंदांश-मात्र के ही भोक्ता हैं। सृष्टि का आदि-बीज उसका उत्पादक, यह रसात्मा भगवान् ही है–तदनुसार, 'पुरुष' पद का सार्थक प्रयोग इसी रसात्मक भगवान् में ही होता है, अन्य सभी भगवान् के अंश होने के कारण, गौणरूप से ही पुरुष-पद के वाची है, भगवान् के ही विभक्त अंश होने के कारण पुरुष कहे जाते हैं–भगवद्-अंश की ही, उनके हृदय-प्रदेश में प्रतिष्ठा के कारण, अन्य देहधारी 'पुरुष' कहलाते हैं–'पुरि-देहे शेते इति पुरुषः'– तदनुसार, ब्रह्मादि में पुरुष पद का प्रयोग गौण ही है। इसी तरह रस भी लोक में– विभक्त–बँटा हुआ है, अर्थात् लोक में पूर्ण-रस नहीं है।"

यहां यह शंका होती है कि यदि यही स्थिति है तो, सभी जीवों में रसात्मा भगवान् का अंश स्थित है, तदनुसार, सभी जीव आनन्द-मात्र, रस-रूप हैं–ऐसा ही मानना पड़ेगा; यदि आनन्द-मात्र रस है, तो फिर, शास्त्रोक्त प्रणालि-द्वारा रसोत्पत्ति करने में ही कौन सी विशेषता है? यहां ऐसी शंका असंगत है–क्योंकि रस का स्वरूप ही ऐसा है कि उसकी अभिव्यक्ति शास्त्रोक्त-रीति से ही संपाद्य है; शास्त्रोक्त प्रणाली से ही रसोत्पत्ति होती है। इस कथन की सिद्धि में प्रमाण का अभाव नही है। तथा, इससे पूर्व, श्रुति वाक्य भी प्रमाण-रूप से उद्धृत किये जा चुके हैं। शास्त्र-पद्धति से ही लौकिक-रस की निष्पत्ति होती है, और, जब, यही प्रमाण-सिद्ध-नियम है, तब, प्रस्तुत नट के दृष्टांत से, अलौकिक-रस की निष्पत्ति में भी, इसी रीति का–प्रकार का–अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि कार्य में, कारण की तथा उसके धर्मों की अभिव्यक्ति होती है, और, यही सिद्धांत है। तदनुसार, कारणरूप रसात्मक-ब्रह्म के (धर्मी-रस रूप ब्रह्म के) धर्म ही, उस के कार्य-रूप आनन्द में आविर्भूत होने चाहिये, इस में शंका ही कैसी? तदनुसार, जीव के हृदय में उदित होनेवाला रस, ब्रह्म का ही कार्य-रूप रस है, अतः यह रस, ब्रह्मरूप है; और, जब, रस, ब्रह्मरूप है, तो हृदय में अभिव्यक्त होने वाला रस भी नित्य है, क्योंकि, रस-रूप ब्रह्म नित्य है–और जब, रसरूप ब्रह्म नित्य है, तब, रस, मनोविकार भी नहीं है। ब्रह्म अविकृत तथा नित्य है। इस तरह, 'रस अनित्य एवं मनोविकार मात्र ही है'–ये जो शंकायें की गयीं थीं, वह इस विवेचन से निवृत्त

हो जाती हैं। हृदय में आविर्भूत होने वाला रस न तो मनोविकार है, और न अनित्य है। रस-ब्रह्म का कार्यरूप होने के कारण, यह रस उतना ही नित्य एवं अविकृत है, जितना कारणरूप रसात्मक ब्रह्म। इस रस की अनेक-रूपता के विषय में जो शंका की गयी वह भी सदोष नहीं है—क्योंकि, रस में जो अनेक रूपता है वह शास्त्र-प्रणाली-कृत ही है। रस-ब्रह्म के अनेक रूप से प्रकट होने में दोष नहीं है। रस-ब्रह्म के अनेक रूप में अभिव्यक्त-प्रकट होने से, उसके अर्थात्, रस-ब्रह्म के वास्तविक रसरूपत्व में कोई क्षिति नहीं आती-कोई बाध नहीं, क्योंकि, स्वयंश्रुति ने वास्तवकि-रस-ब्रह्म को ही 'अनन्तरूपम्'-अनेक रूप कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि रसात्मक-परब्रह्म ही, रस-शास्त्रोक्त प्रणालि द्वारा, हृदय में अविकल रूप से प्रकट होते हैं। इस प्रकार से हृदय में आविर्भूत होनेवाला रस, रसात्मा परब्रह्म ही है। हृदय में आविर्भूत इस रस में, चिदंश गौण ही रहता है—अर्थात् हृदय में, यद्यपि यह 'रस' संपूर्णतया अविकल रूप से ही प्रकट होता है, तथापि, उस में यत्किंचित् चिद्-अंश की स्थिति रहती है, किंतु गौणरूप से—केवल 'आनन्द' की अनुभूति कराने जितनी। और, इसीलिये, परब्रह्म श्रीकृष्ण को सदानन्द कहा है—अर्थात् उसमें प्रधानतया आनंदांश ही है—चिदंश नहींवत् है।

**श्रीकृष्ण 'सदानन्द' है-'सतानन्द' नहीं** :—इस संदर्भ में, यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि कृष्ण का अर्थ 'सत्तानन्द' है, 'सदानन्द' नहीं। क्योंकि, कृष्ण पद में, 'कृषि' शब्द भू-वाचक है और, भू का अर्थ है सत्ता 'भू सत्तायाम्' तथा 'ण' का अर्थ आनन्द (णश्च निवृति वाचकः) है ही, तदनुसार, कृष्ण का अर्थ 'सत्तानन्द' ही किया जाना चाहिये, 'सदानन्द' अर्थ युक्ति सिद्ध नही—अर्थात् कृष्ण में 'आनन्द' की सत्ता है—वह अखंड आनन्द रूप नहीं है। इस का उत्तर यह है कि 'सत्ता' आत्मरूपा है, धर्म-रूपा नहीं, सत्ता, कोई धर्म नहीं है। तदनुसार, 'कृषिर्भूवाचकः' इस श्रुति में, धर्मरूप सत्ता का निरूपण नहीं है, अपितु, धर्मी-सदानन्द कृष्ण का प्रतिपादन है—अर्थात् यहां धर्मरूपा सत्ता का नहीं किंतु धर्मी-रस-स्वरूप सत्ता का कथन किया गया है, जो नित्य है, सदा है। यहां तो धर्मी-रस-स्वरूप, सच्चिदानंद की आत्मरूपा-सत्ता है, और, इसीलिये, इस रस-ब्रह्म में चिदश भी गौण ही है केवल 'आनन्द-रूपता' ही है। अतः कृष्ण पद का अर्थ 'सदानन्द' ही है, तथा व्याकरण-मतानुसार 'स्वतंत्रकर्ता' तथा 'उभय प्राप्तौ-कर्मणि'—इन सूत्रों के आधार से कृष्ण-पद का अर्थ 'सदानन्द' ही किया जाना चाहिये। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि रस-धर्मी-परब्रह्म के सदानन्द होने के कारण, रस-शास्त्रोक्त-प्रणालि से हृदय में आविर्भूत होनेवाला 'रस' भी और कोई नहीं, साक्षात् रस-धर्मी परब्रह्म सदानन्दरूप ही है।

कृष्ण-पद का अर्थ भले ही सदानन्द हो, तथापि, श्रुति ने परब्रह्म श्रीकृष्ण को ही रस-रूप कहा हैं, 'रस' को परब्रह्म श्रीकृष्ण-रूप नहीं कहा—और, रस का आविर्भाव हृदय में ही होता है, बाहर नहीं। एसी स्थिति में बाहर आविर्भूत भगवान् कदापि रस-रूप नहीं मानें जायेंगे, उसमें रसत्व का अभाव ही कहा जायेगा, क्योंकि, संयोग-शृंगार में प्रभु का प्राकटच बाहर, सामग्रीसहित, होता है, रस के धर्मों सहित आविर्भाव होता है, और यहां तो प्रतिज्ञा करने में आयी है केवल रसरूप के निरूपण की—केवल धर्मी-रस-रूप श्रीकृष्ण के प्रतिपादन की, तदनुसार, यह प्रतिज्ञा अपूर्ण ही मानी जायेगी। इस प्रतिज्ञा की पूर्ति में यह वक्तव्य है कि परब्रह्म रस-रूप ही है, और इसीलिये उसका प्राकटच हृदय में ही होता है। जहां जहां ब्रह्म के रसत्व का निरूपण किया गया है, वहां वहां भगवान् बहिः प्रकट नहीं है, किंतु, हृदय में ही उनके प्रकटन का प्रतिपादन हुआ है। 'वर्हापीड'—श्लोक पर अपनें 'स्वतंत्र' लेख में, श्रीमत्प्रभुचरण ने हृदय में ही आविर्भूत भगवान् को रस-रूप कहा है। प्रस्तुत श्लोक में, जिस रसात्मक स्वरूप के रसत्व का निरूपण किया गया है, वह रसात्मक स्वरूप, बहिःप्रकट नहीं है, अपितु, गोपांगनाओं के हृदय में ही प्रादुर्भूत हैं; और, इस तरह, हृदय में ही प्रादुर्भूत होने के कारण,भगवान् के रसत्व का ही, धर्मी-रस-रूप भगवान् का ही अर्थात् 'केवल-रस-स्वरूप' का ही यहाँ प्रतिपादन किया गया है। और जब कभी भगवान बाहर प्रकट होते हैं, तब भी, वहां, उनका यह बहिः-प्रकटन, आसक्ति-भ्रम न्याय से ही माना जाता है, यथार्थ में नहीं, उस समय भी, 'रसो वै सः' भगवान् तो वस्तुतः मन में ही प्रकट है—'मानसीन' ही हैं। अर्थात् रसात्मक-प्रभु का बहिः प्राकटच, आसक्ति-भ्रम-न्याय से, हृदयस्थित प्रभु का ही बहिःप्राकटच है। भगवान् में अपनी निरतिशय आसक्ति से, गोपांगनाऐं इतनी भ्रांत हो गयी है कि उनको यह पता ही नहीं कि भगवान् उनके हृदय में स्थित हैं, अथवा उनके समक्ष बाहर; यहां वस्तुतः भगवान् गोपांगनाओं के हृदय में ही आविर्भूत हैं, तथापि, आसक्ति-भ्रम-न्याय से वे यही समझती रहीं कि भगवान् बाहर प्रकट हैं। गोपांगनायें अपनी इस आसक्ति के कारण यह भी तो नहीं जानती कि वे घर में ही बैठी हैं या वृंदावन में, या घर से बाहर !!! आसक्ति की परमोत्कट अवस्था में, भगवत्-कृत वृंदारण्य की लीलाओं का साक्षात्कार किये विना ही, मानों साक्षात्कार कर रही हों, इस तरह से गोपीजन रसात्मक स्वरूप का अनुभव कर रही हैं। आसक्ति-भ्रम-न्याय से, भगवत् स्वरूप के बहिःप्राकटच काल में भी, गोपांगनाओं के मन में तो स्वरूप आविर्भूत ही है, उपस्थित ही है। इसीलिये, 'स मानसीन आत्मा जनानाम्'-'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियों के मतानुसार, गोपांगनाओं की बुद्धि-इन्द्रिय आदि में, धर्मी-रस-स्वरूप

भगवान् के प्रादुर्भूत होने से ही, आसक्ति-भ्रम-न्याय से, प्रभु का बहिःप्राकट्य है। इस तरह केवल रस-रूप निरूपण की जो प्रतिज्ञा है, उसकी पूर्ति हो जाती है।

यहां, यह शंका होती है कि ऐसी स्थिति में तो, बुद्धि की वृत्ति विशेष रूप होने के कारण, वह, भगवान् ही नहीं हैं। भगवान् कदापि बुद्धि-वृत्ति से ग्राह्य नहीं माने गये। बुद्धि-वृत्ति से ग्राह्य भगवान्, भगवान् नहीं कहे जा सकते। इस शंका के समाधान में यह कथन है कि काल से क्षुब्ध सत्वादि गुणों से आच्छन्न-बुद्धि की अवस्था विशेष को वृत्ति कहते हैं–तथा भिन्नार्थ की प्रतिपादक बुद्धि की वृत्ति-विशेष 'ख्याति' कहलाती है और यही बुद्धि का विपर्यास है। 'रज्जु में सर्प के ज्ञान को बुद्धि का विपर्यास ही कहेंगे'। तदनुसार, पूर्व में अनुभव किये गये पदार्थ का, संस्कार की प्रबलता से, जब, उद्बोधन होता है, तब, पूर्वानुभूत पदार्थ के अभाव में भी उससे विरहादि की दशा में–उसी पदार्थ के आकार-वाली बुद्धि-वृत्ति का माया द्वारा बाहर निर्गमन होता है, और यही बुद्धि-वृत्ति, पुरोवर्ती पदार्थ के अमुक अंश को, अथवा सर्वांश को आच्छादित कर के स्वयं ही, बाहर तद्रूप से प्रतिभासित होने लगती है–यही ख्याति की प्रक्रिया है; ख्याति का अर्थ है बुद्धि का विपर्यास, अतः [1] ख्याति का कार्य असत्य माना गया है। यद्यपि 'ख्याति' का स्वीकार किया गया है, किंतु, प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा नहीं है। बुद्धि से ग्राह्य घटपटादि पदार्थ देश तथा काल से परिच्छिन्न-सीमित होते हैं, किंतु, धर्मी-रस-स्वरूप भगवान् ऐसे नही है। यहां ग्राह्य-पदार्थ जो स्वयं रस-रूप भगवान् ही है, देश तथा काल से अपरिच्छिन्न है, निःसीम है-सर्वत्र हैं, किंतु, अनन्य भक्ति से ही लभ्य-ग्राह्य हैं, अनन्य-भक्ति द्वारा ही प्राप्य हैं। बुद्धि-वृत्ति से कदापि ग्राह्य नहीं। जिसकी जैसी भक्ति, उसके हृदय में, रसात्मक भगवान् की वैसी ही अभिव्यक्ति। यह भक्ति, मनो-धर्मरूपा है। मनोधर्मरूपा भक्ति से, मन में ही अभिव्यक्त होने के कारण, बहिः आविर्भूत होते हुये भी भगवान्, वस्तुतः मानसीन ही हैं, मन में ही प्रकट हैं। अतः मानसीन होने के कारण, भगवान् बुद्धि-वृत्ति से ग्राह्य नही है–'मानसीनत्वेन वृत्तित्वाभावात्'। मायावादी, दो प्रकार के 'चैतन्य' मानते हैं, एक विषय से अवच्छिन्न चैतन्य जो निर्विकल्पक-ज्ञान का हेतु है, दूसरा, अन्तःकरणावच्छिन्न अर्थात् बुद्धि-वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य जो सविकल्पक-ज्ञान का हेतु है। इस तरह, विषयावच्छिन्न चैतन्य से, बुद्धि-वृत्ति–अवच्छिन्न चैतन्य को, भिन्न मानने वाले मायावादी, यद्यपि, बहिः स्थित घट-पटादि पदार्थों को वृत्ति से अव-च्छिन्न-आच्छादित मानते हैं, तथापि, वहां पदार्थ में, वृत्तित्व का तो अभाव ही

---

१ ख्याति का संक्षिप्त-विवेचन इस ग्रंथ के 'परिशिष्ट' में दिया गया है।

स्वीकारते हैं। इसी तरह यहां बहि:स्थित रसात्मक भगवान् में भी वृत्तित्व का अभाव ही मानना चाहिये और यही उचित है।

रसात्मक-स्वरूप में वृत्ति का अभाव भले ही हो, तथापि, "प्रस्तुत प्रसंग में, भगवान् को शृंगार-रसात्मक कहा है, किंतु शृंगार रस की अभिव्यक्ति, अन्योन्य में अनुरक्त स्त्री-पुरुष रूप आलंबन-द्वय पर ही निर्भर है, अत: यहां पर भी परस्पर में अभिलाषा–अनुराग–वाले–साकांक्ष-स्त्री पुरुष रूप आलंबन-द्वय होने चाहिये, किंतु, यहां तो एक 'पुरुषोत्तम' ही, विषयालंबन ही है, आश्रयालंबन का अभाव है, अत: उनके रसत्व में, शृंगार-रस में, विरोध आ जाता है। एक ही आलंबन से रस की निष्पत्ति नहीं होती। अर्थात् यहां तो एकमात्र रसावलंबन श्रीपुरुषोत्तम ही हैं, अत: उनके रसत्व में, उनकी शृंगार-रसात्मकता में विरोध तथा एकालंबनत्व से रसाभास का प्रसंग-उपस्थित होता है–" यहां इस प्रकार की शंका निरर्थक है, क्योंकि, 'कामिनां दर्शयन् दैन्यम्' इस श्लोक की श्रीमती टिप्पणी में, श्रीमत्प्रभुचरण ने जिस तरह प्रतिपादित किया है, उसके अनुसार, श्रृंगार-रसात्मक प्रभु में, आलंबन-द्वय की-स्त्री-पुरुष ('आश्रय-विषय')–इन दोनों ही आलंबनों की विद्यमानता है–अर्थात् रसात्मक प्रभु–स्त्रीपुरुषात्मक उभयालंबन स्वरूप हैं। भगवान् रस-रूप भी हैं, रसवान् भी हैं। रस, स्वयं रसरूप भी है, रसवान् भी है–इस में कोई विरोध नहीं। क्योंकि, जैसा प्रतिपादित किया जा चुका है, भगवान्, सदानन्द हैं, अत: भगवान् में 'स्वप्रतिष्ठत्व" अर्थात् प्रियालंबन-रूप भाव की–(अर्थात् आश्रयालंबन रूपता)–स्थिति, श्रुति सिद्ध अतएव सर्व सम्मत है। 'स्वप्रतिष्ठत्व' में 'स्व' का अर्थ है 'भगवान् में' स्वस्मिन् भगवति–'प्रतिष्ठत्व' का अर्थ है 'प्रियारूप आलंबनत्व की विद्यमानता'–अर्थात् भगवान् में 'प्रियरूप आलंबन-भाव' प्रतिष्ठित है। जिस तरह, कोई प्राणि, काम से युक्त होने के कारण 'कामवान्' कहा जाता है, किंतु, 'काम' स्वयं में 'कामरूप' भी है, 'कामवान्' भी; अथवा, जिस तरह, कोई 'फल' रसयुक्त होने से 'रसवान्' कहलाता है,–किंतु, रस स्वयं रसरूप भी है, रसवान् भी है–यही उक्ति, भगवान् में भी सुंदररूप से यथावत् घटित होती है, अत: विरोध-दोष का यहां प्रसंग ही नहीं–'यथान्येषां कामेन कामवत्त्वं, कामस्य तु स्वत एव; तथान्येषां रसेन रसवत्त्वं, रसस्य तु स्वत:, इत्यस्यापि सुवचत्वाच्च, तदप्रसंगत्वात्'। इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि बहि: आविर्भूत होते हुये भी, 'रसवान्' होते हुये भी, भगवान् के रसत्व में, उनकी रसरूपता में कोई विरोध है ही नहीं।

**शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका भवेत्**:–इस प्रकार शास्त्र तथा श्रुति के परिशीलन से, उनके अर्थ का संपूर्ण ज्ञान हो जाने पर तथा विचार-पूर्वक

दृढ-निश्चय-निष्ठा के उदय होने पर, साधक भक्त का प्रेमभाव, स्थायिभावात्मक 'कलिका' में अर्थात् आसक्ति-भाव में परिणत हो जाता है। साधक-भक्त में, भगवद्-अनुग्रहात्मक बीजांकुर का–परिस्फुटन तो पूर्व से ही संपन्न हो चुका होता है; अतः प्रेम-भाव, कलिकारूप आसक्ति को प्राप्त होता है। कलिकारूप आसक्ति ही, यहां स्थायीभाव है। तदनन्तर, संचारि आदि भावों से परिपुष्ट होते हुये, इस आसक्ति रूप स्थायी-भाव की एक मनोमुग्धकारी विचित्र-दशा में परिणति होती है, यह दशा व्यसनावस्था कहलाती है। यहां, पुष्पस्थानीया 'कमल-माला' ही व्यसन-भाव की सूचक है–यहां, 'पुष्प-स्थान-माला' का कथन 'विचित्रवेषौ'–पद से किया गया है। कलिका की पुष्प में परिणति ही उसकी मनोरम-विलक्षणता-विचित्रता है। पुष्पो-द्गम में ही व्यसन-भाव, निहित है। पुष्प में सुवास है–यह सुवास ही वासना-व्यसन है। पुष्प-स्थानीया माला रूप व्यसन-भाव के प्रकट होने पर, भक्त में अहोरात्र, निरंतर, प्रभु-सह रति प्रसंग के विविध मनोरथ-भावना-आदि उत्पन्न होने लगते हैं। यही 'वासना' है। और, यह वासना, लोक में सर्वत्र प्रकट होने लगती है-फैलती है; वासना की यह लोक-प्रसिद्धि, रसत्व की विघातक है अतः इसके संगोपनार्थ-आच्छा-दनार्थ-इस को गुप्त ही रखने के लिये यहां, पीतांबर से आच्छादन का निरूपण किया गया है, कनक-कपिश-पीतांबर, यहां मायारूप है, इस 'रस' की तथा 'रसधर्मो' की आच्छादिका यह पीतांबर रूप माया ही है। इसी तरह, वेषात्मक-आहार्य अभिनय द्वारा रसोत्पत्ति करने के लिये, आम्र-पल्लवादि वस्तुओं का निरूपण किया गया है। आम्र-पल्लवादि से लेकर पीतांबर पर्यंत वस्तुओं का निरूपण, गोपांगनाओं में, शास्त्र-रीति से रसोत्पत्ति के लिये ही हुआ है–रसोत्पत्ति के लिये ही, इस इतने शृंगार-परिकर का प्रतिपादन किया गया है, 'रसोत्पत्यर्थमेतावत्-निरूपितमितिस्थितिः' अन्यथा, ऐसे प्रयोजन के अभाव में शृंगारादि परिकर का निरूपण तो दूर रहा, उसका यहां स्मरण ही नहीं किया जाता।

यहां तक, यह जो इतना निरूपित किया, वह साधक-भक्त को, शास्त्रोक्त-रीति से रसोत्पत्ति-प्रकार के उपदेशार्थ, किया गया है, रसोत्पत्ति, रसशास्त्रोक्त-प्रणाली द्वारा ही संभव है और यही मर्यादा है–'इतिस्थितिः'। शास्त्र की मर्यादा रखने के लिये ही, भगवान् ने रसोत्पत्ति के लिये इसी प्रणाली को अपनाया, अन्यथा सर्वसमर्थ होने के कारण, इस प्रकार की शास्त्र-प्रणालि के विना भी, भगवान् रसोत्पत्ति कर सकते थे। प्रस्तुत-श्लोक के पूर्वार्ध द्वारा, रसोत्पत्ति के प्रकार का उपदेश दिया गया है–'प्रथम ही प्रथम, प्रेम-भाव अंकुरित होता है, फिर आसक्तिरूप कलिका का उद्गम होता है, फिर, यही आसक्ति रूप कलिका, व्यसनभाव रूप पुष्प में विकसित

होती है और, यही वैचित्र्य है, और इन अवस्थाओं का निर्देश यथाक्रम–आम्र-पल्लव, बर्ह-स्तबक तथा कमल-माला द्वारा किया गया है–और इसी लिये यह वेष, विचित्र-विलक्षण कहा गया है। इस प्रकार के उपदेशानन्तर जब रसोत्पत्ति की साधना-पूर्ण होती है, तब, साधक-भक्त, रस की सिद्ध दशा को प्राप्त होता है। ऐसी सिद्ध दशा में जिस प्रकार की फलानुभूति होती है उसका निरूपण, प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्ध से 'मध्ये विरेजतुरलम्' इस द्वितीय पंक्ति द्वारा किया गया है और इसी का स्पष्टीकरण 'आविर्भावे रसास्वादात् नृत्यं शोभा ततो भवेत्' इस कारिका में हुआ है। वास्तव में देखा जाये तो गोपांगनाओं के मन में आविर्भूत यह रसात्मक स्वरूप ही बाहर प्रकट होता है, और, जिस समय यह बाहर आविर्भूत होता है, उस समय अपने रस-धर्मों को–आश्लेष, चुंबन, कटाक्ष आदि भावों को–प्रकट करता है, तदनन्तर, रसास्वाद-सुलभ आनन्दोद्रेक से नृत्य होता है। रसास्वाद से भगवान् नृत्य करते हैं तथा, अपने 'नटवर' नाम को सार्थक करते हैं और फिर जो शोभा होती है उसका वर्णन वाणी से अतीत है। इस तरह, उपर्युक्त रस शास्त्रोक्त प्रणालि से तो रस, अर्थात् रसात्मक-स्वरूप, धर्मी-रस रूप में ही गोपांगनाओं के अन्तर में-मन में-प्रकट होता है। बहिःप्रकट रस, धर्मसहित होने के कारण, तथा अन्तर-रस का उद्बोधक होने के कारण, अंतर-रस का साधन है–अर्थात् गोपीजन कृत हृदयोद्गार-रूप गुणानुवर्णन ही अन्तर रस के बहिःप्राकट्य में हेतु-साधन है, इसीलिये स्थान भेद से अन्तर में आविर्भूत रस तथा बहिःआविर्भूतरस-यह दोनों अविरुद्ध हैं–एक ही हैं। ८।

**–अष्टम श्लोक संपूर्ण–**

—:०:—

## नवम-श्लोक विवरण :–

**एवं रसं निरूप्य तस्याधिदैविक-रूपता-संपादकं-सुधा सहितं–वेणुनादं निरूपयतिः–** सप्तम तथा अष्टम इन दोनों श्लोकों द्वारा, द्विविध-स्वरूपात्मक रस का निरूपण करके, प्रस्तुत नवम श्लोक द्वारा, इस 'रस' को आधिदैविक रूपता से संपन्न करने-वाले, वेणु के अधर-सुधा संवलित नाद का वर्णन किया जाता है। काम-'रस' लौकिक है, गोपांगनाओं के हृदय में यही काम-'रस' सहजतया आविर्भूत हुआ है। वेणुनाद, सुधा से संवलित है, अतः वेणुनाद के साथ, यह अधर-सुधा गोपांगनाओं के हृदय में प्रविष्ट होकर, उनके सहज-काम 'रस' को भगवदीय 'काम-रस' से संपन्न करती है। गोपांगनाओं में अभी तक जो रस था, वह काम-भाव-रूप ही था, भगवद् अधर-सुधा से संवलित वेणुनाद ने जब उनके हृदय में प्रवेश किया, तब, वेणु-गत-

अधर-सुधा ने, उनके सहज काम-रस को आधिदैविकरूपता से संपन्न कर दिया। जो 'रस' भगवत्-संबंधी होता है, वह 'भगवदीय' कहा जाता है; भगवदीयत्व से युक्त 'रस' ही, आधिदैविक है। वेणुनाद में प्रतिष्ठित अधर-सुधा में ही, आधिदैविक, रूपता का संपादन करने की शक्ति है, नाद में नहीं। जिस तरह 'आसन्य' नामक प्राण, इन्द्रियों के लौकिकत्व को हटाकर, उनमें, दैव-भाव का संपादन करता है, उसी तरह, भगवद्-अधर-सुधा, मनोधर्मरूप काम-भाव को निवृत्त करके, जीव-मात्र में, भगवद्-धर्म रूप काम को जन्म देती है। अतः यहां यह शंका नही करनी चाहिये कि लौकिक धर्मों से अपनी इस तुल्यता के कारण, वेणु नाद में लौकिकत्व है—लौकिकत्व का तो इसमें अभाव ही है। प्रस्तुत श्लोक में 'सुधामपि' इस वाक्य में जो 'अपि' शब्द है, उसका अर्थ यह है कि वेणु, 'नाद-ब्रह्म' का जो उपभोग करता है, वह निर्विवाद है, क्योंकि, 'नाद' ही वेणु का आहार है' यह वेणु नाद का उपभोग तो करता ही है. साथ ही गोपिकाओं की-'गोपीकानाम्'-सुधा का भी 'सुधामपि' भोग करता है। इससे यह सूचित किया गया है कि वेणु को, यह सुधा भोग गौण है, सुधा भोग में तो गोपिकाओं का ही मुख्यत्व है। वेणु का, नाद के भोग में ही मुख्यत्व है, सुधा भोग में गौणत्व, तदनुसार, यहां नाद का ही मुख्यतया निरूपण है, यहां, वेणुनाद का निरूपण ही वाक्यार्थ है और, क्योंकि, वेणु-नाद सुधा सहित होने के कारण 'रस' में आधि—दैविकरूपता का संपादक है, इसीलिये यहां, गोपांगनाओं ने सुधा-सहित वेणु-नाद का वर्णन किया है।

**गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्मवेणु-**
**र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।**
**भुंक्ते स्वयं यदवशिष्ट रसं हृदिन्यो**
**हृष्यत्-त्वचोऽश्रुमुमुचुस्तरवो यथाऽर्याः ॥९॥**

**जड़ जल-बांस को सपूत सखि! वेणु यह, कौन किये याने ऐसे तप अद्भुत हैं।**
**गोपीजन-भोगिवे के जोग अधरान-रस, सोऊ आप पान करै, शेष जे बचत है॥**
**ताहि अँचवत, बड़भागी संत जन जैसे सर तरुवर अंग अंग पुलकत हैं।**
**पंकज-पराग ढरै, पुष्प-मधुधार स्रवै, मानों अनुराग भरे आंसु उमगत हैं॥ ९॥**

**अर्थ :** हे गोपांगनाओ! इस वेणु ने ऐसा कौनसा पुण्य किया है, जो, हम गोपीजन के ही पान करने योग्य, भगवान् श्री दामोदर के अधर-सुधा रस का यह अकेला ही स्वयं भोग कर रहा है। और इस तरह, उसके पान कर लेने के उपरांत बचे हुये सुधा रस को, उसके द्वारा, (उसके माता-पिता रूप) ये नदियां तथा वृक्ष-

गण भी भोग रहे हैं,। इसीलिये तो इन सरोवरों में कमल रूप, तथा तरुवरों में फल फूल रूप रोमांच हो रहा है, और, जिस तरह, भगवद्-रस का पान करके, भगवदीय जन आनंदाश्रु बहाते हैं, उसी तरह, इन सरोवरों तथा तरुवरों से मकरंद रूप तथा मधु-धारा रूप अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है ।। ९ ।।

यहां ब्रजांगनायें–'बर्हापीडं श्लोकोक्त उसी वेणुनाद का वर्णन कर रही है, जिसके छिद्रों में भगवान ने अपनी अधर-सुधा आपूरित की है– 'रंध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन'। यहां 'गोप्यः' इस संबोधन-पद में गूढ-संकेत है। पूर्वकाल में ये गोपियां श्रुतिरूपा थीं। इन श्रुतियों को, भगवान् ने वरदान दिया था कि "सारस्वत-कल्प में, जब, आप लोक, व्रज में, गोपी रूप से अवतार लेंगीं, तब, मैं आप के काम-रस रूप निगूढ मनोरथ को पूर्ण करूँगा –"कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ"। अतः 'गोप्यः–हे गोपियो !' इस संबोधन में, इस पूर्व-रस का, श्रुति-वरदान कालीन काम-रस रूप मनोरथ का गुप्त संकेत किया गया है–'गोप्य इति संबोधनं पूर्वरसाभिज्ञापकम्'। गोपियां कहती हैं कि इस वेणु का, आधिदैविकरूपता की समर्पक अधर सुधा से संबंध है, यह एक निर्विवाद सत्य कथन है। इस वेणु का, निःसंदेह, अधर सुधा से संपर्क है, संबंध है, इस विषय में न तो कुछ विशेष जानने जैसी ही बात है और, न किसी से कुछ कहने जैसी ही। हम सभी, यही तो, प्रत्यक्ष देख रही हैं, हम सभी का अनुभव इसका साक्षी है–'अत्र सर्वानुभवसाक्षित्वात्'–लेख.।

यह सब कुछ होते हुये भी, हम यही मानती है, कि यह वेणु, अधर-सुधा का पान नही कर रहा है। भगवान् ने अपने श्रीमुख पर इसे अवश्य स्थापित किया है, और इसीलिये, दूसरों को यह प्रतीति होना सहज है, कि यह वेणु, अधर-सुधा का मानों पान कर रहा है। किंतु, यह संभावना मात्र ही है। वास्तव में, हम जैसे अन्य स्वजनों में –(प्रभु ने हम को अपना स्वकीय माना ही कब है ?)–वेणु द्वारा सुधा का वितरण करने के लिये ही, प्रभु न इसे अपने अधरों पर स्थापित किया है। अथवा संभव है अपने अन्य स्वजनों में, सरिता-वृक्षआदि में वितरण करने के लिये ही, यह वेणु, सुधा का भोग कर रहा होगा। किंतु, स्वयं के लिये कदापि पान नहीं कर रहा–यह सुनिश्चित है। तथापि, इस वेणु ने ऐसा कौनसा पुण्य कार्य किया है, कि जिसके फलरूप में, प्रभु ने इसे अपने अधरों पर आसन दिया !!! अपने अधरों पर ही बिठा लिया !!! प्रभु ने इसे अपने अधर पर अवश्य स्थापित किया है किंतु, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह सुधा का पान भी कर रहा है, क्योंकि यह वेणु, वस्तुतः पुरुष है। पुरुष का अधर पान, पुरुष के लिये असंभवित है। यदि पुरुष द्वारा पुरुष का अधर पान संभवित मान भी लिया जाये, तो स्वयं भगवान् ही इसका पान क्यों

न कर लेते ? प्रभु की अधर सुधा का पान तो स्त्री देह से ही संभव है, अधर सुधा पान तो स्त्री-भोग्य ही माना जाता है। यह अधर-सुधा तो गोपांगनाओं के ही भोग के योग्य है. यहाँ 'गोपिकानाम्' पद से इसी अभिप्राय का प्रतिपादन किया गया है–अर्थात् भगवद्–अधर–सुधा तो गोपांगनाओ की ही है, और सर्वथा उनके द्वारा ही यह भोग्य भी है।

'भगवद्-अधर-सुधा भोग की एकांत-अधिकारिणी तो लक्ष्मी है, तो फिर, गोपांगनाओं को, अधर-सुधा संबंधिनी क्यों कहा ? गोपांगनाओं को, इस अधर-सुधा से संबंध क्यों कर प्राप्त हुआ ? इस शंका के समाधान में ही यहां 'गोपिकानाम्' इस बहुवचनान्त-पद का प्रयोग किया गया है। 'गोपिकानां' का अर्थ है 'गोपिका-समुदाय'। अर्थात् यहां 'गोपिका-समुदाय' में लक्ष्मीका आवेश है। अर्थात् गोपिका-समुदाय, वस्तुत: लक्ष्मी स्वरूप है गोपिकानाम् पद द्वारा समुदाय-रूपी लक्ष्मी का ही निर्देश किया गया है। यदि यहां 'एक वचनान्त' 'गोपिका' पद का ही प्रयोग किया जाता, तो लक्ष्मी, भगवद् अधर-सुधा संबंधिनी नही मानी जाती; गोप-भार्या को, गोपिका कहते हैं; लक्ष्मी गोपभार्या नहीं है। अत: लक्ष्मी भी अधर-सुधा-संबंधिनी है, यह जताने के लिये ही यहां, 'गोपिकानां' इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग किया गया है–जिस का अर्थ है 'गोपिका-यूथ'। लक्ष्मी से अविष्ट होन के कारण, यहं 'गोपिका-यूथ', लक्ष्मी के अंशों से संपन्न अतएव, साक्षात् लक्ष्मी-रूप है। 'गोपिकानां' पद द्वारा गोपीजन का यह अभिप्राय है कि लक्ष्मी भी हमारे में ही समागत है–लक्ष्मी का, हम गोपीजन में ही अन्तर्भाव है। वस्तुत: गोपिका समुदाय ही लक्ष्मी है। तदनुसार, लक्ष्मी ही अधर-पान की एकांत अधिकारिणी है।

यदि, गोपिका-यूथ में, आवेश रूप से लक्ष्मी, सुधा का भोग करती है, तो सुधा भोग में उसका अधिकार गौण ही कहलायेगा, गोपिकाओं का मुख्य। गोपिकायें ही प्रधान-रूप से सुधा भोग करती हैं, लक्ष्मी जो भोग करती है, वह केवल उन में आवेश रूप से, स्वरूपत: प्रधान रूप से नहीं–अत: यह कथन कि लक्ष्मी ही सुधा भोग की एकमात्र अधिकारिणी है–असंगत है। यहां यह शंका उचित नही है। क्योंकि, गोपिकायें वास्तव में लक्ष्मी की ही अंश-रूप हैं, लक्ष्मी की अंश होने के कारण, अर्थात् लक्ष्मी के संबंध से ही, गोपिकाओं को सुधा से संबंध तथा उसके भोग की योग्यता, प्राप्त हुयी है। गोपिकाओं की इस योग्यता प्राप्ति में, लक्ष्मी ही मूलकारण है– 'तदांशा एतास्तु तथैव हेतुभूतया सुधा संबंधे समागतास्तद्योग्या जाता:' लेख। जिस लक्ष्मी के संबंध मात्र से ऐसा अलभ्य अधिकार मिलता हो तो फिर सुधा भोग में, स्वयं लक्ष्मी के विशिष्ट तथा अनन्य अधिकार का-कैमुतिकी न्याय से-कहना ही क्या ?

तदनुसार, लक्ष्मी के अतिरिक्त, इस सुधा-भोग का अधिकार, लोक में, अन्य किसी को भी प्राप्त नही है—न किसी अन्य स्त्री को है और न किसी अन्य पुरुषों को ही। लक्ष्मी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री अथवा पुरुष ने भगवद्-अधर-सुधा का भोग किया हो, ऐसा लोक में अन्यत्र प्रसिद्ध नही है। अतः, पहिले तो, श्रीपुरुषोत्तम का भोक्ता, पुरुष तो हो ही नहीं सकता, फिर अन्य तिर्यङयोनि आदि में जन्म लेने वाले जीव की तो गति ही क्या ? ऐसे जीवों का, ऐसा अहोभाग्य ही कहां ? और, यह वेणु तो जंगम योनि का है !!! जड़-वांस में से तो इसका जन्म हुआ है, अतः स्थावर है। भले स्थावर हो किंतु, स्थावर में कुछ 'रस' तो होता है, जैसे वृक्ष आदि की टहनियों पत्तियों आदि में, किंतु, इसमें तो रस का नाम भी नहीं, एक बूंद भी नहीं-निरा शुष्क है। इस तरह, केवल सद्-अंश से युक्त, चिदंश से रहित-चैतन्य से शून्य-जड़ तथा एकांत-तया नीरस और फिर, पुरुष-जाति, ऐसा यह वेणु, यदि भगवद् अधर-सुधा का भोक्ता कहा जाये, तो केवल पागल की कल्पना मात्र ही मानी जायेगी। लेकिंन, हम गोपांगनाओं को तो आश्चर्य इस बात का हो रहा है कि इस 'कन्हाई' ने इसे अपने अधरासन पर क्या सोच कर विराजमान कर रखा है? आखिर क्यों? हम समझ नहीं पातीं।

हां, वेणु के पक्ष में, इस बात का विचार, हमारी मंडली में, अवश्य करना पड़ेगा कि यहां एकत्रित हम सभी गोपीजन, भगवान् की आधिदैविक शक्तियां हैं, तदनुसार, हमको, भगवद्-अधर सुधा से संबंध प्राप्त हुआ है—यह वेणु भी, हमारी तरह, आधि-दैविक देह से संपन्न है, अतः उसमें चेतनत्व स्वीकार करना पड़ेगा, अतः हमें, हमारी मंडली में, इस दृष्टि से भी, वेणु के सुधा फल भोग का विचार अवश्य करना चाहिये— 'आधिदैविकस्य सूचयन्त्य आहुः सर्वा एव आधिदैविक्य इति स्वगोष्ठयां तस्यापि विचारो घटते'—सुबो.। संभव है, अपनी आधिदैविक-देह के कारण, उसका भी, हमारी तरह अधरसुधा से संबंध हो? तथा उसका भोग करता हो? "आधि-दैविकस्य अधर-सुधा-संबद्धस्य वेणोः'। तदनुसार, गोपांगनायें परस्पर विचार करती हैं—कि, धर्म से ही सर्व प्रकार के फल की प्राप्ति होती है, अर्थात्, धर्माचरण के अनुसार ही फल मिलता है। यही वैदिक-सिद्धांत है। जीव को, यावत्-प्राप्य साधनों से, मनोनिग्रह करना चाहिये, क्योंकि, मनोनिग्रह में हीं समग्र साधनों की उपादेयता मानी गयी है। और, क्योंकि धर्म, चित्त का-मनका-शोधक है, इसीलिये धर्माचरण में ही, समग्र साधनों का समावेश हो जाता है; अतः साधन-विचार के अनुसार, फल प्राप्ति में, धर्म ही एक मात्र साधन है। धर्म-रूप साधन से फलोपलब्धी होती है—और, यही वेद सम्मत साधन विचार है। दूसरा, अनुग्रह-विचार है, यह विचार, वेद-सम्मत

विचार से, सर्वथा भिन्न एवं विपरीत है, क्योंकि, अनुग्रह-विचार के अनुसार तो, निःसाधनता को ही, फल प्राप्ति का एकमात्र साधन, कहा है। इस तरह दो विचार हुये—एक, वेद-सम्मत साधन विचार, जिसके अनुसार, साधन के अनुकूल ही फल मिलता है, दूसरा, अनुग्रह-विचार, जिसके अनुसार, निःसाधनता ही फल प्राप्ति का एकमात्र साधन है। सर्व प्रथम, वैदिक मतानुसार, फल-प्राप्ति में साधनरूप धर्म का विचार करती हुयी गोपिका-समुदाय में से अमुक एक गोपी कहती है कि—

**गोप्यः! किमाचरदयं कुशलम्**—वेणु ने ऐसा कौनसा धर्माचरण किया है, जिस धर्माचरण से इसको भगवद् अधर सुधा से संबंध की प्राप्ति हुयी? धर्म के जितने भी प्रकार हैं, वे सभी, वेद-सिद्ध हैं। और, हम गोपीजन, स्वयं वेद रूपा हैं, अतः ऐसा कोई धर्म नही जो हमसे अज्ञात हो, जिसे हम नहीं जानती हो। हमको और वेणु को हम दोनों को—आधिदैविक रूप समान देह की तथा सुधा भोग रूप समान फल की प्राप्ति हुयी है। इसीलिये यह सुनिश्चित है कि हमने जो 'धर्म' किया है, वह धर्म, वेणु ने भी किया है—यहां तक इस विषय में कोई संदेह नही। तथापि, एक यह संदेह होता है कि हमने जो साधन किया, उसमें, मर्यादा न्याय से, कोई विरोध-त्रुटि नहीं क्योंकि हमको तो स्त्री देह की प्राप्ति हुयी। हमें हमारी साधना के अनुकूल, सुधा-भोग के योग्य स्त्री देह प्राप्त हो गया-स्वरूप-योग्यता मिल गयी। किंतु, वेणु को, स्त्री देह की प्राप्ति नहीं हुयी, तदनुसार, स्त्रीत्व के अभाव में वह-सुधा-फल भोग से वंचित ही रहना चाहिये, तथापि, स्त्री-देह के अभाव में भी, उसको अधर-सुधा का भोग प्राप्त है। गोपांगनायें, यहां, यह विचार कर ही है कि हमारे में स्त्रीत्व है अतः हमारी साधना में कोई विरोध नहीं, वेणु को हमारी तरह स्त्री-विग्रह सिद्ध नहीं हुआ, अतः उसके साधन में अवश्य विरोध है। साधन-विरोध होते हुये भी, उसे सुधा-भोग रूप फल प्राप्त हुआ है, यह हम प्रत्यक्ष देख रही है। प्रभु ने उसे अपने अधरों पर स्थापित किया है। इस तरह, स्त्री-विग्रह की अप्राप्ति में भी, वेणु की, फल भोग-सिद्धि को देखते हुये, हमें उस के 'साधन' में संदेह है, उसका साधन-चातुर्य हमारे लिये एक रहस्य ही है। इस विचार में, अन्य गोपीजन भी वक्तृ-गोपी के विचारों से सम्मत है। यह निर्देश करने के लिये यहां 'गोप्यः' इस संबोधन-पद का प्रयोग किया गया है।

सुधा-भोग में, इस तरह यह वेणु स्वरूपतः अयोग्य है, इतना ही नहीं, अन्य बहुत से तथ्य भी, इसके सुधा भोग में, बाधक है। उनमें से इसकी नीरसता का, स्थावरत्व का तथा स्त्री-विग्रह के अभाव का हम उल्लेख कर चुकी हैं। 'अरी सखियो! यह तो पुरुष है'! प्रस्तुत श्लोक में वेणु के लिये 'अयम्' इस पुल्लिग शब्द के प्रयोग से यही सिद्ध होता है कि वेणु पुरुष है। "तदुपरांत, रस-भोग में अचतुर है। अधर-सुधा

का भोग, रसशास्त्र की मर्यादा के अनुसार एकांत में ही रसप्रद माना गया है और यही अनुभव सिद्ध है। किंतु यह वेणु तो, यहां उपस्थित सभी सहृदयों के समक्ष प्रसिद्धिपूर्वक खुले-आम-भगवद्-अधर-सुधा का पान कर रहा है"। प्रसिद्धि-पूर्वक, वेणु कृत पान का निर्देश यहां प्रसिद्धि-वाचक 'स्म' शब्द द्वारा किया गया है।" इन बाधकों के होते हुये, वास्तव में देखा जाये तो वेणु को अधर सुधा रूप फल-भोग का न तो अधिकार है और न उसके भाग्य में ही है"। "इसी का सविस्तार प्रतिपादन 'वर्हापीडं' श्लोक में भी किया जा चुका है, वहां यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है, कि भगवद्-अधर-सुधा, वेणु का स्पर्श भी नहीं करती—अपनी अयोग्यता के कारण यह वेणु अस्पर्श्य ही है—यह अपने मुख को फैलाये ही रहता है—सुधा उसको छूती भी नही ! ! ! अतः, वेणु को सुधा भोग नही हैं, क्योंकि वह नीरस है, स्थावर है, उसमें स्त्रीत्व का अभाव है, वह पुरुष है इतने बाधक तो हैं ही तदुपरांत 'प्रसिद्धि' भी उसके भोग में बाधक हैं'।

(प्रस्तुत में 'वेणुकृत भोग' यह विषय है, 'वेणु को सुधा-भोग है या नहीं' यही, विषय-गत संशय है, जो प्रसंग चल रहा है वही संगति है। क्योंकि, वेणुद्वारा, जिस सुधा का भोग किया जा रहा है, वह सुधा गोपिकाओं की है, अतः इसका विचार, गोपिकाओं की गोष्टी में होना ही चाहिये, उपेक्षा करने योग्य नही है।)

अतः वेणु के विषय में, साधन तथा फल इन दोनों में से, एक का बाध करना चाहिये। यदि वेणु की, स्वरूप-योग्यता को सिद्ध करनेवाले उसके साधन-बल के विषय में विचार करें तो उसको फल की प्राप्ति नही है। अर्थात् साधन बल से तो, उसको केवल आधिदैविक देह की ही प्राप्ति हुयी है, स्त्री-विग्रह की नहीं—अतः साधन-बल से उसको सुधा फल भोग की प्राप्ति नही हुयी है। फल बल की दृष्टि से विचार करें, तो साधन का अभाव ही है। उसके द्वारा आचरित ऐसा कोई साधन नहीं, जिसके बल से उसे भगवद् अधर-सूधा भोग रूप फल की प्राप्ति हो। उसके मार्ग में, सुधा भोग की सिद्धि में अनेकों बाधक हैं। हाँ, यदि प्रभु के अनुग्रह बल का विचार करें, तो फिर, साधन की आवश्यकता ही नहीं रहती, साधन के अभाव में भी, बाधकों के होते हुये भी, फल-सिद्धि में कोई शंका नहीं, क्योंकि प्रभु स्वयं जिसका वरण करते हैं, उसे स्वतः प्राप्त होते हैं, और, यही अनुग्रह मार्ग का सिद्धांत है।

हे सखियो ! हम यह जानती हैं कि वेणु में प्राणी-मात्र को सुख-दान करने का सहजधर्म हैं। वेणु-शब्द 'व इ तथा अणु'—इन अक्षरों के संयोग से बना है। 'व' अक्षर के आगे अणु है। 'अणु' के 'अ' का 'वे' में पूर्वलोप हो जाने से, वेणु-शब्द

सिद्ध होता है। 'वे' में जो 'व' तथा 'इ' अक्षर हैं उन में से 'व' का अर्थ है 'मोक्ष-सुख' तथा 'इ' का अर्थ है 'कामसुख'। वेणु के समक्ष ये दोनों ही प्रकार के सुख 'अणु' तुच्छ हैं। इस उभय-सुख को तुच्छ करके इन दोनों ही सुखों से अधिक उत्तम 'परमानन्द'-सुख का दान करने वाला यह 'वेणु' है। यद्यपि, वेणु में, अधर सुधा भोग की स्वरूप योग्यता का अभाव है तथापि, उसमें लोक को, परमानंद-सुख दान करने का धर्म है। यह इतना केवल अनुमान ही किया जा सकता है, निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसमें यह धर्म है। भगवद्-अधरों से संबंध के कारण ही, ऐसा प्रतीत होता है कि यह वेणु, कदाचित् सुधा का भोग करता हो।

इस तरह, जैसा कहा जा चुका है, साधन-बल के निश्चय से तो, फल का अभाव ही मानता पड़ेगा; साधन-बल से तो, वेणु को अधर-सुधा फल की उपलब्धि नहीं है; किंतु, फल-बल के विचार से, वेणु को सुधा भोग है, तदनुसार, साधन का होना अनिवार्य है। साधन के अभाव में फल-प्राप्ति असंभव है, और, यही सिद्धांत है। निश्चय के तथा अनिश्चय के समाधान के लिये यही सिद्धांत समुचित है 'उभय-समाधानार्थं 'सिद्धांत'माहुः' :—प्र.। यदि, अधर-सुधा-फल की प्राप्ति में वेणु के लिये साधन की अनिवार्यता है, तो फिर, वह कौनसा साधन है ? जिस के अभाव में भी, वेणु को इस फल की सिद्धि मिली !! इसका उत्तर यह है कि सुधा-भोग में स्वयं वेणु ही साधन-रूप है और यही सुनिश्चित है 'तथापि साधनं स्वयमेवेतिनिश्चयः'-सुबो.। क्योंकि, प्रभु ने स्वयं अनुग्रहपूर्वक, वेणु को अपने अधरों पर स्थापित किया है, अतः सुधा-भोग में वेणु ही स्वयं साधन बन गया। पुष्टि-बल के आश्रय में ही, साधन की सिद्धि है—यहां तो निःसाधनता ही साधन है—साधन का एकांत अभाव ही, एकमात्र साधन है!!! वेणु को इस प्रकार के साधन की सिद्धि, पुष्टि-बल के आश्रय से ही प्राप्त हुयी है। और, यही निर्देश करने के लिये, अनुग्रह-मार्ग से, मर्यादा-मार्ग की हीनता का प्रतिपादन करती हुयी, व्रजांगना कहती है—'दामोदरा-धरसुधाम्'—यहां 'दामोदर' पद द्वारा, वह यह सूचित करती है कि प्रभु तो गोपीजन के अधीन हैं। श्रीयशोदाने, भगवान् को, उनके उदर के चारों ओर रज्जु-बांधकर अपने वश में किये हुये हैं। उसी तरह, हमने भी, भगवान् को स्नेह-सूत्रों से जकड़ कर अधीन कर लिया है। इसीलिये भगवान् दामोदर कहलाते हैं। 'दामोदर' नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यशोदोत्संग-लालित प्रभु, गोपीजन के ही वश में हैं। मर्यादा मार्ग में उस साधन का एकान्त अभाव है जिसके द्वारा भगवान वश में किये जा सकें। ऐसा मार्ग तो पुष्टि-अनुग्रह-मार्ग ही है, जिस से प्रभु स्वयं ही, निःसाधनभक्त के आधीन हो जाते हैं। वस्तुतः देखा जाये तो, वेणु में, स्वतः

तथा परतः दोनों प्रकार से साधन का अभाव हैं। वह अपने प्रयत्न से भगवद्-अधर पर आरूढ नहीं हुआ है, स्वयं भगवान् ने उसे अपने अधर पर स्थापित किया है–और, सुधा की प्राप्ति में, उसे अधर से भी कोई आशा नहीं !!! क्योंकि, भगवान् ने सुधा को अपने अधर में न्यस्त-स्थापित की है, और यह अधर, परम-कृपण है –लोभात्मक है–अनधिकारी को यह कदापि सुधा का दान नहीं करता, तो फिर, इस वेणु को, वह इस सुधा दान से क्यों कर उपकृत करेगा ? 'अतः स्वतः परतश्च तस्य साधनाभावः सूचित': ! सुबो.।

यदि यह कहा जाये कि "यह वेणु, अधर से संलग्न होने के कारण, वहां अपनी स्थिति के कारण, अधर-सुधा का भोग कर रहा है"–सो वह भी असंगत है, क्योंकि, वेणु-रसना से रहित है। रस, रसना ग्राह्य है, और यदि वेणु में रसनेंद्रिय ही नहीं, तो फिर, वह रस का भोग कर ही कैसे पायेगा ? यहां, रसनेंद्रिय का अभाव ही, वेणु के रस भोग में बाधक है। बाधक के होते हुये भी, यह कहना कि साधन से भोग किया जा रहा है, असंगत है–यह कैसे कहा जा सकता है कि वेणु सुधा का भोग कर रहा है, तथा, रसास्वाद सुलभ आनन्दानुभूति कर रहा है। रसनेन्द्रिय के अभाव में, यह अन्य और कौन से साधनद्वारा रस-पान कर रहा होगा ?–यह तो वही जानें हम कैसे कह सकती हैं। तदनुसार, वेणु, सुधा का भी भोग कर रहा है अथवा नही– यह विवादास्पद ही है–'सुधामपिभुंक्ते इति विवादास्पदम्'–सुबो.।

हाँ, यह 'नाद' का भोग अवश्य कर रहा है। यह निर्विवाद है–'नादं भुंक्ते इत्य-विवादम्'–सुबो.। श्रुति, इस कथन को प्रमाणित करती है। श्रुति का कथन है कि "वाणी, देवताओं के मुख से बाहर प्रकट हुयी, तथा यज्ञ-भगवान् के संमुख कुछ समय पर्यंत खड़ी रही, तदनन्तर, उसने वनस्पतियों में प्रवेश किया"–वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रमत् यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत्'। वाणी, नाद-स्वरूप अथवा नादब्रह्म है, तथा वह वनस्पतियों में निवास करती है। वेणु जो एक वनस्पति मात्र है, नाद को ही ग्रहण करेगा, अतः, श्रुति कथनानुसार, वेणु, 'नाद' का ही उपभोग करता है। 'सुधा का भी भोग करता है'–यह विवादास्पद है। वेणु के सुधा-भोग में अनधिकार का प्रतिपादन इस से पूर्व किया जा चुका है, तथापि, व्यभिचारिणी स्त्री जिस तरह, परपुरुष के भोगार्थ, अपने आपको समर्पित कर देती है, उसी तरह, यदि भगवान् स्वेच्छा से ही, आगे आकर, अपनी अधर-सुधा को, अनधिकारी वेणु के उपभोगार्थ न्योछावर कर देतें हो तो दूसरी बात है, तब तो, निःसंदेह यही संभावना है कि वेणु रसपान करता हो। हाँ, गोपिकाओं की तरह वह स्वयं रसपान कदापि नही कर सकता। रस, वस्तुतः स्त्री-निष्ठ होता है–रस की प्रतिष्ठा स्त्री में ही

मानी गयी है। इस रस का अधिकारी उसका पति है, अतः वही, इस रस का उपभोग स्वेच्छापूर्वक कर सकता है। अनधिकारी परकीय पुरुष, उसका कदापि स्वतः भोग नहीं कर सकता। इसका भोग वह तभी कर सकता है, जब, स्वयं स्त्री इस रस को, स्वेच्छा से उसे अर्पित करे। प्रस्तुत प्रसंग में भी, वेणु, अधर-सुधा-भोग का स्वतः अधिकारी नहीं है। हम मानती है, कि वेणु को पुष्टि-बल प्राप्त है, किंतु, पुष्टि-बल के होते हुये भी उसे रस-भोग की उपलब्धि तब तक संभव नही, जब तक प्रभु स्वयं उसको, इसका दान न कर दें। अनधिकारी वेणु, अपने पुष्टिबल से रस भोग तभी प्राप्त कर सकता है, जब भगवान् स्वयं, उसको इसका दान करें– अन्यथा नही– तत्रापि अनधिकारी वेणुः, पुष्टिबलेनापि, भगवद्-दत्तमेव प्राप्नुयात् स्वतो भोजनं त्वाश्चर्यम्' ले.। अनधिकारी परकीय पुरुष को, जिस तरह, स्वेच्छा-चारिणी स्त्री, स्व-निष्ठ रस को समर्पित कर देती है, उसी तरह, इस अनधिकारी वेणु को, स्वयं प्रभु ही स्वकीय अधर सुधा का दान करते हैं, तब तो निःसंदेह इस वेणु को सुधा-रस-पान संभव है, किंतु, यहां तो वेणु, स्वेच्छा से गोपिकाओं की तरह ही, स्वयं ही सुधा-पान कर रहा है यह आश्चर्य है।

हम अपने मुख को, भगवान् के अधर पर स्थापित करके, जिस तरह, तत्रस्थ सुधा पान करती हैं, उसी तरह, वेणु का मुख भी, उनके अधर से संलग्न है, अतः उसे भी, हमारी तरह, अधर-सुधा भोग सिद्ध है, तदुपरांत, हमारी अपेक्षा उसमें एक विशेषता यह है कि वेणु के, सुधा भोग कर लेने के उपरांत, जो 'रस' शेष रह जाता है, उस शेष-बचे हुये रस का भोग, सरिता तथा वृक्ष भी करते हैं। 'सरिता तथा वृक्ष अवशिष्ट-रस का पान करते हैं'–इस कथन से भी-अन्यथानुपपत्ति से-यही सिद्ध होता है कि वेणु को, सुधा भोग प्राप्त है। क्योंकि, यह वेणु, सरिता तथा वृक्ष से उत्पन्न उनका ही, बालक-पुत्र है–सरिता तथा वृक्ष इस के माता पिता है–सरिता के पयःपान से इस का संवर्धन हुआ है वृक्ष इसका जनक है। बालक, योग्य होने पर, जिस तरह, माता पिता का निर्वाह करता है, उसी तरह, यह वेणु अपने पितृ-स्नेह के कारण, स्व-रस-पान में से बचे हुये रस कणों को सरिता तथा वृक्ष में वितरण कर देता है। सुधा पान से ही तो इन दोनों की यह आधिदैविक देह परिपुष्ट होकर हरी-भरी टिकी हुयी है। और, यह सुधा, इनको, वेणु के अतिरिक्त और कौन देने में समर्थ है, अतः, हमारी यह मान्यता की वेणु को सुधा भोग है'–सत्य है।

**ह्रदिन्यो ह्रष्यत् त्वचोऽश्रुमुमुचुस्तरवो यथार्याः** – ह्रदिनियों-सरिताओं तथा तरुओं ने निःसंदेह सुधा का पान किया है, तभी तो अन्तःपूर्णानन्द से संपन्न ये सरितायें अधिकाधिक आनन्द्रोद्रेक से पुलकायमान हो रही हैं, उनमें उच्छलित होती हुयी यह

आनन्दमयता रोमांच रूप से बहि:प्रकट हो रही है। ह्रदिनियां रोमांचित हो उठी हैं, इसमें यह निर्णय है कि यहां रोमांच-कमल रूप है—उनमें विकसित यह कमलावलि ही तो पुलकित रोमावलि है। उनमें उमरते हुये आनन्द रूप कारण से' इस कार्य रूप कमलावलि-रोमांच का उद्‌गम हुआ है। कमलरूप रोमांच कार्य है, सरितागत उच्छलित आनन्द-रस, इस का कारण है—'रोमांचोत्र कमलरूप:'—सुबो.। जगत में, जल से संबंधित जितने भी पदार्थ हैं, उन में कमल ही सर्वोत्तम है। अत: कमल-रूप रोमांच जैसे सर्वोत्तमकार्य की उत्पत्ति में कोई विलक्षण ही कारण होना चाहिये और यह विलक्षण-कारण है अधर-सुधा-रस का पान' ! ! ! अधर-सुधा रस पान के अतिरिक्त, आनन्द रोमांच के उद्‌गम का अन्य और कोई हेतु हो ही नहीं सकता। रोमांचोद्‌गम में, यदि इससे अतिरिक्त अन्य और ही हेतु होता तो वेणु-वादन के समय, ह्रदिनियों में शैवाल का ही उद्‌गम होता, कमल का नहीं। इसीलिये सुधापानसुलभ आनन्दरूप कारण हेतु से ही, उसके सर्वोत्तम कार्य-रूप में, कमल-रूप रोमांच का ही उद्‌गम हुआ। इससे यही निर्णय होता है कि ह्रदिनियों ने, वेणु-अवशिष्ट भगवद् अधर सुधा का नि:संदेह पान किया है—अन्यथा, उनमें कमलों का प्राकट्य नहीं होता और, कदाच् कमलों का प्राकट्य हो भी जाता, तो भी उन कमलों में लक्ष्मी का आविर्भाव नहीं होता—अर्थात् भगवद् अधर-सुधा पान के अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे ही कारण से कमलरूप रोमांच का कदाचित् उद्‌गम होता, तो ऐसे कमलों में लक्ष्मी कदापि प्रकट नहीं होती—क्योंकि, इस प्रकार से—(सुधा-पान रूप हेतु से)—प्रकट होने वाले कमल ही, काम-रस के उद्दीपक कहे गये है। और, उनमें ही लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। कमलों के प्रकट होते ही उनमें, लक्ष्मी का शुभागमन होता है, क्योंकि इस प्रकार से प्रकट होने वाले कमलों के साथ लक्ष्मी का नित्य संबंध है। लक्ष्मी, कमल के नित्य सहवास में ही जो रहती है, उसमें उसका व्यक्ति-गत स्वार्थ है। कोई किसी की निरंतर संगति तभी करता है, जब, उसमें उस का कुछ स्वार्थ हो—यत्नातिशयो दृष्ट:, सस्वार्थानतिलंघनात्'। प्रभु की अधर-सुधा का पान करने के लिये ही, उस रस की कुछ कणिकाओं के लिये, लक्ष्मी ने, ह्रदिनी के कमल-रूप रोम रोम को अपना निवास स्थान बना लिया—ह्रदिनी के रोम रोम में अभिव्याप्त हो गयी। इस कथन से यह सिद्ध किया गया है कि लक्ष्मी ही, इस अधर सुधा की, वस्तुत:, एकांत अधिकारिणी है—लक्ष्म्यास्तदेकभोगित्वमुपपादितम्'—सुबो.'। ह्रदिनियां-हृष्यत्-त्वक्-पुलकित हो गयीं, रोमांचित हो जाना यह एक उपलक्षणमात्र है। ह्रदिनियां, मकरंद-रूप अश्रुओं का भी विमोचन करने लगीं। मकरंद, कमल का ही रस है, शैवालादिका नहीं, अर्थात् रोमांच के साथ ही, ह्रदिनियों ने अश्रु विमोचन किये। भगवद्-सुधा पान से, वृक्षों की भी यही अवस्था हुयी, उनमें भी

फल-रूप रोमोद्गम हुआ है, तथा मधु-धारारूप आनंदाश्रु प्रस्रवित हो रहे हैं। यहां वृक्षों के फल ही रोमांच है, तथा उनमें से झरती हुयी मधुधारा ही आनंदाश्रु हैं। ह्रदिनियों को तथा तरुओं को जो रोमांच हुआ तथा उनमें से मधु-अश्रुधारा बहने लगीं, वह सुधा-पान के विना संभव नहीं है, और, यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि इन में रोमांच तथा आनंदाश्रु हुये वह स्वाभाविक हैं। सरिताओं में तथा तरुओं में रोमांचादि कभी कभी ही होते हैं। यहां, वेणु-नाद के अनन्तर ही, इन में रोमांच तथा आनन्दाश्रु का उद्गम हुआ है, यदि इनमें ये रोमांचादि स्वाभाविक ही माने जाते तो वेणु नाद के पूर्व भी हो सकते थे। इनके ये रोमांच तथा अश्रु, स्वाभाविक फल तथा मधु-धारा से विलक्षण हैं--इसीका निर्देश यहां 'यथार्याः' इस पद से किया गया है। सन्त पुरुषों को, कहीं विरल अवस्था में हो, रोमांचाश्रु होते हैं। भगवद्-धर्मों के अंतःप्रवेश होने पर ही, सन्तपुरुषों में रोमांचोद्गम होता है तथा आनंदाश्रु प्रस्रवित होने लगते हैं। ऐसे संतपुरुषों के समान ही, इन ह्रदिनियों और तरुओं में, वेणुनाद द्वारा भगवद् धर्मों के अंतःप्रवेश होने से ही, रोमांचाश्रुओं का उद्गम हुआ है। संत पुरुषों की तरह, ये भी रोमांचित होकर अश्रुमोचन कर रहे हैं। इस से यह सिद्ध होता है कि मातारूप ह्रदिनी तथा पिता रूप तरु ने अपने पुत्रवेणु-द्वारा भुक्तावशिष्ट सुधा रस का निःसंदेह पान किया है। और, तदनुसार यहां यह निर्णीत हो जाता है कि भगवान् ने, वेणु के छिद्रों में अपनी अधर-सुधा संपूरित की है--भरी है।। ९।।

**नवम श्लोक समाप्त**

—: 0 :—

## 'गोप्य: किमाचरदयं'–नवम-श्लोक पर श्रीमत्प्रभु-चरण कृत 'स्वतंत्र'–लेख ।

यहां विचारने योग्य यह है कि पूर्व श्लोक में, 'रन्ध्रान् वेणोरधरसुधयापूरयन्' यह जो कहा गया उसका तात्पर्य यह है कि भगवान् ने अपनी अधर-सुधा को वेणु के छिद्रों में पूरित की; यहां ये छिद्र ही वेणु के मुखरूप हैं, अत: इन छिद्रों को अपनी सुधा से भरते हुये, स्वयं भगवान् ने ही वेणु को, अनायास अधर-सुधा का पान कराया। वेणु ने अपनी ओर से कोई प्रयत्न नहीं किया, भगवान् ने स्वेच्छया उसे अपनी अधर सुधा समर्पित की है; अत:, गोपाङ्गनाओं का यह कथन कि वेणु स्वयं अपनी इच्छा से सुधा का पान कर रहा है 'स्वयं-भुंक्ते' यद्यपि सुसंगत नही है, तथापि उनका यह कथन कि यह अधर सुधा हमारी है, गोपिकाओं के लिये ही है, वेणु के लिये नही है युक्ति युक्त है–क्योंकि भगवान् ने स्वकीय प्रियतमाओं को साक्षात् सुधा भोग के अधिकार की समृद्धि से संपन्न करने के लिये ही, वेणु के रंध्रों में, निज-सुधा को आपूरित की है। भगवान् ने अपनी अधर-सुधा को, गोपिकाओं के पास भेजने के लिये ही वेणु के रंध्रों में भरी है, अब यदि वेणु बीच में ही उसका पान करता है, तो उसकी वह स्वेच्छाचारिता ही कहलायेगी; अत: इस आशय में, गोपांङ्गनाओं की यह उक्ति कि हमारे लिये पूरित की गयी सुधा का, वेणु स्वयं भोग कर रहा है स्वयं भुंक्ते समुचित है।

यहां यद्यपि यह मान लें कि भगवान् ने स्वकीय प्रियतमाओं के भोगार्थ ही निज सुधा को वेणु के छिद्रों में पूरित की है, तो भी यह कैसे मान लिया जाये कि वेणु ने, कुछ समय के लिये भी, गोपीजन के पास सुधा पहोचने के पूर्व, इस सुधा का स्वयं भोग न किया हो? क्योंकि, अधरसुधा का संपर्क, सर्वप्रथम, वेणु के मुख से ही होता है। ऐसी स्थिति में भगवत्-प्रियतमाओं को, वेणुकृत भोग के उपरांत बची हुयी अर्थात् वेणु भुक्ता-विशिष्ट सुधा की ही प्राप्ति होती है। यहां ऐसी शंका असंगत है, क्योंकि यहां की संपूर्ण लीला कृति अलौकिक है, अत: लौकिक युक्तियों द्वारा उसका निर्णय नही करना चाहिये। अन्यथा, वृंदावन के सरोवर एवं सरिताओं के निकट तथा पर्वतों में किये गये वेणु कूजन को, सुदूर व्रज में बैठी हुयीं, केवल गोपांङ्गनाओं ने ही कैसे सुना? अन्य किसी के कर्ण गोचर क्यों नहीं हुआ? इस विषय में, 'तद्-व्रजस्त्रिय:' श्लोक द्वारा पर्याप्त प्रतिपादन किया जा चुका है। तदनुसार, यहां सभी प्रसंग अलौकिक हैं, अत: भगवद्-इच्छा ही यहां सर्वोपरि मानी गयी है। और इस इच्छा का अंतरंग प्रयोजन भी निगूढ है। भगवान् की व्रज-

देवियों के संग में, विप्रयोगात्मक परम रसमय लीला करने की गुरुतर इच्छा है, और, इसीलिये सर्वप्रथम इन व्रजदेवियों के हृदय में, उनके कर्ण-द्वारा, निज अधर सुधा का प्रवेश कराना आवश्यक है, तदनुसार, यह अधर-सुधा, सर्व प्रथम, उनके ही हृदय-प्रदेश में कर्ण द्वारा प्रतिष्ठित की गयी। अत: यह निर्विवाद है कि व्रज देवियों को जिस सुधा रस की प्राप्ति हुयी, वह वेणु की भुक्ता-वशिष्ट सुधा नही थी, यथावत् अस्पृष्ट एवं अभुक्त-पूर्व अधर-सुधा—रस ही उन को प्राप्त हुआ।

विशेष में, श्वास को बाहर निकालते समय अर्थात् उच्छ्वास दशा में, मुह में स्थित वस्तु बाहर ही आती है भीतर नहीं जाती, उद्‌गीर्ण ही होती है, निगीर्ण नहीं। अत: निज अधर-सुधा को, यथास्थान सुदूर व्रज में बैठी हुयी स्वकीय प्रियतमाओं के कर्ण द्वारा, सीधी हृदय में प्रेषित करने की उत्कट तन्मयता में, भगवान् ने अपने मुख-कमल में से, नाद ब्रह्म को—प्रकट करने के लिये, श्वास को इतने वेग से बाहर फेंका कि वह सीधा, यथामार्ग प्रसंगत: वेणु के रंध्रों में ही प्रविष्ट होता हुआ, इन रंध्रों में आपूरित सुधा को, अपने साथ खींचता हुआ, अपने अभिमत-स्थान व्रज की ओर ले गया, अत: वेणु आदि किसी अन्य को, उसके भोग करने का, अवसर ही नहीं मिला, वेणु उस सुधा का पान करने में असमर्थ, ही रहा। यद्यपि, उस समय, भगवन्मुख से संलग्न होने के कारण, वेणु का, साक्षात् अधर से संबंध था अत: संभवित है कि उसने सुधा का पान किया हो संभावना ही नहीं किंतु सुनिश्चित है कि उसने, एक वांस के वेणु रूप में अपनी योग्यता के अनुरूप सुधा का भोग भी अवश्य किया है, वेणु को, उसकी योग्यता के अनुसार, इसी प्रकार से, सुधा भोग की प्राप्ति अवश्य हुयी, किंतु' व्रज देवियों को तो यथोक्त प्रकार से, सुधा-भोग की साक्षात् सर्व प्रथम प्राप्ति हुयी, अत: यह कथन कि गोपाङ्गनाओं को, वेणु से भुक्त अवशिष्ट रस ही उपलब्ध हुआ, असंगत है। अन्यथा, जिस तरह सरितादि के लिये, वेणु के भोगानन्तर अवशिष्ट रस के पान का कथन किया गया है, उसी तरह का कथन, गोपीजन के लिये भी, किया जा सकता था। श्रीशुक ने कहीं भी इस प्रकार का उल्लेख नही किया कि व्रजदेवियों ने वेणु भुक्त-शेष रस का पान किया है, प्रत्युत यही कहा गया है कि अधर सुधा एकमात्र गोपिकाओं की ही है 'सुधामपि गोपिकानाम्'। यदि, गोपिकाओं को भी, सरितादि की तरह, वेणु-भुक्तावशिष्ट सुधा रस प्राप्त हुआ होता 'तो यह सुधा गोपिकाओं की ही है' इस प्रकार के कथन का अभाव ही होता! 'गोपिकानाम्'—इस पद द्वारा श्रीशुक ने अधर-सुधा-रस में गोपिकाओं की सत्ता का-स्वत्व का-स्पष्ट निर्देश किया है। यही 'सर्वा अभोग्य' सुधा है जिसकी एकांत भोक्ता गोपीजन ही है और जिसका

अंश मात्र भी वेणु में नहीं, और, न उसका भोग ही करता, वह तो वेणु होने के नाते, अपनी योग्यतानुसार केवल 'देव भोग्या' सुधा का ही भोक्ता है।

विशेष में, वेणु, स्वतंत्ररूप से सुधा-भोग करे, यह भगवान् को अभिलषित है, क्योंकि, सरितादि में तथा अन्य वृक्ष आदि में, सुधा-संबंध वेणु द्वारा ही संपादित किया जा सकता है। यहां यह समझ लेना चाहिये, कि सुधा से संबंधित अतएव आधिदैविकता से संपन्न जल-स्थल ही भगवद्-लीला में उपयोगी माने गये है। सुधा-संबंध से रहित कोई भी पदार्थ, भगवद् लीला के लिये अनुपयुक्त ही है। तदनुसार, जल-स्थल भेद से द्विविध प्रकार के रमण में यथाक्रम उपयोगी सरिता-सरोवरादि तथा वृक्ष निकुंजादि में, सुधा संबंध की स्थापना अनिवार्य है। वेणु, सरिता वृक्षादि का वंशज है, अतः इस के द्वारा ही सरितादि में, सुधा रस सहजतया प्रतिष्ठित किया जा सकता है, स्वयं वेणु, अपने इन बंधुओं को सुधा वितरण द्वारा, आनन्दमय करने को समुत्सुक है। इसीलिये, स्वयं भगवान की यही अभिलाषा रहती है, कि यदि वेणु सुधा पान करता है तो भले ही करे। तदनुसार, सरितादि तथा वृक्षादि को लीलार्थ योग्यता से संपन्न करने के लिये, उनमें वेणु-भुक्त-सुधा के उस अंश की स्थापना की गयी, जो अंश, नाद द्वारा बाहर दुलक पडा था—निकल आया था—इस सुधा अंश से ही सरितादि लीलोपयोगिता से सुसंपन्न हो गये। अतः यहां जो कुछ कहा गया है वह सभी समुचित है। ऐसी स्थिति में, व्रजदेवियों को तथा वेणु को उभय को एक समय में, एकसाथ ही, भिन्न भिन्न स्वरूप में—वेणु की, देव-भोग्या तथा व्रजदेवियों को सर्वभाग्या-सुधा भोग की उपलब्धि हुयी।

गोपीजन कहती हैं कि "भगवान् को, यशोदा ने, रस्सी से बांध कर अपने वश में किये हैं, इसीलिये वह 'दामोदर' कहलाते हैं। दामोदर होने के कारण, भगवान् हम व्रजदेवियों के सर्वथा आधीन हैं—इस तरह हमारे ही वश में होने के कारण, भगवान् को, हम व्रजदेवियों के उपभोग के उपयुक्त सभी पदार्थ, परवश की तरह, संपादित करने ही पड़ते हैं, इस से अधिक, हम हमारे दामोदर के विषय में और क्या कहें? भगवान् महोदार हैं, तथापि वेणु को अथवा अन्य किसी को, हमारे लिये सुरक्षित अधर सुधा का दान, वे कदापि नहीं करेंगे—और, यदि वेणु को, उदारतापूर्वक सुधा का दान करना ही चाहते हों, तो उनको रोकने की, किस को सामर्थ्य है? समुद्र, यदि अपनी मर्यादा का ही त्याग करने पर उतारू हो जाये, तो उसको कौन रोक सकता है? प्रभु, जिस व्यक्ति को, जो वस्तु देना चाहते हैं, उस व्यक्ति में, उस वस्तु के उपभोग की योग्यता का भी स्वयं ही संपादन करते हैं। अतः

इस सर्वा भोग्या सुधा भोग की योग्यता के अभाव में, यह सुधा, वेणु को प्रदान नहीं की गयी। इस सुधा भोग के योग्य तो हम गोपीजन ही हैं अतः यह सुधा हमारी ही है।" श्रीमत्प्रभु-चरण कहते हैं कि यहां यह जो कुछ भी निरूपण किया गया है, वह हमारे अनुभव का एक दिग्दर्शन मात्र है और प्रत्येक सहृदय को भी यही अनुभव करना चाहिये कि श्रीगोपीजन, भगवद्-अतिरिक्त किसी अन्य का उच्छिष्ट कदापि ग्रहण नहीं करती और यही उनका सर्वोत्कर्ष है।

**'रंध्रान् वेणोरधर सुधया पूरयन्'** :—यहां वेणु के छिद्रों में जिस सुधा का आपूरण किया गया वह सर्वाभोग्या सुधा है। यह सुधा, गोपिका द्वारा भोग्य होने के कारण, गोपीजन की है, और वेणु के भोगार्थ, जिस सुधा का आपूरण वेणु के छिद्रों में किया गया वह देवभोग्या सुधा है। यह हम जानती हैं। तदनुसार, यह सुधा, उभय-रूपा सर्वाभोग्या तथा देवभोग्या ही है। जिस सुधा का भोग गोपीजन ने किया वह सर्वाभोग्या है, और जिस सुधा का भोग वेणु ने किया वह देवभोग्या है। अन्यत्र स्थलों में भी-यथा-गान करते समय, सुदूरवन में बिछुडी हुयी गायों को बुलाने के लिये, अथवा, 'अनुचरैः' 'गागोपकैः' 'नद्यस्तदा' इत्यादि श्लोकों द्वारा, जिस वेणु-वादन का वर्णन किया गया है, वहां भी वेणु में जिस सुधा का पूरण किया गया, वह उभय-रूपा ही है। अर्थात् जहां जहां, वेणुनादन द्वारा, सुधा के कार्य का, उसके प्रभाव का कथन हुआ है, वहां वहां यह वेणुनादन, सर्वाभोग्या तथा देवभोग्या सुधा रूप ही है। प्रसंगतः, यहां यह समझ लेना चाहिये कि वेणु-कृत भोग रूप देवभोग्य सुधा का अंश मात्र ही सरिता, सरोवर, वृक्ष, लता आदि को प्राप्त होता है, तथा इस सुधांश के होने पर ही इन में लीलोपयोगिता आती है। अस्तु, तदनुसार, सुधा की उभयरूपता के कारण, भगवान् ने प्रारंभ में ही, एकमात्र गोपांगनाओं के ही उपभोगार्थ, सर्वाभोग्या सुधा को ही, वेणु के रंध्रों में भर दी थी, इस सुधा संपत्ति की एकांत अधिकारिणी गोपाङ्गनाऐं ही है। इसीलिये, यहां, 'गोपिकानां' पद का प्रयोग किया गया है—'यह सुधा तो गोपिकाओं की ही है", और, प्रस्तुत प्रसंग में, जिस सुधा का भोग वेणु कर रहा है, वह देवभोग्या ही है। तदुपरांत, 'रंध्रान् वेणोः' इस श्लोक में किया गया 'वेणु-वादन' रमण समय का वेणुवादन है। रमणार्थ किये गये वेणु वादन की सुधा पर तो एकांत अधिकार गोपिकाओं का ही होना चाहिये। इस में सभी गोपीजन एक मत हैं। इस विवेचन से सुधा की उभयरूपता का-सर्वाभोग्यरूपता का तथा देवभोग्य रूपता का प्रतिपादन हो जाता है।

## 'गोप्यः किमाचरदयं' नवम श्लोक पर पू. च. गो. श्रीहरि-रायजीकृत 'स्वतंत्र'-लेख।

अथवा, "अरि गोपियो ! इस वेणु ने कैसी चतुरता से कार्य किया है? यह तुमने देखा या नहीं"? यहां 'कुशल' पद द्वारा, भाव की प्रधानता का निर्देश किया है, अतः यह सूचित होता है कि यह भाव अनिर्वचनीय अतएव बुद्धि से अगम्य है। इस वेणु के 'कौशल चातुर्य को न कोई जान सकता है, और न कोई कह ही सकता है। हम वस्तुतः अबोध ही हैं अपनी इस 'अबोधता' का निर्देश, गोपांगनायें यहां 'गोप्यः' इस पद द्वारा कर रही हैं। हम सभी गोकुल गांव की भोली एवं निष्कपट ग्वालिनी हैं, हम को सभी गंवार कहते हैं। हमें अबोध समझ कर ही यह वेणु इतनी चतुरता कर रहा है। अथवा, हम सभी, भगवद्-रस का संगोपन (गोप्यः) करने वाली हैं। हम तो भगवद्-रस के 'गोपन्' करने में निपुण हैं ही, और इसीलीये हम 'गोपी' कहलाती है किंतु इस 'गोपन' व्यापार में, इस वेणु ने हम को भी परास्त कर दिया !!!" 'तो फिर इस के चातुर्य को कैसे जाना जाये?' इस अपेक्षा में यहां 'स्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। "अरी सखियो ! इसका चातुर्य तो सुप्रसिद्ध है, जरा विचार करो सब स्पष्ट हो जायेगा। जिस वेणु को हमने अचेतन ही मान लिया था, उसने तो 'चेतन' से भी अधिक अपनी कुशलता का प्रदर्शन किया है"—अपने इसी 'आश्चर्य' की अभिव्यक्ति, गोपियों ने 'अयम्' शब्द द्वारा की है। "हे गोपिकाओं ! 'अयम्' यह तो वेणु मात्र है, निःसार, सार से शून्य भीतर से पोलंपोल है, अनेक छिद्रों से परिपूर्ण है। प्रथम तो जड़ जाति के मातापिता का सपूत, फिर दुर्बल सूखी लकडी जैसा, और ऊपर से यह 'चतुरता' यह सब देख सुनकर हमें आश्चर्य होता है। ऐसा यह वेणु और उसका यह चातुर्य !!! यही आश्चर्य है। इस नें क्या चातुर्य किया? यदि वह जानना चाहती हो तो सुनो—'दामोदराधर सुधाम्'—जिस दामोदर प्रभु की अधर सुधा को कितने कितने साधनों से प्राप्त करके हम सब मिलकर उपभोग करती हैं उसी सुधा को यह वेणु अकेला ही भोग रहा है, और इस सुधा भोग के लिये उसने कुछ साधन भी तो नहीं किया। इससे अधिक इस के 'कौशल' का और क्या प्रमाण दिया जा सकता है? और, इस वेणु की एक रहस्यमय अद्‌भुत कथा यह है कि, अधर सुधा का पान कर के भी, तत्सुलभ रोमांच, आनन्द तथा आर्द्रता (अथवा अपनी द्रवीभूत दशा) इनको तनिक भी प्रकट नहीं होने देता। यह जानबूझ कर ही ऐसा करता है—अत्यंत कुशल जो है—वह जानता है कि आर्द्रता को अर्थात् रसमयता को प्रकट करते ही—मैं हराभरा हो जाऊंगा; मेरे में कोमल कूपलें निकल

आयेंगी। परिणाम यह होगा कि मैं वादन के अयोग्य हो जाऊंगा, और प्रभु मेरा परित्याग कर देंगे–दूर फेंक देंगे– तब मैं उनकी अमृत-रूप अधर-सुधा के पान से सदा के लिये वंचित हो जाउंगा" यह सब सोच विचार कर के ही यह कुशल वेणु, सुधा पान करता हुआ भी, आनन्द-सुलभ लक्षणों को सर्वथा प्रकट ही नही होने देता। हे सखियो! यह वेणु अधरामृत का यथेच्छ पान करता हुआ भी, अपनी आनन्दमयता का संगोपन किस तरह कर सकता होगा? यह तो वही जाने, किंतु इसी सुधा के स्वल्पांश का भी पान करके, तत्सुलभ-लक्षणों का संगोपन करने में हम गोपियां भी असमर्थ ही रहती है, उस समय हमारी जो दशा होती है–उसे हम संभाल ही नहीं सकतीं। रस के स्वभाव को भी अन्यथा करता हुआ, अपने ही स्वभाव को प्रकट करने में यह कितना कुशल है!! कितना छिपा हुआ कपटी तथा चतुर यह वेणु है। अरी सखियो! अपने कपटाचरण से ही, इसने प्रभु का यह सान्निध्य प्राप्त किया है। प्रभु ने हम को प्रेम रस से आर्द्र देख कर यह विचार किया कि ये व्रजदेवियां प्रेम रस से इतनी आर्द्र हैं कि मेरी वियोगानल, कुछ समय तक तो इनको जलाकर नष्ट नहीं कर सकेगी, इस विचार से हमारे प्राणनाथ ने हमें तो व्रज में ही रहने दिया, वेणु को अनार्द्र-सूखा-देखकर प्रभु ने निर्णय किया कि यह तो अभी से मेरे विरह में इतना सूख गया है!! अतः मेरी विरहानल इसे निःसंदेह भस्मसात् कर देगी, यह वेणु मेरे विरह में एक क्षण भर भी नहीं टिकेगा यह मानते हुये, इस वेणु को अपने कर कमल से ग्रहण करके सुदूर-वृंदावन में पधार गये। यह सब कुछ हमारे भोलेपन का-अकुशलता का-ही परिणाम है। इस कृतक वेणु ने तो कुशलतापूर्वक अपने स्वार्थ को साध ही लिया। यदि हम से यह पूछा जाये कि वेणु ने अधरामृत का पान ही कहां किया? यदि पान करता तो कम से कम तत्सुलभ कुछ लक्षण तो इसमें अथवा अन्यत्र प्रकट होने ही चाहिये। इन लक्षणों के सर्वथा अभाव में यह कैसे कहा जा सकता है कि इसने भगवद् अधर सुधा का भोग किया है? इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस वेणु ने सुधा भोग किया है उसका प्रमाण है, यदि यह सुधा भोग नहीं करता तो फिर ह्रदिनी आदि को, वेणु भुक्तावशिष्ट रस का भोग कैसे प्राप्त होता। इस वेणु के संबंधी ह्रदिनी तथा वृक्ष आदि में प्रत्यक्ष रोमांचादि हो रहे हैं, तथा अन्तःआनन्दाश्रु रूप मधुधारा उमट उमट कर प्रस्रवित हो रही हैं तो फिर उनकी भोग सिद्धि में सन्दिग्धता की शंका ही कहां रही। और, इन सरितादि में सुधा-भोग की जो संपन्नता है, वह संपन्नता, उन्हें निःसंदेह अपने संबंधी वेणु द्वारा ही उपलब्ध हुयी है–अन्यथापत्ति से तो यही सिद्ध होता है। और "क्योंकि इस वेणु में रसभोग से न तो रोमांच ही हुआ है, और न आनन्दाश्रु ही प्रस्रवित हो रहे

हैं–इसलिये यह निरा अरसिक ही हैं"– यह भी नहीं मान लेना चाहिये। जहां वेणु की परंपरासंबंध से, अर्थात् गौण रूप से भी प्राप्त, रस के आस्वादन मात्र से, जडस्वभाव की सरिता आदि में कमलावलिरूप पुलकावलि का उद्गम होता हो एवं द्रुम आदि से आनन्दाश्रु रूप मधुधारा प्रस्रवित होने लगती हो–तथा इस तरह अधरसुधा रस अपने स्वभाव मात्र से इन अचेतनों को, चैतन्य से ही नहीं अपितु रसिकत्व-रस-मयता-से संपन्न कर देता हो, तो फिर, उस वेणु के विषय में क्या कहा जायेगा जो प्रत्यक्षतया भगवान् के साक्षात् अधर से ही सुधा रस का पानकर रहा है। उसके रसिकत्व के विषय में तो फिर कहने जैसा रह ही क्या जाता है? अतः वेणु की इस भोग-सिद्धि में उसका कौशल-चातुर्य ही मुख्य साधन है। और हम? हम तो अकुशल भोली व्रज की ग्वालिनी है हमारे भाग्य में यह सब कहां? इसकी अप्राप्ति में हमारी अकुशलता ही हेतु है। अतः इस वेणु को, नाहक उपालंभ देने से क्या लाभ? गोपाङ्गनाओं का यही साररूप हृदयोद्गार है।

अथवा, इस वेणु ने हमारा क्या कल्याण किया है, कौनसी सुख शांति दी है–इसने हमारे हित में कुछ भी नही किया और यदि हम से भी पूछा जाये कि तुमने ही इसका कौनसा उपकार किया है, जिससे यह तुम्हारा भी प्रत्युपकार करे? तो हम कहेंगी कि 'अयम्' यह वही वेणु है, जिसे हमारे प्राणवल्लभ, रमण-समय में, अनुरागातिशय से हमारे ही परवश हो जाने के कारण, हमारे पास ही रखकर सर्वथा भूल चुके थे। किंतु, हम गोपिकाओं ने ही, उनको इसकी याद दिलायी थी तथा हमने ही इसे कभी कभी वजा लेने के लिये भी प्रार्थना की थी। यदि हम उसी समय इस वेणु को इधर-उधर कर देती–अथवा अन्यत्र फेंक देतीं, तो आज यह जो सुधा-भोग का आनन्द लूट रहा है वह कैसे संभव होता? अतः, हमने उस समय इसके साथ ऐसा दुर्व्यवहार न करके महान् उपकार ही किया।

अथवा, यदि यह कहा जाये कि हम लोगों को, रासोत्सव में सम्मिलित होने के लिये यही तो निमंत्रण देता है। इतना तो उपकार करता है। इसका उत्तर यह है कि 'अयम्' हम तो अभी इस 'वाद्यमान' वजाये जाते हुये–वेणु की बात करती है, रासोत्सव-कालीन वेणु की चर्चा नही करतीं। इस समय तो यह, नाद रूप उद्घोष पूर्वक हमारी ही अधर सुधा का पान करता हुआ हमें पीड़ित कर रहा है। और, हम जो अभी तक इसके चरित्र के विषय में अज्ञात ही रहीं, उसका कारण हमारा यह मुग्ध-स्वभाव ही है, हम प्रकृतितः अबोध हैं, निरी ग्वालिन हैं। इसीलिये, 'गोप्यः 'हमारा यह 'गोपी' अभिधान, स्वभावानुरूप ही है। हम इसके सामर्थ्य की महिमा को जानती हैं, जिसके द्वारा, यदि यह चाहे तो, हमारा उपकार भी कर

सकता है। इसका सामर्थ्य इतना है कि इसके समक्ष ब्रह्मानन्द तथा विषयानन्द यह दोनों आनन्द तुच्छ-नगण्य हैं। और इसीलिये, यह वेणु नाम से प्रसिद्ध है, ऐसों के लिये ऐसी कौनसी वस्तु है जो सामर्थ्य से बाहर हो। समर्थ अथवा असमर्थ, सब स्वार्थ के साथी हैं। और हम यह भली प्रकार से जानती हैं कि इसने ऐसी सामर्थ्य कहां से प्राप्त की। हमारे दामोदर प्रभु की अधर सुधा का पान करके ही इसने इतनी सामर्थ्य का संचय किया है। यह सर्वदा उस अधर सुधा का पान करता है जो ब्रह्मादि देवों को भी दुर्लभ तथा सर्व-प्रकार के आनन्द निधियों की भी हेतु मानी जाती है, ऐसी अधर-सुधा के सेवन से यदि यह वेणु, इतर सर्व प्रकार के आनन्द को नगण्य समझता हो तो उसमें आश्चर्य ही कैसा? यदि कोई हमसे पूछे कि इस वेणु ने तुम्हारा कोई उपकार नहीं किया यह मान भी लें, किंतु इसने तुम्हारा कोई अपकार तो नहीं किया? तो फिर, तुम लोग व्यर्थ ही इस वेणु पर इतनी क्यों खींजती हो? दोषारोपण क्यों कर रही हो? यह उचित नहीं। इसका एक ही उत्तर यह है कि 'गोपिकानाम्' जिस सुधा पर हमारा गोपिकाओं का ही एकांत अधिकार हैं, उसी सुधा से हम को वंचित करता हुआ, उसी सुधा का सर्वत: अपहरण करता हुआ यह वेणु, हमारा इससे अधिक अन्य और कौन सा अपकार कर सकता है?" यदि यह कहा जाये कि इस में, वेणु ने ही कौन सा महद्अपराध किया? इस सुधा का जैसे तुम सभी गोपिकायें भोग कर रही हो, उसी तरह यह वेणु भी भोग कर रहा है? तो फिर वेणु के अधिकार की ही सुधा का भोग तुम गोपीजन कर रही हो ऐसा क्यों न माना जाये"। तो इसका यह उत्तर है कि भगवान् की अधर सुधा में, हम गोपिकाओं की अधर-सुधा, एक रस-रूप होकर, मिली हुयी है। भगवद् अधर-सुधा का जब, हम पान करती हैं, उस समय, प्रभु हमारी भी अधर-सुधा का भोग करते हैं। तदनुसार, इस तरह, पारस्परिक-निरंतर भोगाभ्यास से भगवद्-अधर सुधा में, हमारी सुधा की भी स्थिति है। इसीलिये, भगवद् अधर-सुधा भोग के साथ साथ, उसमें स्थित हमारी सुधा का भी यह वेणु भोग करता है। और यह वेणु तो पुरुष है, श्री पुरुषोत्तम के अतिरिक्त यदि अन्य पुरुष, हमारी अधर-सुधा का भोग करता हो, तो वह हमारा महान् अकल्याण ही करता है। वह हमारे पतिव्रत धर्म का नाश करने वाला ही माना जायेगा।

यदि यह कहा जाये कि इसमें, वेणु का क्या दोष? वेणु, भगवान् को प्रिय है, यह देते हैं और वह पान करता है। हमारा उत्तर है कि 'स्वयम्'—भगवान्, दामोदर हैं, अत: वह स्वेच्छा से अपनी अधर-सुधा का दान कदापि नहीं करेंगे। यह वेणु तो स्वयं ही भोग कर रहा है, वह न दें तो भी क्या हुआ? हमारे प्राण प्रभु तो दामोदर

हैं, हमारे स्नेहरूप-रज्जु पाश से बंधे हुये हैं, अतः हमारे ही अधीन हैं वह कदापि ऐसा नहीं करेंग, यह वेणु तो अपनी स्वार्थ वृत्ति से ही भगवान् के मुंह लगा हुआ है, ऐसे स्वार्थी को हमारे सुख या दुःख से क्या प्रयोजन ? हमारी कुशलता अथवा अकुशलता की उसे क्या परवाह !!!

वास्तव में देखा जाये तो, न तो यह अपना ही हित कर रहा है और न ही दूसरे का, न ही इसने अपना स्वार्थ सिद्ध किया, न परार्थ। स्वार्थ सिद्धि के लिये तो इसे स्वयं सुधा पान करना चाहिये, तथा परार्थ सिद्धि के लिये, इसको, जिसकी यह सुधा है, उसको भी देनी चाहिये। यदि यह वेणु स्वार्थ सिद्ध करना चाहता होता तो सुधा रस को आप स्वयं भोगता, और जो परार्थी होता तो हम गोपियों की सुधा सीधा हम गोपियों को दे देता। इसने स्वार्थ अथवा परार्थ इन दोनों में से एक भी अर्थ सिद्ध नही किया। इस मूर्ख ने, यह सुधा, सरिता आदि को भी प्रदान कर दी। सरिता आदि को इसने सुधा दे दी, इसमें हम को जरा भी आपत्ति नहीं, भले दे दी अच्छा किया कि किसी अन्य को नहीं दी। यदि इसकी यह करतूत अनजानी ही रहती तो हम को दुःख नहीं होता। किंतु, जब से हम यह जानने लगीं, तब से हृदय में व्यथा होने लगी क्योंकि 'हृष्यत् त्वचोश्रु मुमुचुस्तरवः", इस सुधा रस-पान के स्वभाव से, सरिता आदि में कमल रूप रोमांच का आविर्भाव हुआ है। तथा पराग रूप अश्रु उनके अन्तः-आनन्द की अभिव्यक्ति कर रहे हैं और तरुओं में भी फलरूप रोमांचोद्गम के साथ, मधुधारा रूप अनुराग के अश्रु प्रस्रवित हो रहे हैं। यह देख कर ही हम जान सकीं कि यह वेणु तो सरिता आदि को ही सुधा दान कर रहा है, एकांत रूप से न स्वयं ही भोगता है न हमें ही देता है। यह सब हमारे सामने ही हो रहा है। हम हमारे नेत्र क्यों मूंदलें ? हम कैसे विश्वास कर लें कि सरितादि ने रस का पान नही किया ? सुधा-भोग किया है तभी तो इनमें यह रोमांचादि प्रकट हुये हैं'।

इस सुधा रस का पान करनेवाले को तो लज्जा आनी चाहिये। विशेष कर के स्त्रियों को तो लज्जित होनाही चाहिये। वृक्ष आदि पुरुष तो निःसंदेह निर्लज्ज होते ही हैं, किंतु, इन सरिताओं को देखो, निर्लज्जता की हद्द हो गयी !!! जिस अधर सुधा में, हमारी भी अधरसुधा संवलित है, उसका पान करके आनन्द से ये ह्रदिनियां फूली नहीं समातीं। ये सरितादि तथा वृक्षादि, 'यथाऽर्याः' भगवद्-भक्त जनों की तरह ही अन्तरुद्गत पूर्णानन्द के आवेश में पुलकित होकर, अश्रु-विमोचन कर रहे हैं। बड़े शास्त्रीय भक्त बने बैठे हैं !!! निरे बक भक्त हैं। जिसको जिस वस्तु की अपेक्षा हो उसको वही वस्तु देने में दान की प्रशंसा है और

यही दान-व्यवस्था है। इस न्याय के अनुसार सरितायें तथा तरुगण स्वभाव से आर्द्र तथा स्नेह-सिद्ध रहते हैं, उनको अनुराग रूप आर्द्रता की कोई अपेक्षा नहीं। वर्तमान में, हम ही एक ऐसी है जो अनार्द्र हैं, अनुराग से वंचित हैं अतः हमें ही स्नेहार्द्रता की नितांत आवश्यकता है। हमें छोड़कर, यह वेणु, इन सरितादि को ही स्नेहार्द्र बना रहा है। यह दान-व्यवस्था के सर्वथा विरुद्ध है अतः एव यह, वेणु के महान् अनौचित्य का प्रदर्शन ही है—यह वेणु वस्तुतः विवेक से रहित है।

अथवा, हमारी सुख दुःख की अधिक चर्चा से क्या प्रयोजन? क्योंकि हम तो व्रज में निवास करनेवाली निर्दोष स्त्रियां हैं, और यह वेणु, वन में रहनेवाला —जंगली—पुरुष है, इसके साथ हमारा कोई संबंध नहीं कोई तुलना नहीं। किंतु यह तो विचार करो कि क्या इस वेणु ने अपने स्वयं का भी कल्याण सिद्ध किया है? कुछ भी सिद्ध नहीं किया—यहां यह कथन व्यंगोक्ति-पूर्वक किया गया है। अपनी कुशल साधना में, यह असफल ही रहा, क्योंकि, 'अयं वेणुः' यह वेणु पुरुष जाति का है, तथापि इसका मूल्य क्या? घर में—रखने लायक, मात्र एक वाद्ययंत्र का जो मूल्य होता हो इतना ही तो इसका मूल्य है--इससे अधिक, इसकी योग्यता का और मूल्यांकन ही क्या? अभिप्राय यह है कि जो प्राणि, जिस फल की प्राप्ति के लिये साधन करता है, वह, उसी साधन द्वारा, उस फल के उपभोग की योग्यता भी प्राप्त करता है। फलभोग की योग्यता-प्राप्ति के लिये, पृथक् साधन करने की आवश्यकता नहीं। तदनुसार, हम गोपियां, पूर्व जन्म में श्रुति-रूपा थीं, भगवद् अधर-सुधा भोगके लिये, जो कुशल साधन हमने किये थे, उन्हीं कुशल साधनों से, इस सुधा भोग के योग्य हमें गोपिका-रूप स्त्रीदेह की प्राप्ति हुयी। इसी तरह, इस वेणु ने भी, इसी सुधा-भोग के लिये, हमारा जैसा ही साधन किया होगा-अतः इसे भी, इस सुधा भोग के योग्य, हमारे समान ही स्त्री देह मिलनी चाहिये थी, किंतु इसे स्त्री देह की प्राप्ति नही हुयी। यह प्रकृतितः जड़ ही रहा तथा रसानुभव नहीं कर सका। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसने इस प्रकार के किसी भी कुशल साधन का अनुष्ठान किया ही नहीं।

तदुपरांत, यद्यपि, पूर्व जन्म में, हम शब्द ब्रह्मात्मिका श्रुतियां थीं, तथापि, आधिदैविक शक्ति के प्रवेश विना अर्थात् आधिदैविक स्त्री-देह के अभाव में 'गोपित्व' के बिना—हम, भगवद् अधर-सुधा भोग के अधिकार से वंचित ही रहीं। किंतु जब हमने, भगवान् के अधरामृत पान की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करी कि जिस तरह आपकी गोलोकवासिनी गोपिकायें, आपको अपना रमण-प्रेष्ठ मान कर, आपका उपभोग-सेवन-करती हैं, उसी तरह हम भी आपके साथ रमण करें"—हमारी

यही याचना है"। हमारी प्रार्थना को, भगवान् न, परम अनुग्रहपूर्वक स्वीकार कर ली। अतः भगवद् अनुग्रह से ही हमें इस आधिदैविक देह की प्राप्ति हुयी तथा गोपिकाओं के रूप से व्रज में अवतीर्ण हुयीं'। हम शब्द-ब्रह्मात्मक-स्वरूपा होतीं हुयी भी, स्त्रीत्व गोपित्व के अभाव में, इस सुधा भोग में अनधिकृत ही रही थीं फिर, यह वेणु तो केवल शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति का स्थान मात्र है; हमारी तरह शब्द ब्रह्मात्मक स्वरूप नहीं है। अतः हमारे, शब्द ब्रह्मात्मकतारूप पूर्व स्वरूप को प्राप्त करने जितना भी तो इसने साधन नही किया, तो फिर इस 'रस' की प्राप्ति कराने वाले साधन का अनुष्ठान तो इसने किया ही कहां होगा?

और यह वेणु तो एक वाद्य मात्र है; वाद्य, 'रस' का भोग नहीं करता, उद्-बोधन ही करता है। रस का भोग तो रस की आलंबनरूप हम गोपिकाओं को ही सिद्ध है, यही रस शास्त्र का सिद्धांत है। किंतु, वेणु ने, कुछ ऐसा कुशलाचरण अवश्य किया है, जिसने, इसका संबंध, भगवद् अधर-सुधा से कराया। वेणु होने के नाते, इसका अधर सुधा से संबंध है और यही प्रसिद्ध-'स्म'-है। यदि इस वेणु का, कोई कुशलाचरण नहीं होता तो अन्य और भी बहुत से बांस हैं, उनको छोड़कर इसे ही, भगवान्, अपने श्रीमुख पर क्यों स्थापित करते? "किंतु, "अरि! यह तो रस का पान कर रहा है, और हम असहाय होकर यह सब देख रही हैं, तुम्हारे इस तरह कहने सुनने से प्रयोजन ही क्या?" "अरि सखि! तुम्हारा यह कथन उचित है, तथापि, हे सखियो! गोप्यः! तुम जैसा कह रही हो वैसा नही है। मेरा यह कथन निष्प्रयोजन नहीं है–यह वेणु, अधर पान कर ही कहां रहा है? यह तो, हमारे में मुग्ध-भाव-भोलापना-भावुकता-इतनी अधिक मात्रा में है कि हम प्रतिक्षण यही सोचती रहती हैं कि वेणु, अधर से संलग्न रहने के कारण, सुधा भोग कर रहा है। हमको हमारा मुग्ध भाव ही ऐसी प्रतीति-मात्र करा रहा है वस्तुतः ऐसा नही है–अपने इसी मुग्ध भाव के कारण तो हम गोपी कहलाती हैं। हम हमारी इसी मुग्धता से ऐसी ही क़ल्पना कर बैठती है, बाकी और कुछ नहीं"। "अरि! सुन, हमारे प्राण प्रभु इस वेणु में अपनी अधर सुधा पूर रहे हैं, यह तो तुम और हम सभी देख रही हैं, तो फिर, इसके, सुधा भोग में, इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये"। "हे सखि! यह सच है कि इस वेणु में, प्रभु अपनी अधर-सुधा भर रहे हैं, इसी से क्या यह मान लिया कि यह 'स्वयं-भुंक्ते' यह वेणु स्वयं पान कर रहा है, नहीं, कदापि नहीं। वेणु को सुधा पिलाने के अभि-प्राय से, वेणु में सुधा का पूरण नहीं किया जा रहा, किंतु हम को वितरण करने के लिये ही भगवान् वेणु में सुधा का पूरण कर रहे हैं। किसी में, यदि कोई

वस्तु भरी जाती है तो वह किसी दूसरे के उपयोगार्थ भरी जाती है जिसमें भरी गयी, उसके उपयोगार्थ नहीं 'पूरणस्यान्यार्थकत्वात्'; पात्र में शर्बत, दूसरों को पिलाने के लिये भरा जाता है, पात्र के पानार्थ नहीं। अतः वेणु इस सुधा का स्वयं भोग नहीं करता। जैसे, पूर्व में, श्री यशोदाने, उलूखल से सुदृढ बंधे हुयें, शिशु श्रीकृष्ण को अत्यंत भयभीत देखकर, स्नेहातिशय से चुंबन किया था, तो क्या इस चुंबन-मात्र से यह मानलिया जाये कि श्री यशोदा को भी सुधा भोग की प्राप्ति हुयी। ऐसा कथन उचित नहीं, क्योंकि श्री यशोदा को इसका अधिकार ही नहीं। इसी तरह, यहां वेणु के विषय में भी है, भगवद् अधर के साथ वेणु के संबंध मात्र से, यह कहना कि उसको सुधा भोग का अधिकार है, असंगत है"। इसी तात्पर्य में, यहां 'दामोदर' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् "जिस तरह प्रभु को, उनकी बाल्यावस्था में, श्री यशोदा ने रोष भाव से अपने वश में कर लिये, वही प्रभु, हमारे साथ संभोग अवस्था में, हमारे रस-भाव से हमारे वश होकर, क्यों कर हमारे प्रतिकूल आचरण करेंगे? यहां 'दामोदर' पद में यही ध्वनि हैं। जिस प्रभु को, श्री यशोदाने रज्जु से बांधकर अपने वश में कर लिये थे वहीं प्रभु हमारे प्रणय-सूत्रों से आबद्ध, क्या हमारे वश में नही रहेंगे—हैं और रहेंगे—यह ध्वनि भी यहां 'दामोदर' पद में निहित है। जो रज्जु से बद्ध होता है, वह स्नेह से क्यों न परवश होगा? अतः, वेणु को तो स्वरूपतः भी सुधा अप्राप्त है—और स्थान से भी (स्थानतः) अप्राप्त है—जिस अधर रूपी स्थान में सुधा स्थित है, वहां से भी वेणु को, इस सुधा की प्राप्ति नही है। अधर, लोभात्मक हैं, अधर कदापि वेणु को, यह सुधा प्रदान नहीं करेगा। लोभी, अपनी वस्तु दूसरे को देता हो, यह कभी नहीं सुना। अधर पद का अर्थ, 'अधः' नीचे का प्रदेश' भी होता है। ऊंचे स्थान में स्थित रस तो, नीचे गिरता हुआ सहज ही मुख में ग्रहण किया जा सकता है अन्यथा नहीं तथा निम्नस्थल में स्थितरस हस्तादि इन्द्रियों के व्यापार से-प्रयत्न से ही-प्राप्त किया जासकता है। यह अनुभव सिद्ध है। ऐसी स्थिति में, अधर के ऊपर बैठा हुआ तथा इन्द्रियादि से रहित अतएव तत्सुलभ क्रिया के अभाव में, यह वेणु, अधरस्थ रस का, निम्न स्थल में स्थितरस का, उपभोग-अनुभव-कैसे कर सकता है?

"सुधा, स्त्री जाति है। स्त्री अपने स्वरूप को, स्त्रियों के समक्ष ही प्रकट करती है। रमण प्रसंग में, रसावेश दशा के अतिरिक्त, वह अपने स्वरूप को स्वपति के समक्ष भी प्रकट नही करती तो फिर पर पुरुष के आगे प्रकट करने की संभावना ही कैसी? रस, स्वभाव से ही प्रच्छन्न रहता है, और उसी में उसका रसत्व है।

अतः रस के लिये, स्त्रीलिंग 'सुधा' का प्रयोग किया गया है। तदनुसार, वेणु को, सुधा अपने स्वभाव से ही, अप्राप्य है"। यदि ऐसा ही है, तो फिर, भगवान्, सुधा को तो वेणु में पूर ही रहे हैं, किसी अन्य के लिये ही पूर रहे होंगे, तो वह अन्य कौन है जिसके लिये यह सुधा भरी जा रही है? इस के उत्तर में गोपाङ्गनायें कहती है कि, इस सुधा की एकमात्र अधिकारिणी हम ही हैं–हमारे अतिरिक्त अन्य किसी का भी इस पर अधिकार नहीं है–यह सुधा 'गोपिकानाम्' गोपिकाओं की है, और उनके लिये ही यह भरी जा रही है।

'गोपिकानाम्' पद का यहां एक दूसरा तात्पर्य भी है, इसी तात्पर्य को स्पष्ट करती हुयी, गोपियां कहती हैं कि हे सखि! हम सभी चातुर्य से अनभिज्ञ, भोली, गोप-पत्नियां है। ग्वालिनी मात्र हैं, अतः खुले दिन वृंदावन जाने में असमर्थ है, जा ही नहीं सकती। हमारी इस लाचारी-परतंत्रता से हमारे प्राण वल्लभ अच्छी तरह परिचित है। अतः, निज अधर सुधा की हमको निर्विघ्न प्राप्ति कराने की इच्छा से, हमारे ही पूर्व-रूप शब्द-ब्रह्म में, इस सुधा को आपूरित की, अतः पूरण-समकाल में हमने ही इस का भोग किया है, वेणु ने नहीं। "शब्द' आकाश का गुण है, वेणु के छिद्राकाश में सुधा पूरी गयी थी। वेणु में नहीं, अतः वेणु ने इस सुधा का भोग नहीं किया, हम शब्दात्मिका है, हमने ही भोगी!!! यदि यह कहो, कि "सुधा वेणु के छिद्रों में पूरी गयी है, अन्यथा सुधा तुम लोगों के समीप कैसे भेजी जा सकती थी, अतः वेणु को सुधा भोग है ही"। तो हमारा कथन है कि वेणु के सुधा भोग में और हमारे सुधा भोग में भेद है। प्रथम तो, वेणु स्वयं ही उनकी अधर-सुधा का भोग करता है, किंतु भगवान् हम को तो स्वयं अपनी अधर-सुधा पिलाते हैं। वेणु को, हमारी तरह, अधर-सुधा का स्वयं ही पान नही कराते। इस तरह हमारे सुधा भोग में यही एक महती विशेषता है। अतः यदि वह भी इसका भोग करता हो तो भले ही करे, हम को इससे क्या?

तदुपरांत, यह वेणु तो; इस सुधा का भोजन करता है, पान नहीं। रस, पेय होता है, भोज्य नहीं। पान में ही आस्वाद सुलभ आनन्द की अनुभूति होती है, और रस के आस्वादन में रसनेन्द्रिय की अपेक्षा होती है, वेणु के रसनेन्द्रिय है ही कहां? जिससे वह रस का आस्वादन पूर्वक पान कर सके। रसनेन्द्रिय के अभाव में, वह पान कर ही कैसे पाता होगा? अतः वेणु रस का पान नहीं करता, उसको खाता ही है–और इसीलिये, श्री शुक ने 'भुंक्ते' भोजन करता है, इसी पद का प्रयोग किया है। यद्यपि, भोजन क्रिया में भी रसनेन्द्रिय अपेक्षित है, रसनेन्द्रिय के अभाव में, वेणु, रस को निगीर्ण करके ही अपना उदर भरता है। उदरं भर को भुक्कड

को, पेट भरने से ही काम। चाहे वह पान करे अथवा भोजन करे, दोनों अवस्थाओं में, उसे रस निगीर्ण ही करना पड़ेगा। वेणु, रस के स्वरूप को क्या जानें? अतः इस तरह की आस्वादपूर्वक ग्रहण करने की, उसे आवश्यकता ही नहीं रहती। निगीर्ण भी तो वह स्वप्रयत्न से नहीं कर सकता!!! यदि यह स्वप्रयत्न से भी इसे निगीर्ण करता, तो भी, रस-स्पर्श की संभावना से, इस वेणु को इस रस के स्वरूप का ज्ञान हो सकता था, किंतु यह तो प्रभु के प्रयत्न से ही, अर्थात् प्रभु इस सुधा को इस के मुंह में भर देते हैं- ठूंस देते हैं तभी वह इस सुधा को निगल जाता है, और यह रस उसके गले में से उतरकर सीधा उसके उदर में गिर जाता है। अतः इस सुधा को, निगीर्ण कराने में भी प्रभु को प्रयत्न करना पड़ता हैं और इसीलिये, "अधर-सुधयापूरयन्' अधरसुधा को, वेणु में आपूरित करते हुये" इस पद से 'प्रभु द्वारा ही वेणु में सुधा पूरण की गयी".-श्री शुक ने इसी कथन का समर्थन किया है।

अपनी रुचि से, तृप्ति-पर्यंत, पिया गया रस ही उदर में टिकता है, बाहर नहीं निकलता और न ही कोई विकार करता है, किंतु दूसरों की इच्छा से अल्प मात्रा में भी पीया गया रस, बाहर निकल जाता है, इसीलिये वेणु के मुख से, रस बाहर निकल आया। इसी उद्गीर्ण-रस का पान, सरिता-आदि ने किया जिस का प्रतिपादन 'यदवशिष्टरसं' पद द्वारा किया गया है। वेणु द्वारा, इस तरह भुक्त-रस, उसके उदर में से बाहर निकल आया। रस का अमुक-अंश ही बाहर निकला, ऐसा नही भुक्त-रस, सर्वांश में बाहर निकल आया, उसके उदर में कुछ भी अंश अवशिष्ट नहीं रहा। यदि ऐसा न मानें, तो संपूर्ण-रस के पान से भी जहां, गोपांगनाओं को तृप्ति नहीं होती, वहां रस के अमुक-अंशों के पान से, सरितादि को कैसे तृप्ति होती। यदि वेणु में इसका कुछ भी अंश रह जाता, तो उसे भी अवश्य रोमांच होता। इसी रसांश के पान से सरितादि में रोमांचाश्रु का उद्गम हुआ है। यह हम प्रत्यक्ष देख रही हैं। किंतु वेणु में इन धर्मों का सर्वथा अभाव है, अतः यह सुनिश्चित हैं कि वेणु के उदर में इस सुधा का अंश मात्र भी नहीं रहता। वेणु में, केवल रस-भोग की क्रिया है, किंतु, रस-भोग सुलभ रोमांचादि धर्मों के प्रकट करने की क्रिया दूसरों में अर्थात् सरितादि में है। अतः भगवान् यह नहीं चाहते कि वेणु में रस स्थिर रहे। भगवान् को तो अपनी अधर-सुधा, गोपांगनाओं के पास भेजने की अभिलाषा है, और, इसीलिये उन्होने वेणु को, इस सुधा का वाहक-मात्र बनाया है, इसके द्वारा सुधा को अन्यत्र भेजने के अभिप्राय से, भगवान् ने वेणु के रंध्रों में ही सुधा का पूरण किया है। भगवान् की इच्छा तो इस सुधा

को हम गोपिकाओं के समीप भेजने की है यदि भगवान् की यह इच्छा न होती तो वेणु के एक ही रंध्र में सुधा-पूरण की क्रिया का संभव होते हुये भी, 'रंध्रान् वेणोः' इस वाक्य में 'रंध्रान्'-इस बहुवचनान्त पद से जो अर्थ अभिप्रेत है, उसकी संगति नहीं बैठती अर्थात् सभी छिद्रों में सुधा के एकसाथ पूरण का तथा उसके एक साथ ही छिद्रों से में निर्गमन का कथन सुसंगत नहीं होता। जिस रंध्र में प्रवेश किया गया हो, उसी रंध्र में से, प्रवेश समकाल में ही, बाहर निर्गमन नहीं हो सकता। अतः वेणु के प्रवेश तथा निर्गमन रंध्रों में, सुधा का युगपत् पूरण संभव नहीं। और, प्रवेश तथा निर्गमन रंध्रों के युगपत् पूरण होने पर ही, वेणु में सुधा का अभाव माना जायेगा। प्रस्तुत प्रसंग में, वेणु में सुधा का अभाव है, अर्थात् उसमें सुधा का पूरण तथा निर्गमन, एक कालीन है। और यह एक कालीन प्रवेश तथा निर्गमन तभी संभव है जब एक रंध्र में प्रवेश और उसी समय वेणु के अन्य छिद्रों में से निर्गमन करती हुयी सुधा युगपद् सर्वत्र छिद्रों में आपूरित-व्याप्त हो जाये। संक्षेप में, भगवान् की यह इच्छा है कि वेणु में पूरित सुधा का एक अंश भी उस में न रहे, तथा सर्वांश में, गोपिकाओं को ही प्राप्त हो जाये, अतः उन्होंने वेणु के एक रंध्र में-मुख-रंध्र में-सुधा को प्रविष्ट की। इस तरह एक रंध्र में प्रविष्ट सुधा वेणु के अन्य रंध्रों को आपूरित करती हुयी उसी समय बाहर भी निकल गयी, वेणु में अंश मात्र से भी नहीं रही। जिस समय मुख-रंध्र से सुधा ने वेणु में प्रवेश किया उसी समय अन्य रंध्रों में आपूरित होती हुयी, बहिःनिर्गमन कर गयी। सुधा का वेणु में प्रवेश, रंध्रों में उसका पूरण, तथा उन में से उसका निर्गमन-युगपद्-एककालीन हुआ—अतः वेणु में सुधा का अभाव ही रहा।

"और, जिस तरह, पात्र में भरे गये रस का पान, पात्र स्वयं नहीं करता, उसी तरह, वेणु के छिद्रों में भरी गयी सुधा का भोग यह वेणु कैसे कर सकता है? वेणु केवल मार्ग मात्र है, एक साधन है, इसी मार्ग द्वारा, सुधा को, गोपांगनाओं के समीप भेजना है। इस सुधा का, यह मार्ग रूप वेणु भोग करता है, इसकी कल्पना ही कैसी? यह एक असंगत कथन मात्र है। वैसे, इस मार्ग रूप वेणु में सुधा पूरण से हमें कोई हानि भी नहीं, लाभ ही है। क्योंकि, इस तरह सुधा से पूरित यह वेणु इन सरितादि को, सुधा संवलित नाद से संपन्न करता है, और इस तरह इन को, हम से संबंधित भगवद् लीलाओं के उपयुक्त बनाता है। रसात्मक नाद के प्रवेश किये विना किसी भी वस्तु को भगवद् लीला संबंधी योग्यता प्राप्त नहीं होती। किंतु, संप्रति ये सरितादि तथा तरुलतादि; वेणु द्वारा रसात्मक नाद से सुसंपन्न हो गये हैं। अतः हमारे साथ भगवान् जो जो लीलायें

करेंगे, वह सभी लीलायें, जल स्थल भेद से, इन लीलोपयोगी सरिताओं में तथा इन तरुलतादि निकुंजों में ही होगी। अरि गोपियो ! हमारे लिये तो यह वेणु वरदान रूप ही है। हमारे लिये, यह वेणु, हमारी अभीप्सित वस्तुओं का तथा स्पृहणीय साधनों का संपादन, सहृदयतापूर्वक करता ही रहता है। यदि, आज, वेणु नहीं हो तो यह सबकुछ हमारे भाग्य में कहां लिखा था ? इस वेणुकी संपूर्ण कृति वस्तुतः परिशुद्ध है।"

**नवम-श्लोक पर 'स्वतंत्र'-लेख-माला समाप्त।**

—:o:—

## दशम श्लोक विवरण :–

**वृंदावनं सखि ! भुवो वितनोति कीर्तिं-यद्-देवकी-सुत-**
**पदांबुज-लब्ध-लक्ष्मीम् ।**
**गोविंद-वेणुमनुमत्त-मयूर-नृत्यं-प्रेक्ष्याद्रि-**
**सान्ववरतान्यसमस्तसत्वम् ।१०।**

**पावन परम-रमणीय सखि ! वृंदावन, वसुधा की जामें सारी गरिमा समाई है।**
**देवकी-सुवन-पद-पंकज के अंक लहि, रमा की लुनाई जाके अंक उभराई है ।।**
**जहां इतै तान बद्ध नाचत मयूर मत्त, उतै जब बांसुरी गोविंद ने बजाई है।**
**जेहि गिरि-शिखिर तें, मौन साधि, निरखत, सबहूने तन, मन सुधि बिसराई है ।१०।**

**अर्थ** :–हे सखि ! देवकी पुत्र श्री कृष्ण के चरण कमल के ध्वजादि चिन्हों से समंकित अतएव लक्ष्मी को अर्थात्-परम शोभा को प्राप्त यह वृंदावन, जहां गोविंद की मुरली के नादानुसार किये गये, मत्त-मयूर के नृत्य को देखकर, गिरि-राज के शिखिर पर आरूढ समस्त प्राणी आनन्द से मूक हो जाते हैं, भूमि की कीर्ति को विस्तीर्ण कर रहा है ।। १०.।।

**व्याख्या** :–भगवान् के चरण शुद्ध पुष्टि भक्ति स्वरूप हैं–और वृंदावन, इन चरणों की बिहारस्थली है। प्रस्तुत श्लोक द्वारा, यह प्रतिपादित किया गया है कि वृंदावन-विहार में ही, भगवत्-चरणों का–माहात्म्य है। अर्थात् भगवत्-चरणों के स्वरूप का निरूपण, वृंदावन में, उनसे आचरित विहार के प्रतिपादन द्वारा किया गया है। इस संदर्भ में यह शंका होती है कि वास्तव में देखा जाये तो सभी श्रुतियों ने, भगवद्-चरणों के माहात्म्य का ही प्रतिपादन किया है। और,

सुबोधिनी ने भी, 'देवानां पादाः'–इन पंक्तियों द्वारा, भगवद्-चरणों की विहार स्थली होने के कारण, वृंदावन के भाग्य की प्रशंसा की है, क्योंकि, लोक और वेद में प्रथित-पुरुषोत्तम के चरण ही जहां भूमि का स्पर्श भी नहीं करते वहां लोक और वेद से भी अतीत श्रीपुरुषोत्तम के चरणों का भूमि-स्पर्श कल्पना से भी बाहर है और, वह भी दैत्य संबंधिनी वृंदावन-भूमि का!!! वृंदावन की भूमि दैत्य जालंधर संबंधिनी तो है ही, स्त्री-वृंदा-संबंधिनी भी होने के कारण सर्वथा अधम है। कहां वृंदावन जैसी अधम-भूमि और कहां लोक वेदातीत श्रुति प्रतिपाद्य श्री पुरुषोत्तम के चरण!!! अतः इन चरणों के संबंध से ही वृंदावन का माहात्म्य, उसका स्वरूप उत्तमतया निरूपित होता है, अर्थात् इन चरणों की विहारस्थली होने के कारण– वृंदावन का माहात्म्य है, न कि वृंदावन में विहार करने के कारण चरणों का माहात्मय। अतः, यह जो कहा गया कि वृंदावन-विहार में ही चरणों का स्वरूप उनका माहत्म्य है, यह कथन कहां तक उचित है?

यहां, वास्तव में यह अभिप्राय है कि वृंदावन में, विहारार्थ जिन भगवद्-चरणों का शुभागमन-स्थापन हुआ, वे चरण, लोकवेद से अतीत शुद्ध पुष्टि-भक्ति रूप हैं। भगवद् चरणों ने अपने इस स्वरूप से वृंदावन में ही विहार किया है, अन्यत्र नही यदि, वृदावन नहीं होता तो, भगवद्-चरणों का यह शुद्ध-पुष्टि-भक्ति स्वरूप, उनका यह माहात्म्य, अप्रकट ही रहता। जिन चरणों के संबंध से वृंदावन, अहोभाग्य की चरमता को प्राप्त हुआ, उन्हीं चरणों के लोकवेदातीत शुद्ध पृष्टि स्वरूप का परिचय इस वृंदावन ने ही दिया। भगवान् ने अपनी पुष्टि लीला के लिये, वृंदावन का ही 'वरण' किया है; वृंदावन, पुष्टिमार्ग से अंगीकृत है। लोकवेदातीत जो पुष्टिलीला है, उसके सांगोपांग संपादन में उपयोगी समग्र साधन सामग्री, वृंदावन में ही उपलब्ध है, अन्यत्र नहीं। जिस तरह, वृंदावन के अतिरिक्त, अन्यत्र पुष्टि लीला प्रसिद्ध नहीं है, उसी तरह, इस लीला के नायक, भगवद्-चरण भी, अन्यत्र प्रसिद्ध नहीं है-इस स्वरूप में, ये चरण, यहां वृंदावन में ही प्रसिद्ध हैं। अर्थात्, शुद्ध पुष्टि-भक्ति-लीला के संपादक को भगवद् चरण यहां ही प्रकट हैं। अतः अन्वयव्यतिरेक न्याय से, यह कहा जा सकता है कि जहां, वृंदावन है, वहां, पुष्टि लीला है, जहां पुष्टि-लीलानहीं, वहां, वृंदावन नहीं। शुद्ध पुष्टि मार्ग में अंगीकृत स्थल में ही चरण-लीला, की गयी है। अग्रिम अवतरणों में जैसे निरूपण किया गया है,–'वृंदावनात् गतो दूरम्' पुष्टि-लीला में अनंगीकृत स्थलों से भगवान् दूर ही रहे हैं। जहां शुद्ध-मार्गको प्रकट करने की प्रभु को इच्छा है, वह ही, भगवत्-चरणों के समार्पण पूर्वक पुष्टि-लीला का वर्णन हुआ है। इसीलिये बृहद्-वन में भी **"प्रेक्षन्त्य उज्छित**

गृहा जगृहुः–सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीड़े जनयन् सुदभू-कृष्णस्यगोप्यः"–इत्यादि वाक्यों द्वारा इसी चरण-लीला का कथन किया गया है। कालीय-शिरोनृत्य-लीला में शुद्ध-पुष्टि-भक्ति रूप इन चरणों का प्राकट्य नही है, क्योंकि, यह नृत्य-लीला पुष्टि-लीला में अनंगीकृत ही रही; दुष्ट के दमनार्थ इसी लीला में, संकर्षण-लीला का ही सांकर्य है, अतः यह पुष्टि-लीला से बहिष्कृत है। इसीलिये कालीयकृत भगवत्-स्तुति का स्वरूप भी, पुष्टि से रहित है। इस से यह समझ लेना चाहिये कि जिस लीला में, शुद्ध पुष्टि-मार्गीय भक्ति-मार्ग प्रकट करने की भगवद्-इच्छा रही, वहां ही इन चरणों का आविर्भाव हुआ है। अतः प्रस्तुत श्लोक के 'आभास' में यह जो कथन किया गया है, कि, यहां वृंदावन-विहार के निरूपण द्वारा श्री चरणों के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है, सुंदर तथा युक्ति-युक्त है। यहां, 'लीला' का जो उल्लेख किया गया है वह 'चरणों' के लिये ही हुआ हैं। लीला में और चरण में कोई भेद नहीं-लीला ही, चरण हैं। वस्तु-गत असाधारण धर्म ही, उस वस्तु का स्वरूप माना जाता है। अतः वस्तु के असाधारण धर्म का निरूपण वस्तुतः उस वस्तु के स्वरूप का ही निरूपण है। पुष्टि-लीला, भगवद्-चरणों का असाधारण धर्म है, भगवद्-चरण, स्वभावतः लीला परायण हैं, अतः, इस लीला रूपधर्म के निरूपण में धर्मी-चरणों के स्वरूप का निरूपण ही सिद्ध होता है, क्योंकि, लीला धर्म ही धर्मी-चरणों का परिचायक है। इस प्रकार, सुबोधिनी में, 'देवानां पादौ' से लेकर, 'आधिदैविकावानन्दरूपौ' पर्यंत, जिन अधिभौतिक, आध्यामिक, तथा आधिदैविक चरणों का उल्लेख है, वे सब लोक-वेद प्रथित पुरुषोत्तम के ही चरण हैं–किंतु यहां वृंदावन में तो, लोक वेदातीत पुरुषोत्तम के ही चरण हैं–यहां, इसी 'भाव' को यथावत् समझ लेना चाहिये।

'बर्हापीडं' श्लोक में, जिस वृंदावन-प्रवेश का कथन है. वह 'प्रवेश', प्रथम श्लोकोक्त प्रवेश का (न्यविशत्) अनुवाद मात्र है। इसीलिये और क्योंकि, 'स्वपदरमणम्' यह पद विशेषण धर्मों की प्रधानता से, वृंदावन के विशेषण का निरूपक है, इस कारण से, प्रस्तुत-श्लोक का तात्पर्यर्थ. चरण -स्वरूप का निरूपण ही है, और यही कथन उचित है। इसी तात्पर्यार्थ को प्रमाणित करती हुयी गोपीजन कहती है, कि हे सखि! देवकी सुत श्रीकृष्ण के चरणारविंदों को अपने अंक में धारण किये हुये यह वृंदावन परम-भाग्यशाली है। प्रथम तो देवताओं के ही चरण, भूमि को स्पर्श नहीं करते, तो फिर देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मा आदि के चरणों की छाया भी भूमि का स्पर्श कैसे करेगी? और, इन देवताओं के भी इष्ट-देव, लोकवेद में प्रथित श्री पुरुषोत्तम के विराट्-पुरूष के चरणों के लिये तो

भूमि के स्पर्श की कल्पना ही कहां ? वास्तव में, यह विराट्-पुरुष-लोक वेदातीत श्रीपुरुषोत्तम का अंश-रूप है, तथा 'भूलोक: कल्पित: पद्भ्याम्'–इस उक्ति के अनुसार, इसी विराट्-पुरुष के अधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक-भेद से जो त्रिविध चरण हैं, उनमें से, यह भूलोक, इसी विराट्पुरुष का आधिभौतिक चरण रूप है। इस के आध्यात्मिक-चरण, अतीन्द्रिय हैं, इन्द्रियों से अगोचर हैं। इस के आधि दैविक-चरण आनन्द रूप हैं। यदि इस विराट् पुरुष के आनन्द-रूप अर्थात् आधिदैविक चरण, भूमि का स्पर्श नहीं करते तो फिर, लोकवेदातीत श्री पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरण की भूमि के साथ संबंधिता का विचार ही कैसा? किंतु, इसी पुष्टि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने–लोकवेदातीत श्रीपुरुषोत्तम ने–अपने चरण, भूमिपर वृंदावन में स्थापित किये!!! ब्रह्मा ने उनसे इस विषय में यह प्रार्थना अवश्य की थी कि 'द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकंपिताम्'–"हम पृथ्वी तथा अंतरिक्ष को आपके चरण-स्पर्श से कृतार्थ देखना चाहता हैं"–और, भगवान् श्रीकृष्ण ने उसकी प्रार्थना भी स्वीकारी। प्रभु ने ब्रह्मा की प्रार्थना स्वीकारली यह उचित था, तथापि, हे सखियो! भगवान् को तो यही उचित था कि स्वचरणों को कम से कम, उसी भूमि में स्थापित करते जो शुद्ध होती। वृंदावन में ही स्थापित किये!! अन्यत्र नहीं; वृंदावन भूमि कदापि शुद्ध नहीं मानी गयी, क्योंकि, भूमि में, दैत्य-संबंधिनी भूमि सर्वथा अधम मानी गयी है और उस में भी स्त्री-संबंधिनी भूमि तो सर्वथा अधम-तम मानी जाती है। इस दृष्टि से, वृंदावन कभी शुद्ध भूमि नहीं है। प्रथम तो, यह जालंधर-दैत्य की भूमि है, तदुपरांत, यह इसी दैत्य की पत्नि वृंदा से संबंधित है और इसीलिये तो यह भूमि 'वृंदावन' कहलाती है। ऐसी अशुद्ध अयोग्य तथा अधमाधम इस वृंदावन में हमारे देवकी पुत्र श्री कृष्ण ने अपने चरणारविंद स्थापित किये हैं!!! हे सखि! यह वृंदावन, श्री के निकेतन भगवत् पदांबुज को अपने अंक में धारण करता हुआ श्रीसंपन्न हो गया है!! कहां लोकवेद से अतीत भगवद्-चरणारविंद और कहां यह वृंदावन!!! इसीलिये तो ये चरण-सरोज, नि:साधन फलात्मक माने गये हैं। लोक-वेदातीत श्री पुरुषोत्तम के चरण, वृंदावन में विराजमान हैं–हम, सचमुच, वृंदा को, उसके इस अहोभाग्य के लिये, अभिनंदन देती हैं।" यहां, इस प्रकार के अभिनंदन द्वारा, गोपिकायें, अपनी विरहोत्कंठिता ईर्ष्या को प्रकट कर रही हैं। कहां, दैत्य भार्या इस वृंदा का भाग्य और कहां, भगवद्-वियुक्ता हम व्रज देवियां!!! 'हे सखि! यदि हम से कोई पूछे कि यह वृंदावन भूमि तो लीलोपयोगिनी है अत: यदि भगवान् अपने चरणारविंद वहां स्थापित करते हैं, तो फिर, इसमें आश्चर्य ही कौनसा? फिर, इतनी ईर्ष्या इतना

औत्कंठय, इतनी आतुरता, इतनी अभिलाषा क्यों ?" तो, हम कहेंगी कि 'हमारा हृदय प्रदेश भी तो साक्षात् वृंदावन भूमि ही है। स्त्रियों का हृदय, भूमि की तरह कठिन तथा सहिष्णु कहा गया है। हमारे में भी, भूमि की तरह, उत्तुंग गिरि प्रदेश है, तथा, जिस तरह भूमि में अंत:प्रवाहिनी सरस्वती तथा वहि:प्रवाहिनी गंगा-यमुना आदि पवित्रतोया सरितायें है, उसी तरह, हमारे में भी, भीतर और बाहर, भगवद् गुणानु-वर्णन रूप रस-पूर से उच्छलित स्रोतस्वनियां प्रवाहित हैं। इन सरिताओं की तरह ही, हमारे हृदय प्रदेश में भगवद् रसपूर से परिपूर्ण, यह भगवद् भाव-प्रवाह, जगत को पावन कर रहा है। हमारे में भी रोमावलि रूप सुशोभित वन भी है। अत: जिस तरह वृंदावन, वृंदा स्त्री संबंधित वन है हमारी यह समग्र देह ही रोम-रोम-पंक्तियुक्त, गोपिका-संबंधी वन है। इस तरह वृंदा की तथा हमारी समानता होते हुये भी, भगवान् अपने चरण कमल, वृंदावन में ही स्थापित करते हैं, हमारे में नहीं!! ऐसा क्यों ?" यहां, गोपिकाओं ने यह वर्णन ईर्ष्या से किया है। अत: इस तरह वर्णन करनेवाली गोपिका तामस भक्त है, और यही श्री सुबोधिनीकार की मान्यता है, तदनुसार, पूर्वके तीन श्लोकों से वर्णन करनेवाली गोपिकायें, यथाक्रम, निर्गुण, सात्विक तथा राजस हैं। अमुक टीकाकारों के मत में, पूर्वोक्त तीन श्लोकों से किया गया वर्णन यथाक्रम सात्विक, राजस तथा तामस गोपिकाओं का है, अत: इन के मत में, प्रस्तुत श्लोक से वर्णन करनेवाली गोपिका, क्रमानुसार, निर्गुण है, तदनुसार, यद्यपि, इस गोपिका में ईर्ष्या-भाव का अभाव होना चाहिये, तथापि, निर्गुण होते हुये भी, इस गोपिका ने यहां इर्ष्या सहित ही वर्णन किया है, क्योंकि, इस रस का स्वभाव ही ऐसा है कि किसी समय ईर्ष्या दोष प्रकट हो ही जाता है, किंतु रसानुकूल होने के कारण, वह दोष रूप नही रहकर रस रूप ही बना रहता है।

प्रस्तुत श्लोक में 'हे सखि!' यह संबोधन सम्मत्यर्थ है–अर्थात् मेरे इस कथन में अन्य गोपीजन भी सुसम्मत हैं–इस तरह असूया रहित अथवा असूयापूर्वक कथन करने-वाली गोपिका, यहां कोई विरल ही है, अत:, हे सखि! यह संबोधन भी एक-वचनान्त है, क्योंकि इस कथन में अमुक एक ही सखि सहमत है–अन्य सखियां नहीं।

यदि यहां यह शंका की जाये कि जिस तरह, व्यापि-वैकुंठ में, मुख्य अक्षर-ब्रह्म में, भगवद्-चरणारविंद विराजमान हैं, उसी तरह, यहां वृंदावन में भी विराजमान हैं तो फिर, इसमें इतना आश्चर्य क्यों किया जा रहा है? इसका उत्तर यह है कि 'भुवो वितनोति कीर्तिम्–यदि वृंदावन व्यापि वैकुंठ में ही होता तो कोई चिंता नहीं थी, परंतु, यह तो भूपि पर स्थित है (व्यापि वैकुंठ गोप्य अप्रकटित स्थान है किंतु, वृंदावन तो भूमि पर प्रकट है। इस तरह इन दोनों में परस्पर विभेद है।) और

भूमि पर स्थित होने के कारण, वह तो केवल भूमि की कीर्ति का ही विस्तार करता है, भगवद्-चरणांबुज से हमें जो रसानुभव होता है, वह उसके भाग्य में कहां, हमारे समान रसानुभव से तो वह वंचित रहता है। "वृंदावन में तो भगवान् नित्य-स्थिति करते हैं, अतः प्रस्तुत श्लोक में 'पदांबुज लब्धलक्ष्मि' की जगह 'भगवतालब्धलक्ष्मि' क्यों न कहा"? (इस प्रकार की यह शंका उस गोपिका की है जो भगवान् की, वृंदावन में प्रकट किंतु स्वहृदय में गुप्त-भाव से, नित्यस्थिति मानती है)। इस शंका का यह समाधान है कि 'वह भूमि धन्य है जहां वृंदावन है'—अर्थात् यद्यपि भगवान् वृंदावन में नित्यस्थित हैं, किंतु प्रकटतया नित्य-स्थित नहीं है। प्रकटतया नित्य-स्थिति तो उनके चरणारविंदों की है। 'पद-चिन्हानि तु नित्यान्येव'—लेख.। वृंदावन, आधिदैविक है, अतः, भगवद्-लीला का आधार है, इसीलिये, भगवद्-चरण यहां नित्य ही प्रतिष्ठित हैं। भगवान् यदि, इस तरह, वृंदावन में स्थित हैं, उसी तरह गोपिका के हृदय में भी स्थित हैं तो फिर इतनी ईर्ष्या क्यों? इसका उत्तर यह कि वृंदावन में तो इस चरणों को प्रकटतया दिखाने की सामर्थ्य भी है। वृंदावन की भूमि, जब अनुरागातिशय से द्रवीभूत हो जाती है सार्द्र होती है तब उस पर स्थापित किये गये भगवद्-चरण प्रकटतया उभर आते हैं, प्रदर्शित होते है—अर्थात् अनुराग के कारण, भूमि के आर्द्र स्नेहार्द्र-होने पर, वृंदावन, भगवद्-चरणों को प्रकट करता है उनके दर्शन कराता है। किंतु, हमारे में व्रज-गोपियों में यह सामर्थ्य ही कहां? हम स्नेह से शून्य अतएव अनार्द्र हैं!!! (गोपिका की यह उक्ति, वृंदावन के प्रति, ईर्ष्यापूर्ण कटाक्ष रूप है)। चरणों के प्रदर्शन की भले ही वृंदावन में सामर्थ्य हो, किंतु, भगवान् के प्रदर्शन की वृंदावन में सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि, भगवान् अपराधीन, स्वतंत्र हैं। हाँ, भगवान्, भक्ति से वश में किये जाते हैं, उस समय प्रभु भक्त के आधीन, अस्वतंत्र की तरह, अवश्य दर्शन देते हैं। भक्ति से, वृंदावन, अवश्य प्रभु का प्रदर्शन करा सकता हैं। यदि यहां यह पूछा जाये कि भक्ति से तो प्रभु को सर्वत्र दर्शन देने पड़ते हैं, तो इसमें वृंदावन की ही क्या प्रतिष्ठा? इसके उत्तर में, गोपिका, वृंदावन की प्रतिष्ठा में जो मूल हेतु-निमित्त-है उसका निरूपण करती हुयी कहती है कि—

**यद्देवकीसुत पदांबुज-लब्ध-लक्ष्मी :**—भगवद्-चरण-तल में अंकित कमल, ध्वजा वज्र आदि जो चिन्ह हैं, उनसे समंकित यह वृंदावन साक्षात् लक्ष्मी संपन्न हो गया है। यहां, 'पदाबुज' में जिस अंबुज का उल्लेख है वह भगवद्-चरण-तलगत कमल-चिन्ह है, यह 'कमल-चिन्ह' ध्वजा आदि अन्य चिन्हों का उपलक्षक है—'अंबुजपदं चरण-चिन्हमात्रोपलक्षकम्'—लेख.। तदनुसार, उपर्युक्त श्लोक-पंक्ति का अर्थ इस तरह

होता है कि, अंबुज उपलक्षित ध्वजा, वज्र आदि चिन्हों से प्राप्त की है लक्ष्मी-शोभा-जिसने ऐसा यह वृंदावन है 'मूले पदस्थितं यद् अंबुजं चिन्हं उपलक्षणेन ध्वजादीन्यपि तैर्लब्धलक्ष्मीत्यर्थ':—लेख. । वृंदावन, भगवद्-चरण तल-गत अंबुज-ध्वजादि चिन्हों से समंकित है, इन चिन्हों से श्री संपन्न यह वृंदावन, परम रमणीय बन गया है —भगवद्-चरण रूपता को ही प्राप्त हो गया है—ध्वजादि विशिष्टता ही पादरूपता है जैसे ध्वजादि विशिष्ट-चरण वैसे ही ध्वजादि विशिष्ट वृंदावन 'पादतलमेव संपन्नम्' और यह युक्त ही है। इसीलिये वृंदावन को तो भक्ति की भी अपेक्षा नहीं, क्योंकि, भगवद्-चरणारविंद स्वयं भक्तिरूप हैं और वृंदावन साक्षात् भगवद् चरणारविंद रूप है। और, यही वृंदावन की प्रतिष्ठा में मुख्य हेतु निमित्त है।

**यद् देवकी-सुत :**—वृंदावन भगवद्-चरणों की रमण-स्थली है—'स्वपदरमणम्' उसी तरह वनस्थिता सुंदरी-वृंद के वक्षस्थल तथा व्रजस्थिता देवियों के हृदय-प्रदेश भी, इन चरणारविंदों के रमणीय-रमण-स्थल हैं। अतः यहां गोपांगनाओंने, प्रभु के साथ आचरित अपने स्वच्छंद-रमण का निर्देश करने के लिये ही श्रीकृष्ण को 'देवकी-सुत' कहा है, 'यशोदा-सुत' नहीं। क्योंकि, ये व्रजदेवियां, नन्द-गोप के घर की यहां रहनेवाली कुमारिकायें हैं। तदनुसार, नंदगोप से संबंधित, कन्याओं का, यशोदा-सुत से ऐसा संबंध लोक-दृष्टि में निषिद्ध होने के कारण श्रीकृष्ण के लिये देवकी-सुत का प्रयोग ही यहां समुचित है। तदुपरांत, देवकी सुत कहनेवाली यह गोप कन्या, श्री देवकी का, श्रीकृपा से प्रसूति-मात्र का ही संबंध मानती है, अन्य प्रकार का कोई भी संबंध उसे स्वीकार्य नहीं है, अतः 'पुत्र' शब्द का प्रयोग न करके 'सुत' प्रसव-देनेवाली शब्द का ही प्रयोग किया है। यहां, यह प्रश्न किया जा सकता है, कि यदि देवकी का, प्रभु से प्रसूता मात्र का ही संबंध है, तो फिर, प्रभु को यहां वसुदेव-पुत्र भी ही कह सकते थे देवकी सुत ही कहने में क्या अभिप्राय-विशेषता है?

इसका उत्तर यह है कि पुष्टि-मार्ग में स्त्रियों का ही प्राधान्य हैं। अतः यहां, 'देवकी' पद से स्त्रियों के प्रति, भगवद्-कृपा का भी निर्देश किया गया है। पुष्टि-मार्ग में स्त्रियों के प्राधान्य का उल्लेख हम अनेक बार कर चुके हैं। भक्ति-मार्ग में, भगवान् के चरण ही प्रधान है, और, ये चरण, अंबुज-रूप हैं। अंबुज-कमल की उत्पत्ति, अंबु से अर्थात् जल से है, इस तरह, अंबुज, अपनी जल से उत्पत्ति के कारण स्त्रियों के हृदय-ताप का शामक है, अतः पदांबुज उनके हृदय की शोभा रूप है वहां ही अपनी शोभा को, अपनी ताप-निवारक सार्थकता को प्राप्त करता है। स्त्रियों के हृदय स्वभावतः प्रभु-स्नेह से रसार्द्र रहते हैं अतः प्रभु के चरणांबुज, वहां ही

प्रकट होकर, उनके भगवद्-विरह-जनित ताप का शमन करते हुये, उनके हृदय की रसार्द्रता-रसमयता-को अक्षुण्ण रखते हैं अर्थात् भगवत्-पदांबुज स्त्रियों के हृदय में ही तापहारक रूप से सुशोभित होते हैं–स्त्रीणामेव हृदये तापहारकत्वेन शोभते' सुबो. ।

भगवान् के इन पदांबुज-संबंधी ध्वजा, वज्र, अंकुश आदि चिन्हों की शोभा; वृंदावन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी प्रतिफलित अंकित नहीं होती। और, क्योंकि, यहां वृंदावन में ही यह शोभा आविर्भूत हुयी है, अतः ध्वजादि विशिष्ट चिन्हों से संपन्न यह वृंदावन भगवद् चरणत्व को प्राप्त हुआ है, भगवत्-चरण-रूप ही है। इन चरणारविंदों में लक्ष्मी नित्य, सहज रूप से, निवास करती है, अतः वृंदावन में भी उसकी नित्य स्थिति है। वृंदावन ने, भगवद्-पदाबुंजों से ही लक्ष्मी को उपलब्ध की है; चरणांबुजों से ही, वृंदावन 'लब्ध-लक्ष्मी' बना है–"अतः पदांबुजै-र्लब्ध-लक्ष्मीर्येन"–इति ।

भूमि जब सान्द्र-स्निग्ध बनती है। अनुराग से आर्द्र होती है, तभी उस पर स्थापित चरण-तल के चिन्ह प्रतिफलित-अंकित होते हैं। वृंदावन की भूमि, जब अनुराग से सिक्त हुयी, तव उस पर, भगवान् ने अपने पदांबुज स्थापित किये। वह इनके चिन्हों से समंकित हुयी। अनुराग से आर्द्र, अतएव भगवत्-पदांबुज-चिन्हों से प्रतिफलित इस भूमि ने, वस्तुतः वृंदावन को, उस तरह अत्यंत उपकृत किया है। यदि भूमि, अनुराग से आर्द्र न होती, तो चरणांबुज कैसे प्रतिफलित होते? और यदि चरणांबुज-चिन्ह, प्रतिफलित नहीं होते तो फिर वृंदावन, 'लब्ध लक्ष्मी' क्यों कर कहलाता? अतः हम यही मानती है, कि भूमि के द्वारा ही उसे यह लक्ष्मी की प्राप्ति है–'भूमिकृतैव सा लक्ष्मी प्राप्तिः"। इस भूमि ने, वृंदावन का, लक्ष्मी-सुसंपन्न बनाने में, महान उपकार किया है। वृंदावन, भूमि का कृतज्ञ है, अतः यदि वह भूमि की कीर्ति का विस्तार कर रहा है, तो उचित है। भूमि की तरह, हमारे में अनुराग सुलभ इतनी आर्द्रता-स्निग्धता का अभाव ही है, इसीलिये तो, हम व्रज देवियों के हृदय प्रदेश पर, हमारे प्रभु ने अपने पदांबुज, न स्थापित किये, और न ही हम चरणांबुज चिन्हों से शोभातिशयता को प्राप्त हुयी। (इस प्रकार का यह सदैन्य निवेदन पूर्वोक्त निर्गुण गोपी का ही है।) और, यह वृंदावन भी कितना सहृदय है कि अनुरागमयी इस भूमि से उपकृत होकर, उसकी कीर्ति को दिगंत में फैला रहा है। भूमि ने वृंदावन को कृत कृत्य किया वृंदावन ने भूमि को। भूमि ने वृंदावन को लक्ष्मी प्राप्त करायी, अतः वृंदावन भी यदि भूमि का यशोगान करे तो उचित ही है। यहां 'यद्-देवकीसुतपदांबुजलब्धलक्ष्मी' इस पद में 'यद्' भूमि के लिये प्रयुक्त

हुआ है, तदनुसार यहां 'यद्' का अर्थ है "भूमि-द्वारा प्राप्त की है भगवद् पदांबुज की लक्ष्मी जिसने"–ऐसा वृंदावन। तदुपरांत वृंदावन की, भूमि-प्रति यह प्रत्युपकारिता भी उसकी प्रतिष्ठा का एक कारण है। वृंदावन की प्रतिष्ठा के मुख्य हेतु का उल्लेख इससे पूर्व किया जा चुका है।

वृंदावन ने, केवल लक्ष्मी ही प्राप्त करी है, ऐसा नही है किंतु उसको तो भक्ति और ज्ञान भी उपलब्ध हुये हैं। हे सखि ! भगवान् जब मुरली नाद करते हैं, तब ऐसा लगता है मानों नील-मेघ मधुर मंद्र स्वर में गर्जना कर रहा है। उसको सुनकर मयूर, मत्त हो जाते हैं, और उन्मत्त हो कर नृत्य करने लगते हैं। हे सखि ! जब प्रभु वेणु नाद करते हैं तब, सब कुछ विस्मृत हो जाता है और, मन नाचने लगता है। मयूर की यह अवस्था देखकर, प्रतीत होता है कि 'इस में भक्ति का उद्रेक हुआ है; इसीलिये तो अपनी देह की सुध-बुध खोकर, उन्मत्त की तरह, देखो ! यह मयूर नाच रहा है!!! हमारे मोहन के मुरली निनाद ने इसको भक्ति-रस से आप्यायित कर दिया है। सब कुछ विस्मृतिपूर्वक, पागल-सा थिरक रहा हैं। इसको यह जो भक्ति प्राप्त हुयी, वह वस्तुतः वृंदावन को ही प्राप्त हुयी है। मयूर-वनस्थ है, अतएव यह स्वयं वनरूप ही है। मयूर, वनका अंग है, अतः स्वयं वन ही तो हैं। वन में, सतत स्थिति रूप अपने असाधारण-धर्म के कारण, मयूर, वन-भावापन्न है। अतः मयूर की प्रशंसा, उसकी उपलब्धि, स्वयं वृंदावन की ही प्रशंसा तथा उपलब्धि है। जो रस, मयूर को प्राप्त हुआ वह वस्तुतः वृंदावन को ही प्राप्त हुआ है। यह वृंदावन वस्तुतः प्रशंसनीय है, जहां, गोविंद की मुरली निनाद के अनुसार मयूर मत्त होकर, थिरकथिरक कर नृत्य कर रहा है। ऐसा है यह वृंदावन !! भक्ति भाव से उन्मत्त हो उठा है। मयूर वन है, अतः उस की प्रशंसा द्वारा वृंदावन की ही प्रशंसा की गयी है। मयूरगत भक्ति उद्रेक, वृंदावन का ही भक्ति-रस-पूर्ण उन्माद है। इतना ही नहीं, वृंदावन के गिरिराज शिखिर पर आरूढ अन्य सभी प्राणीवर्ग मत्त मयूर के नृत्य को देखकर, मौन-आवाक्-हो जाते हैं। इस वृंदावन को भक्ति तो प्राप्त है ही, लीला के ज्ञान की सिद्धि भी उपलब्ध हो गयी है!!! क्योंकि भगवद्-भक्ति के ज्ञान से ही, मौन भाव प्राप्त होता है। मौन भाव, भगवद् लीला-ज्ञान का कार्य-लक्षण है। यहां मयूर एकवचनान्त है, अर्थात् जाति-अपेक्षा, एक वचन है, जिसका अभिप्राय यह है कि भक्त विरल ही होते हैं, मयूर भक्त है और एक ही है। अन्य नानाजातीय, पशु-पक्षि आदि जीव (अन्यसमस्तसत्वम्)। ये सभी ज्ञानी है, क्योंकि ज्ञानी जीव यत्र तत्र सर्वत्र ही उपलब्ध होते हैं, मयूर रूप-भक्त की तरह अप्राप्य नहीं।

यहां यह शंका होती है कि ज्ञान का फल ऊर्ध्वगमन है, ज्ञानी की ऊर्ध्व-गति मानी जाती है, इसीलिये, नीचे भूतल पर, स्वभावतः विलों में ही रहनेवाले जीव जन्तु, ज्ञानी क्यों कर माने गये ? इस का उत्तर यह है कि ये सभीजीव, भूतल पर, नीचे कहीं भी स्थित रहे हों, अन्त में. मयूर के नृत्य को देखने के लिये गिरिराज के शिखिर पर ही आरुढ हुये। इस तरह स्वस्थान त्यागपूर्वक शिखिर पर, उनकी स्थिति ऊर्ध्व-गमन ही कहलायेगी। "स्वस्थान-त्याग उर्ध्वगमनम्" यहां वृंदावन में, यत्र तत्र निवास करनेवाले सभी जीव पर्वत के ऊपर ही आरूढ होकर, भक्ति भाव के आवेश में किये गये इस नृत्य को देखकर अवाक् हो गये, भक्ति-भाव के उद्रेक से किया गया यह नृत्य इतना मनो मुग्धकारी था कि, जीवजन्तु सभी आनन्दातिशय से मौन हो गये। भगवद् लीला का ज्ञान होने पर, जीव, मौन हो जाता है–अर्थात् भगवद्-लीला के ज्ञान से, जीव दोष रहित होता है, दोषाभाव से आनन्दमयता का उद्‌गम होता है और परमानन्द की स्थिति में, जीव मौन हो जाता है–"भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः" ।। १० ।।

**दशम श्लोक संपूर्ण**

——: 0 :——

## वेणु के ऐश्वर्य आदि षड्धर्मों का निरूपण-कारिकाओं का विवरण

**एवं रूपवर्णनामुक्त्वा षोढा वेणुं वर्णयन्ति धन्यास्त्विति षड्भिः।**

**कारिका :–**

**हरिण्योप्सरसो गावः पक्षिणो नद्य एवच, मेघाश्चेति क्रमेणैव कृष्णैश्वर्यादि बोधकाः ।। १ ।।**

**ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदा, निरूपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिणः ।। २ ।।**

**वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः,**
**सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्छा तेन ततो महत् ।। ३ ।।**

**यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात्,**
**स्वधर्मं योजयेत् तेषु तदा भवति नान्यथा ।। ४ ।।**

**तामसा राजसाश्चान्ये गुणातीताश्च रूप्यते,**
**वृंदावनं गुणातीतं मुनयश्चापि पक्षिणः ।। ५ ।।**

गोवर्धनश्च त्रितयं गुणातीतमिह स्थितम्,

तद्गताश्चापिलोकेऽस्मिन् गुणातीता भवन्ति हि ।। ६ ।।

"यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यते"–

इति श्रुति न्यायेन सर्वे एव विहगा भगवदीया अपि परमं श्रियं प्राप्नुवन्ति ।

श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदि,

ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात् स्वभाव-विजयो यदि ।। ७ ।।

हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्व निवेदनात्,

उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदा ।। ८ ।।

भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिता ।। ८½ ।।

**व्याख्या :**–इस प्रकार 'अक्षण्वतां' श्लोक से लेकर, 'वृंदावन सखि !' श्लोक पर्यंत चार श्लोकों में, भगवत् स्वरूपात्मक वेणुनाद का वर्णन किया गया है। सप्तम एवं अष्टम्, इन दोनों श्लोकों द्वारा. भगवान् के संयोग एवं वियोग भेद से द्विविध शृंगार-रसात्मक स्वरूप का वर्णन है–नवम श्लोक में भगवद् अधर सुधा का तथा दशम-श्लोक में भगवान् के 'पदांबुज' रूप वृंदावन का उल्लेख है। भगवान् का जो लीलात्मक स्वरूप है, उसका प्रधान आकार उपर्युक्त श्लोक-चतुष्टय है। संयोग-वियोगरूप द्विविध शृंगार रसात्मक श्री अंग-नटवरवपु, अधर-सुधा तथा पदांबुज, यह तीनों, भगवान् के लीला स्वरूप की मुख्य रेखायें हैं, जिन के अभाव में. लीला-स्वरूप का स्पष्ट अवबोध नहीं हो सकता, इसीलिये, पूर्वोक्त चारों श्लोक भगवान् के लीलात्मक-स्वरूप की मुख्य पीठिका-सिंहासन-अर्थात् आधार-स्तंभ हैं।

यहां यह समझ लेना चाहिये यह 'वेणु-नाद' भगवत्-स्वरूपात्मक है। वेणुनाद के स्वरूप का वर्णन, भगवत् स्वरूप का ही वर्णन है, अतः पूर्वोक्त श्लोक चतुष्टय से वेणु-नाद के स्वरूप का ही वस्तुतः निरूपण किया गया है। वेणु का स्वरूप, वपुयुक्त है, स-विग्रह है। 'बर्हापीडं' श्लोक में यही प्रतिपादित किया गया है। वहां, गोपांगनाओं को नाद की अनुभूति समकाल में ही, स्वरूपानुभूति हुयी स्वरूप का अनुभव, नाद से पृथक् नहीं हुआ। अतः नाद और स्वरूप पृथक् नहीं है, नाद में ही स्वरूप प्रतिष्ठित है। अतः पूर्वोक्त श्लोक चतुष्टय में, प्रभु के द्विविध रसात्मक-स्वरूप का निरूपण तथा साथ साथ ही चरणयुगल का-पदांबुज का-जो निरूपण किया गया है, वह वास्तव में वेणु के स्वरूप का ही वर्णन है। इस तरह, वेणु के स्वरूप का, पूर्वोक्त श्लोकों द्वारा वर्णन करके, अब अग्रिम षड्-श्लोकों से, वेणु के छहों धर्मों का ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य, का वर्णन

किया जाता है। वेणु में, प्रभु, स्वरूपत: तथा धर्मत: प्रतिष्ठित हैं। वेणु का स्वरूपत: निरूपण हो चुका है अब, आगे उसका धर्मत: निरुपण किया जायेगा।

**'धन्यास्तु मूढमतयोऽपि'**—इस एकादश श्लोक से प्रारंभ होने वाले अग्रिम छहों श्लोकों में यथाक्रम निरूपित किये गये, हरणियां, अप्सरायें, गायें, सरितायें तथा मेघ, भगवान् के यथाक्रम ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य धर्म के बोधक हैं, अर्थात् भगवान् के ऐश्वर्य-धर्म की बोधक हरिणियां हैं, वीर्य की अप्सरायें, यश की गायें, श्री की सरितायें, ज्ञान के पक्षि तथा वैराग्य के मेघ, यथाक्रम बोधक कहे गये हैं।

**'धन्याऽस्तु'** श्लोक में प्रभु के ऐश्वर्य-धर्म का वर्णन है। लोक में, जब मूढ-स्वभाव के प्राणी भी, ईश्वर का सन्मान करता हो तो इस तरह किया गया यह सन्मान उसके अनन्त-ऐश्वर्य का सूचक है—ऐसा विद्वानों का मत है। मनुष्यादि देह में अवतरित, तथा ईश्वरत्व की सूचक सामग्री को अप्रकट ही रखता हुआ, यदि मानव देह-धारी प्रभु, मूढ-पशुओं द्वारा भी पूजित होता हो, तो वह उसके सहज ऐश्वर्य का ही सूचक है। और, यह कथन उचित है, क्योंकि ज्ञानी पुरुष भी, ऐश्वर्योचित सामग्री से रहित-प्रभु का जो पूजन करता है, वह इसीलिये कि उसको प्रभु के स्वरूप का ज्ञान है। किंतु, मूढ-मति पशु को, प्रथम तो भगवत्-सरूप का ज्ञान ही कहां? तदुपरांत, भगवान् भी मनुष्य देह में, अपनी ऐश्वर्यानुरूप संपन्नता को छिपाये हुये ही उपस्थित हैं—अत:, हरिणियों जैसे मूड-पशुओं द्वारा किया गया प्रभु का यह सत्कार-पूजा-प्रभु के महान् ऐश्वर्य का निर्देश करता है। प्रभु में प्रतिष्ठित इस परमैश्वर्य का अवबोधन, हरिणियों को, स्वयं प्रभु ने ही कराया है। स्वयं भगवान् ही, स्वनिष्ठ-अपने में प्रतिष्ठित-ऐश्वर्य का ज्ञान हरिणियों जैसे मूढ पशुओं को करा सकते हैं।

**'कृष्णं निरीक्ष्य'** इस बारहवें श्लोक में, प्रभुके वीर्य धर्म का वर्णन है। देवता, निर्जर कहलाते हैं, क्योंकि, इनमें वृद्धावस्था का अभाव है। बाल, कुमार तथा युवा अवस्था, अपनी इन तीन ही अवस्था के कारण ये त्रिदश कहलाते हैं। अनेक गुणों से संपन्न होने के कारण विबुध कहे जाते हैं। इस तरह, देवतागण, मनुष्यों की आपेक्षा अधिकाधिक वीर्यशाली हैं। अप्सरायें, देवता हैं। समुद्र-मंथन के समय इनकी उत्पत्ति होने के कारण अप्-अर्थात् जल से उत्पन्न होने के कारण, इनको 'अप्सरा' कहते हैं—'अप्सु मथनात् जातास्तस्मादप्सरसोऽभवन्' अत:ये अप्सरायें अमृत-शरीरिणी हैं। सदैव षोडश-वर्षीया हैं। ऐसे देवों की, ऐसी देवांगनायें, मनुष्य रूप में प्रतीयमान भगवान् को देखकर, स्वकीय देव पतियोंकी सन्निधि में, यदि उसके-प्रभुके-प्रति काम-भाव से मोहित हो जाती हों, कामा वेश से मूर्छा को प्राप्त हो

जाती हैं, तो वह भगवान् के परम-वीर्य का ही सूचक हैं। मनुष्य, मानवी के काम की ही तृप्ति नहीं कर सकता, तो, देवांगनाओं की तृप्ति की कल्पना ही कहां ? देवांगनायें, जिस रस को चाहती हैं, वह उनको मनुष्य से कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता। यदि, देवांगनायें, मनुष्य-रूप भगवान् को देखकर, अपने अपने पतियों से आश्लिष्ट होती हुयीं भी, यदि भगवत्-प्रति काम भाव से मूर्च्छित हों तो वह भगवान् के अनन्त-वीर्य का ही प्रभाव माना जायेगा। भगवान् ने यहां अपना कोई अलौकिक स्वरुप प्रकट नहीं किया मनुष्य जैसे ही प्रतीत हो रहे हैं। भगवान् के मात्र वनितोत्सव चारु वेष को देखकर तथा उनके वेणु क्वणित को सुनकर, देववधुओं को भी, सामान्य मानवी की तरह मूर्छा आगयी !!! भगवान् का यह वीर्य, महत् हैं, मर्यादा-मार्गीय वीर्य से भी अधिक-महत्तम !!!

**'गावश्च'**–इस त्रयोदश श्लोक में, प्रभु के यश-धर्म का वर्णन है। वैसे तो प्राणी-मात्र को, विषयों में आसक्ति होती है-किंतु, जो स्वभावत: मूढ होते हैं, उनकी आसक्ति, दुर्वार मानी गयी है। ऐसे मूढ-जीवों की विषयासक्ति को, विषय से निवृत्त करके, यदि कोई अपने प्रति ही केंद्रित कर दे तो, यह उसके महद्-यश की सिद्धि हैं। यहां गाय आदि पशुओं की तृणादि के प्रति, अनिवार्य प्रत्यक्ष आसक्ति है, क्योंकि, तृणादि उनकी क्षुधा का निवारक है, उनके लिये जीवन रूप है। जीवन के मुख्य आधार इन तृणादि के प्रति, सहज-मूढ़ इन गायों की जो जन्म-सिद्ध आसक्ति है, उनकी इसी आसक्ति को, तृणादि से हटाकर, अपने स्वरूप सौंदर्य के प्रति स्थिर कर दी !!! अपने अनन्त स्वरूप-सौंदर्यामृत-धर्म को, उनमें-गायों में-प्रतिष्ठित कर दिया। भगवान् का यही प्रकट यशोधर्म है। यह कोई मर्यादामार्गीय प्रत्युपकार की भावना से किया गया उपकार-रूप यशो-धर्म नहीं है, किंतु, नि:साधन गायों को प्रदान किया गया यह भगवद् कृपा का एक सहज उपहार है। गायों के अन्त:करण को आनन्दोत्सव से संपन्न करने-वाला, अपने स्वरूपानन्द का यह अहैतुक यशोदान है। गो वत्सों के अन्त:करण को इसी स्वरूपानन्द से विभोर कर देने की अपनी वृत्ति के कारण, यहां, भगवान्, 'गोविंद' कहे गये हैं।

**'प्रायोवताम्ब !'** इस चतुर्दश श्लोक में प्रभु के श्री-धर्म का वर्णन है। जगत् में जितने भी प्रकार के आनन्द अथवा सुख हैं, उनकी परमावधि लक्ष्मी-श्री-कही गयी है। श्री से संपन्न व्यक्ति ही सर्व-सुख का उपभोग करता है। अमृत-पान से अधिक अन्य कोई आनन्द अथवा सुख भी कहीं नहीं माना गया। जो अमृत-पान करता हो, उसकी श्री-संपन्नता का तो कहना ही क्या ? प्रस्तुत-प्रसंग में, वृक्ष की शाखाओं पर आरूढ पक्षिगण, वेणु-नाद रूप अमृत का पान कर रहे हैं, अमृत-पान, श्री की अनन्तता

का सूचक है। यहां, ये पक्षिगण, प्रभुके अनन्य भक्त, उनके परम सेवक हैं। जिसके सेवक गण इतने श्री संपन्न हैं, कि अमृत-पान करते हों, तो फिर उनके स्वामी भगवान् की संपन्नता का वर्णन ही क्या ? इतना ही नहीं, जो व्यक्ति, श्री संपन्न होता है, उसके समक्ष वीणा वादन किया जाता है, यह कथन श्रुति-प्रसिद्ध है। भगवान् के सेवक, विहंग गण, तरु शाखाओं पर आसीन होकर यहां वेणु-नादामृत पान में मग्न हैं, और, नीचे उनके समक्ष, स्वयं उनके स्वामी प्रभु वेणु का अर्थात् वीणा का वादन कर रहे हैं। यहां वेणु नाद, वीणा के मधुर-नाद का उपलक्षक है-अतः वेणु-नाद, यहां वीणा का नाद ही है। विहंग रूप सेवकों की इस-श्री-समृद्धि से, उनके स्वामी प्रभु-के 'श्री' की निःसीमता का, क्या, आनुमान किया जा सकता है? यहां पक्षियों की श्री, भागवत्-स्वरूप में स्थित श्री का कार्य रूप है। पक्षियों की कार्यरूप श्री से भगवान् की कारण-रूप श्री का यहां अवबोध कराया गया है।

**'नद्यस्तदा'**– इस पंचदश श्लोक में प्रभु के 'ज्ञान'-धर्म का वर्णन है। ज्ञानसे, स्वभाव पर विजय-प्राप्त होता है-और, ज्ञान का यही उत्कर्ष-प्रभाव है। निरंतर गतिशीलता अर्थात् गति-वेग ही सरिताओं का स्वभाव है। वेणु-नाद से, नदियों का गति वेग भंग होगया, उनकी गति, रुद्ध होगयी, उनका, अस्थिरता का स्वभाव, स्थिरता में परिणत होगया। वेणु-नाद से जिस ज्ञान का उदय हुआ, उसी ज्ञान के प्रभाव से, उसके उत्कर्ष से, नदियों ने अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त की। नदियों में, स्वभाव-विजय रूप से, ज्ञान-लक्षण का अविर्भाव हुआ, यहां, नदी रूप प्रभु के सेवक में ही जब ज्ञान का इतना उत्कर्ष है, तो फिर, भगवान् के अनन्त ज्ञानोत्कर्ष का कहना ही क्या ?

**'दृष्टवाऽतपे'**– इस षोडश श्लोक में प्रभु के वैराग्य-धर्म का वर्णन है। समस्त पदार्थों में अनासक्ति एवं उनका परित्याग-वैराग्य का सामान्य स्वरूप है। स्व सर्वस्व के निवेदनपूर्वक, भगवान् के चरण कमल में ही एकांत आसक्ति, पुष्टि-मार्गिय-वैराग्य का स्वरूप है, और यही वैराग्य उत्कृष्ट है। इस प्रकार के वैराग्य-भाव से संपन्न भक्त, यदि अपने सुख की एकमात्र उपयोगिता, प्रभुके दुःख निवारण में ही समझता है, तो यह उसके वैराग्य-धर्म का परमोज्ज्वल स्वरूप है, और, यही पुष्टि-मार्गीय सर्वोत्कृष्ट वैराग्य है। स्वसुखेच्छा के त्यागपूर्वक, अपने प्रभु के सुख की निरंतर भावना में ही सेवक के वैराग्य की महिमा है। हरि सर्व के दुःख हारक हैं, इसीलिये, भगवान्, हरि कहलाते हैं। सर्व दुःखहर्ता हरि के भी, शीत, आतप सुलभ क्लेश-निवारण की भावना का उदय, भक्त में, प्रभु के प्रति स्नोधिक्य को लेकर होता है। स्नेह की यही विलक्षणता है।

"सर्व-समर्थ-प्रभु को श्रम नहीं होता ऐसी मान्यता है-किंतु, सिद्धांत यह है कि प्रभु को श्रम होता है और इसीका प्रतिपादन युगल-गीत में किया गया है। जिस तरह प्रभु को श्रम होता है उसी तरह उनको शीतादि भी सताते हैं–'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'-इस-श्रुति-कथन के अनुसार यद्यपि मर्यादा मार्ग में प्रभु भोजन नहीं करते; किंतु पुष्टि-मार्ग के सिद्धांतानुसार भगवान् भोजनादि करते ही हैं। अत: यह कथन कि सर्वदु:ख-हर्ता भगवान् के आतप-सुलभ तापका-दु:खका-मेघने निवारण किया युक्ति युक्त है"।

मोक्ष पर्यंत सभी फ़लेच्छाओं से निरपेक्ष किंतु एकमात्र प्रभु के सुख संपादन में अनन्यतया आसक्त जो भक्त हैं उसके ही हृदय में यह भावना-भगवद्-दु:ख निवारण का भाव-समुदित होता है। यही वैराग्य है– जिसकी सिद्धि एक मात्र अनन्य-स्नेह से ही संपाद्य है। भगवद्-दु:ख निवारण रूप यह सेवा यहां, मेघ ने की। मेघ ने यह जो सेवा की, उसमें, उसका एक मात्र प्रेरक स्नेह ही था-भगवान् के प्रति उसके हृदय में उभरता हुआ सहज-स्नेह!! श्रीमद्-आचार्य-चरण आज्ञा करते हैं कि पुष्टि मार्गीय को इसी भावपूर्वक अपने स्वामी-प्रभुकी सेवा करनी चाहिये। भगवत्-सौख्य-संपादिका सेवा में, भक्त का स्नेह ही नियामक हैं, शास्त्र नहीं-इसीलिये, शीतकाल में वह प्रभु को ऊष्णोदक से स्नान कराता है–'सा सेवा सेवकोचिता'-मेघने जो सेवा की, वही देश कालानुरुपा, भगवद् सौख्य-संपादिका सेवा, सेवक के लिये मान्य की गयी है। मेघ द्वारा आचरित यह सेवा, सख्य-भक्ति रूपा है-घन और श्याम समान ही तो हैं-और, समानशील व्यसनवालों में ही तो परस्पर सख्य होता है। भगवान् का कारण रूप वैराग्य-धर्म ही, मेघ में कार्य-रूप से प्रकट हुआ है; भगवान् के सेवक-मित्र में ही जब ऐसा वैराग्य है तब, क्या भगवान् का नि:सीम वैराग्य-धर्म, वर्णन का विषय बन सकता है?

**'राजसास्तामसाश्चान्ये'**- 'अक्षण्वतां' इस सप्तम श्लोक से लेकर 'हंतायमद्रि' इस अष्टादश श्लोक पर्यंत, बाहर श्लोकों में, जिस चरित्र का वर्णन किया गया है, उस चरित्र का तथा उसका वर्णन करनेवाली गोपीजन का, सगुण-निर्गुण भेद से निम्नानुसार वर्गीकरण किया जा सकता है :-

१. प्रथम तीन श्लोकों में यथाक्रम तामस, राजस तथा सात्विक भक्तों के चरित्र का वर्णन है। (यहां **'तामसा राजसाश्चान्ये'** इस पंक्ति में 'अन्ये' का 'सात्विक' अर्थ है)

२. दशम श्लोक में गुणातीत वृंदावन का वर्णन है, अत: इसका वर्णन करनेवाली गोपिका भी गुणातीत अर्थात् निर्गुण है।

३. एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश श्लोकोंसे वर्णन करनेवाली गोपिकायें यथाक्रम, तामस, राजस तथा सात्विक हैं क्योंकि इनमें वर्णनीय भक्त भी यथाक्रम तामस, राजस तथा सात्विक हैं।

४. चतुर्दश श्लोक में वर्णनीय पक्षिरूप मुनिगण, गुणातीत हैं, अतः वर्णन करनेवाली गोपी भी निर्गुण है।

५. पंचदश, षोडश तथा सप्तदश श्लोक में वर्णनीय हरिभक्त, तामस, राजस तथा सात्विक हैं, इनकी निरूपिका गोपियां भी सगुण अर्थात् यथाक्रम तामसिक, राजसिक तथा सात्विक हैं।

६. हंताऽयमद्रि', इस अष्टादश श्लोक में गोवर्द्धन पर्वत गुणतीत है, इसका वर्णन करनेवाली गोपी भी निर्गुण अर्थात् गुणातीत है।

इस तरह, उपर्युक्त, सगुण-निर्गुण विवेचन में, वृंदावन, पक्षिरूप मनुनिगण तथा गोवर्द्धन पर्वत यह तीनों गुणातीत-निर्गुण हैं-अवशिष्ट वर्णनीय-चरित्र सगुण हैं। तद्नुसार, इनका वर्णन करनेवाली गोपिकायें भी यथाक्रम निर्गुण तथा सगुण है।

यह जगत्, लीला-सृष्टि रूप है, अतः, जिस जीव को, जिस भक्त के चरित्र में अनुराग है, वह जीव, उसी भक्त के गुणानुरूप होता है। यहां वृंदावनादि-हरिभक्त गुणातीत हैं, अतएव उनमें अभिनिवेशवाली गोपाङ्गनायें भी गुणातीत हैं। और, जिन गोपियों की अनुरक्ति, सगुण भक्तों के चरित्र में है वे सभी सगुण हैं। वस्तुतः देखा जाये तो लीला सृष्टि में स्थित सभी गोपीजन निर्गुण-गुणातीत-ही है, क्योंकि उनकी एकांत आसक्ति प्रभु में, प्रभु के चरित्र में ही है। तथा, इन्हीं गोपीजन की वृंदावन, पक्षिगण तथा गिरिराज के प्रति जो प्रीति है, वह भी, इसीलिये कि यह तीनों भगवान् से संबंधित हैं। भगवान्, निर्गुण है, वृंदावन आदि भी निर्गुण है अतः इनमें आसक्ति तथा प्रीति रखनेवाली गोपियाँ निर्गुण अर्थात् गुणातीत मानी गयी हैं।

**— इति कारिकार्थ —**

—:०:—

## 'वृंदावनं गुणातीतम्'-श्रीमद्-आचार्य-चरणकी इस कारिका पंक्ति पर आलेखित पू. गो. श्री हरिरायजी का 'स्वतंत्र लेख'-

वृंदावन के समस्त पक्षि-गण, 'मुनि'-होने कारण मननशील है, मननशील होने के कारण सात्विक हैं—तो फिर इनको 'निर्गुण' क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि वृन्दावन तथा गोवर्द्धन, वास्तव में, भगवान् के आधिदैविक-चरणरुप होने के कारण

गुणातीत हैं। वृन्दावन में ही विहार करने के कारण अतः-उसमें ही आसक्त पक्षीगण भी गुणातीत ही हैं। जिसमें जिसकी श्रद्धा होती है, उसमें, उसी की अनुगुणता रहती है (यो यत् श्रद्धः, स एव तत्)। वृन्दावन, निर्गुण है, अतः उसमें श्रद्धोपेत पक्षिगण भी निर्गुण हैं। यदि यही नियम है, तो फिर, गोवर्द्धन में आसक्त, पुलिन्दिनियों को भी गुणातीत मानना चाहिये-क्योंकि, गोवर्द्धन गुणातीत माना गया है। इसका उत्तर यह है कि पुलिंद-वनिताओं में, भगवद्-दर्शन से काम-भाव का उदय हुआ था। राजस् गुण से, काम-भाव का समुद्भव होता है, इसीलिये पुलिन्दिनियां, राजसी है। तो फिर, काम-भाव से जिस तरह पुलिन्दिनियों में रजस् गुण स्पष्ट है उसी तरह मौन-भाव से, पक्षियो में भी 'सात्विक-भाव' स्पष्ट ही कहा गया है। किन्तु, ऐसा नहीं है, पक्षियों के मौन से यहां यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वे सात्विक हैं। क्योंकि, सत्य का कार्य जो ज्ञान है, उस ज्ञान का पक्षियों में अभाव है-अतः उनमें सात्विकता नहीं है। तदुपरांत, पक्षियों में, पूर्व योजना के विचारों का अभाव होता है, इसलिये, नीचे गिर पडने के भय से, आशंका से, ये तरु-शाखाओं पर आरूढ रहते हैं। उनमें, नीचे-गिर पडने की जो आशंका है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उनमें विचार का-अन्यानुसंधान का अभाव है। तदुपरांत, उन्होंने अपने नेत्र भी निमीलित कर लिये हैं। नेत्र.ज्ञानेन्द्रिय हैं, ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं। ज्ञानजनक नेत्रों के निमीलन से तथा वाणी के व्यापार को भी स्थगित कर देने से, यह सिद्ध हो जाता है कि ये पक्षिगण, सत्व के कार्यरुप ज्ञान से रहित हैं। ऐसी स्थिति में, भले ही इनको अन्यत्र सात्विक कहा गया हो, यहां तो इन पक्षियों को गुणातीत ही मानना चाहिये, और इसीलिये, कारिका में भी-तामसा राजसाश्चाऽन्ये-इस तरह कथन किया गया है। यहां अन्ये का अर्थ है **'सात्विक'**।–

तथापि, यहां, यह शंका होती है कि "वनचरः" इस श्लोक में, वृन्दावन को सात्विक-भूमि कहा है, और यहां उसी को निर्गुण कहा है" ? यह कथन सत्य है, क्योंकि 'वनचरः' श्लोक के प्रसंग में, वहां, वृन्दावन की प्रशंसा में उसकी सात्विक-भावापन्न अवस्था का निर्देश करने के लिये ही, भूमि को सात्विक कहा-और उस समय, प्रभु में भी सात्विक भाव का उदय हुआ था, इसी सत्वगुण के संबंध से, भूमि भी सात्विक-भाव से संपन्न हो गयी-वृन्दावन का वास्तविक स्वरूप तो गुणातीत ही है। वास्तव में देखा जाये तो, वृन्दावन-सहित लीला सृष्टि-के सभी पदार्थ, लीला सृष्टि से संबंध रखनेवाली संपूर्ण साधन-सामग्री, गुणातीत हैं। तथापि उनका वर्गीकरण-सत्वादिगुणों के आधार से किया गया है – जैसें हरिणी को तामसी कहा, क्योंकि वे मूढ मति हैं, तथा मुख्य-सजातीय (पशु-भाव)- स्त्री भाव से युक्त हैं। अप्सरायें, काम-भाववालीं अतएव राजसी हैं; गायें, भगवद्-दर्शन तथा स्पर्शन से, सात्विक हैं। पक्षी, गुणातीत हैं; नदियां, मनो

भव-वेग के कारण राजसी हैं। भगवत्-सजातीय-सख्य-भाव से युक्त-भगवान् के लिये ही सर्वस्व का परित्याग करनेवाला मेघ तामसी है। काम-भाव से आर्त पुलिंदिनियां राजसी हैं–और, जैसा कहा जा चुका है, गोवर्द्धन गुणातीत है। इस प्रकार, लीला-सृष्टि में जो वस्तु, जिस जिस भाव से युक्त है, उसका वर्णन करनेवाली गोपी भी, वर्णनीय-वस्तु का जो भाव है उसी भाव से, युक्त कही गयी है। इस तरह की यह विभिन्नता, गुणों के कारण है। वस्तुतः तो लीला सृष्टिस्थ सभी वस्तुयें गुणातीत हैं।"

—:0:—

## एकादश-श्लोक विवरणः–

भगवान् के ऐश्वर्य आदि छहों धर्मों का बोध करानेवाले यथाक्रम हरिणियों आदि छहों में से, प्रथम हरिणियों के भाग्य की प्रशंसा में, गोपाङ्गनायें कहती हैं कि–

**धन्याऽस्तु मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्त-विचित्रवेषम्।**
**आकर्ण्य-वेणुरणितं सह कृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥११॥**

हे सखि! पशुजाति की इन मूढबुद्धिवाली हरिणियो को धन्य है!!! क्योंकि, वेणुनाद को सुनकर, इनके निकट ही विचित्र-वेष धारण करनेवाले नन्दकुमार के प्रति प्रणय-पूर्वक अवलोकन द्वारा उनकी-पूजा-सन्मान-करती हैं, और यह सब, अपने कृष्ण-सार-मृग-पतियों के साथ रहकर कर रही हैं इसीलिये वस्तुतः ये कृतार्थ हैं॥११॥

**मूढस्वभावकी ये हरिणी, बड़भागि, कहोजु, कहांलो बखाने।**
**जा ढिग नन्द के नन्दन ने सखि! वेष-विचित्रधरे मन-माने॥**
**राग-भरी अवलोकनिते, सुनि बांसुरि-तान उन्हे सनमाने।**
**धन्य भई पति-संग सभी, जब नैन दया-निधिहू के भराने॥११॥**

(सर्वत्र ईश्वर की अथवा ऐश्वर्य से संपन्न पुरुष की ही पूजा होती है। इस समय साक्षात् प्रभु, अपने ऐश्वार्यादि धर्मों को अप्रकट रखते हुये, मनुष्य-वेश में उपस्थित हैं। प्रभु के स्वरूप को जाननेवाला कोई विरल ज्ञानी-भक्त, मनुष्य-वेश धारी, ऐसे अप्रकट ऐंश्वर्यवाले-प्रभु की पूजा करे तो भले ही करे उसमें कोई आश्चर्य नहीं किंतु प्रभु के स्वरूप-ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ तथा मूढ मति हरिणियों जैसे पशु यदि उनका सत्कार-पूजा-करें तो वह सत्कार प्रभुके अनन्त ऐश्वर्यका बोधक है। प्रस्तुत श्लोक में प्रभु के इसी ऐश्वर्य-धर्म का निरूपण किया गया है।)

मूढ-मति होते हुये भी हरिणियों ने, प्रभु की, अनुराग पूर्ण नेत्रों से जो अवलोकनात्मक पूजा की, उसके लिये, गोपीजन उनके भाग्य की प्रशंसा करती हैं–'धन्यास्तु' ये

हरिणियां धन्य हैं। गोपाङ्गनायें कहती हैं-कि हे सखि, यदि कोई शंका करे कि इन हरिणियों को भगवत्-स्वरूप का ज्ञान तो तनिक भी नहीं, तो फिर, भगवान् की अवलोकनात्मक-पूजा से ही ये क्योंकर धन्य कही गयीं ? इसका समाधान यह है कि पूजा-विधि में, ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवत्-स्वरूप के ज्ञान मात्र से धन्यता प्राप्त नहीं होती, किंतु, भगवद् विषयिणी-पूजन क्रिया ही धन्यत्व की साधिका है। और, यदि यही पूजन-क्रिया, भगवत्-स्वरूप के ज्ञान-सहित, अनुष्ठित हो तो फिर उसके धन्यत्व में आश्चर्य ही क्या ? वस्तुतः देखा जाये तो पूजा-रूप-क्रिया में, ज्ञान की इतनी उपयोगिता नहीं। ज्ञान प्राप्त करके यदि उसके अनुरूप क्रिया की जाये, तभी ज्ञान की सार्थकता है, अन्यथा ज्ञान की कोई सार्थकता नहीं। ज्ञान तो क्रिया का विशेषण मात्र है अतः गौण है, क्रिया विशेष्य है-अतः क्रिया ही प्रधान है। अतः क्रिया स्वयं ही धन्यता की साधिका है। जितनी क्रियायें हैं, उनमें भगवत्-पूजात्मिका क्रिया ही उत्कृष्ट है, भगवत्-पूजा में ही क्रिया का उत्कर्ष है। वही कर्म उत्तम माना गया है, जिसके अनुष्ठान से भगवान् को परितोष हो-'तत्कर्म हरितोषं यत्'। 'हे सखि-इन हरिणियोंने भगवान् की यही पूजा रूप उत्तम क्रिया-कार्य-संपादित की है-इनका यह प्रणय-पूर्ण नेत्रों से, भगवद् अवलोकनात्मक कार्य, भगवत् पूजा रूप है-और इसीलिये ये हरिणियां धन्यवाद के योग्य हैं।

इतना ही नहीं, इनकी यह प्रणयपूर्वक अवलोकनात्मक-पूजा, ज्ञान से संवलित ज्ञान-मय उपकरणों से संपन्न है। नेत्र, ज्ञान के साधक हैं, ज्ञानेन्द्रियों में मुख्य, उनके आधार-भूत हैं। अतः ये नेत्र, ज्ञानमय हैं, ज्ञान-प्रचुर है। हरिणियों ने अपनी पूजा विधि में, इन्ही ज्ञानमय नेत्रों को, नैवेद्य रूप में निवेदित किये हैं। यहाँ ये ज्ञान प्रचुर नेत्र ही पूजा में निवेदनीय-पदार्थ हैं। हरणियों ने अपनी पूजा-विधि में, भगवान् को जो पदार्थ निवेदित किये हैं, वह इनके प्रणयपूर्ण नेत्र ही हैं। इसीलिये, हरिणियों द्वारा, ज्ञान-मय-द्रव्यों से संपादित, यह भगवत् पूजा, वस्तुतः निरतिशय धन्यता की साधक है।

ज्ञान-प्रचुर अथवा ज्ञान-स्वरूप-पदार्थ को ज्ञानमय कहते हैं। ज्ञानमय द्रव्यों के निवेदनपूर्वक की गयी पूजा के भी दो अंग हैं-एक भगवत्-स्वरूप का ज्ञान दूसरा स्व-स्वरूप का ज्ञान। "जिस देश तथा काल की विशेषता के अनुसार, भगवान् को जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उस देश तथा काल के अनुरूप, उसी वस्तु के निवेदनपूर्वक, भगवत् पूजा करनी चाहिये"-अर्थात् 'भगवान् को, संप्रति, देश तथा कालके अनुरोध से यही पदार्थ प्रिय है; और यही पदार्थ निवेदित करना चाहिये', पूजक का यह ज्ञान, 'भगवत्-ज्ञान' है। तथा "मेरे द्वारा संपादित पदार्थों में से, यह पदार्थ उत्तम है और यही प्रभु को

निवेदन करने के योग्य है''-इस प्रकार का विवेक-ज्ञान ही 'स्व-ज्ञान' है। इस तरह यह उभय विध-ज्ञान पूजा के अंग हैं। और, इन हरिणियों ने, भगवान् की, इन दोनों अंगों-सहित सांग पूजा की है। भगवान् शृंगार रसात्मक है-तथा शृंगार-रसात्मक प्रभु में विनियोग करने योग्य, हरिणियों के पास उनका अपना अपार नेत्र सौंदर्य है। यह नेत्र सौंदर्य ही इस समय प्रभु के प्रियत्व का साधक है। हरिणियां जानती हैं कि हमारे नेत्रों का सौंदर्य, भगवान् को, उनकी प्रियतमाओं के नेत्र-सौंदर्य की स्मृति कराता हुआ, अत्यंत आल्हाद प्रदान करेगा। हे सखि ! हरिणियों ने यहां स्व-ज्ञान तथा भगवत्-ज्ञान सहित स्व-नेत्रों के विनियोग द्वारा प्रभु की सांग पूजा की है, अतः उनकी यह पूजा निरतिशय अभिनंदनीय है, धन्यत्व की साधक है। पुष्टि मार्गीय सेवक का यही कर्त्तव्य है कि वह भगवान् के यथोचित-प्रियत्व-संपादन में निरंतर जागरूक-तत्पर-रहे-और इस ग्रंथ का यही तो हार्द्र-भूत उपदेश है। 'हे सखि-भगवद्-पूजा रूप क्रिया के उत्कर्ष में, भगवद्-ज्ञान, एक अंग मात्र हैं, अतः पूजा के अभाव में, केवल ज्ञान रूप अंग निरर्थक है। वास्तव में पूजा ही अंगी है, ज्ञान उसका अंग मात्र है। जहां अंगी-रूप पूजा का ही अभाव हो तो उसके अंग-भूत ज्ञान की क्या उपयोगिता ? पूजा के अभाव में, ज्ञान का अस्तित्व ही कहां ? अंगी के अभाव यें, अंग की स्थिति ही कैसी ?

तात्पर्य यह है कि यहां 'धन्यास्तु' पद में 'तु' शब्द का प्रयोग गोपाङ्गनाओं ने अपनी व्यावृत्ति के लिये किया है अर्थात् धन्य तो हरिणियां है, हम नहीं। इसका कारण यह है कि कार्य करने के पूर्व कार्य करने की इच्छा होती है "इच्छा जन्या भवेत् कृतिः" और इच्छा के पूर्व ज्ञान होता है। अर्थात् किसी भी क्रिया करने के पूर्व सर्व प्रथम क्रिया का ज्ञान होता है फिर उसको करने की इच्छा होती है और फिर कार्य किया जाता है। यही सहज मानस-क्रम है। इस तरह यहां ज्ञान विशेषण है, क्रिया विशेष्य। अर्थात् विशेषण रूप ज्ञान गौण है, विशेष्य रूप क्रिया प्रधान है। तदनुसार, यहां 'आकर्ण्य' अर्थात् श्रवण-रूप ज्ञान का पूजारूप क्रिया में गौणत्व है 'वेणुके रणित को सुनकर प्रणयावलोकन द्वारा पूजा की' यहां प्रधान अतएवं उत्कृष्ट तो पूजा रूप क्रिया ही है। यहां, 'प्रणयावलोकन' ज्ञान-मय पदार्थ है। इस तरह ज्ञान-मय पदार्थों से संपादित यह पूजा-क्रिया ही उत्कृष्ट है।

यहां 'अवलोकन' नेत्रों का व्यापार है, नेत्र, इसके साधन है। नेत्र, ज्ञान-स्वरूप है अतः हरिणी कृत अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि हरिणियों को भगवद्-ज्ञान है। भगवान् ने भी, हरिणी-कृत पूजा को स्वीकार करते हुये, उनको प्रणयावलोकन से कृतार्थ किया—हरिणियों का प्रतिपूजन किया। हरिणियों ने भी भगवद्-कृत इस पूजा को अपनी आत्मा में स्थापित की। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रभु को भी

हरिणियों का ज्ञान है। हरिणी तथा भगवान् का यह पारस्परिक अवलोकनात्मक व्यापार, ज्ञान-रूप है। गोपाङ्गनायें कहती हैं कि हमारे में इस सभी का अभाव है, अतः हम किस प्रकार 'धन्य' कही जासकतीं हैं। धन्य तो हरिणियाँ ही हैं, हम नहीं। यदि कोई कहे, कि हम व्रजदेवियां तो प्रभु की अधर सुधा का भोग करनेवाली अतएव परमधन्य हैं तो, यह केवल कथन मात्र है। वर्तमान में तो, हम भगवत्-सेवा से वंचित अतएव अकृतार्थ ही हैं; हरिणियां ही वस्तुतः धन्य हैं। हरिणियों के अतिरिक्त, अन्य कोई भी जीव, यदि ज्ञान-मय द्रव्यों से भगवत् पूजा करता है तो वही उत्तम है हम नहीं। और यदि, ज्ञान-रहित भी यह पूजा हो, तो भी, ज्ञान रहित होते हुये भी, केवल पूजा ही उत्तम है क्योंकि ज्ञान गौण हैं, प्रधान तो क्रिया रूप पूजा है।

यदि यह शंका कीजाये कि इन हरिणियों को, वस्तुतः भगवत्-स्वरूप का ज्ञान है ही नहीं क्योंकि भगवत्-स्वरूप तो श्रुतियां ही जानतीं हैं और उन्होंने ही उसका प्रतिपादन किया है। अतः भगवत् स्वरूप के ज्ञानाभाव में, हरिणियों की यह भगवत् पूजा सदोष ही कही जायेगी? इसका उत्तर यह है कि हरिणियों के इस दोष से, उनमें भगवत् स्वरूप के ज्ञानाभाव से, हम अपरिचित हों ऐसा नहीं। हम इनके इस दोष को नहीं जानतीं, इसलिये हम इन की धन्यता के विषय में इस तरह कहती हैं ऐसा नहीं है। भले ही हरिणियाँ मूढमति होने के कारण, भगवत् स्वरूप के ज्ञान से रहित हों हम इसे दोष नहीं मानतीं। पूजा आदि में तो स्नेह ही नियामक है, ज्ञान नहीं। इन हरिणियों ने तो प्रणयावलोकनात्मक पूजा की है-इस प्रकार की पूजा ही धन्यता की साधक है। ज्ञान, पूजा का अंग है अंगी तो पूजा ही है। यदि पूजा ही नहीं तो ज्ञान की सार्थकता ही कहां? 'हे सखि! देखो तो जरा, ये हरिणियां, प्रभु को कितने अनुराग-भरे नेत्रों से निरख रही हैं-और, हमारे प्रभु भी, मानों इनके सत्कार से परितुष्ट हो प्रणय पूर्ण-'अवलोकन' से, प्रति पूजन न कर रहे हों!!! हरिणियाँ कितनी धन्य है!!! भगवत् कृत इस प्रति-पूजन को अपने हृदय में इस तरह स्थापित कर रही हैं मानों, प्रभु का प्रत्येक दृष्टि-निपात, इन हरिणियों के हृदय का एक एक स्पंदन, उसकी एक एक धडकन न हो!!! इस तरह भगवत् स्वरूप से अनभिज्ञ अतएव मूढ-मति होते हुये भी, ये, हरिणियाँ ही धन्य हैं, हम नहीं'। 'याः' इस पद से यह संकेत किया गया है कि ये वही हरिणियाँ हैं-जिनकी प्रशंसा भगवान् ने इससे पूर्व भी की थी। उस समय भगवान् ने इन्हीं हरिणियों की और इंगित करते हुये कहा था कि हे-स्तुत्य बलराम! देखो! ये मयूर आनन्दित होकर नृत्य कर रहे हैं। और ये प्रमुदित हरिणियाँ गोपाङ्गनाओं की तरह, आपको, स्नेह-पूर्वक देखती हुयीं, प्रसन्न कर रही हैं।

–'स्त्रीणामेवाभिनन्दनम्' –'हरिण्यः'– यह संपूर्ण प्रकरण स्त्री-संबंधित है-तथा स्त्रियोंकी ही यहां प्रशंसा अभिप्रेत है–इसलिये 'मृग-पत्नियों का' उनकी स्त्रियों का ही-यहां निरूपण किया गया है। अतः 'हरिण्यः' पद का प्रयोग उचित है। तदुपरांत, इस श्लोक से लेकर, 'गो' निरूपण श्लोक पर्यंत (गावश्च-इत्यादि श्लोक पर्यंत)-वर्णन करनेवाली गोपाङ्गनायें अन्य-पूर्वा है-अतः उन्होंने 'अन्य-पूर्वा' स्त्रियों का ही इन श्लोकों में निरूपण किया है। यहां ये हरिणियां, अन्य पूर्वा हैं, यह निर्देश करने के लिये ही-'सह-कृष्णसाराः' इस पद का प्रयोग हुआ है अर्थात् ये हरिणियाँ अपने कृष्ण-सार मृग-पतियों सहित यहां उपस्थित हैं। ये हरिणियाँ, मृगों की नायिका-विशेष नहीं हैं, उनकी पत्नियां हैं-अर्थात् 'केवला' नहीं है, किन्तु, अन्य-पूर्वा है। अपने कृष्णसार-पतियों सहित आयी है-अकेली ही नहीं आयीं।

हरिण्यः एताः–इस पंक्ति में 'एताः'-'ये'-इस पद में विशेष-अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि-हरिणियों को, उनकी इस कृतार्थता पर भाग्याभिनंदन करती हुयी गोपाङ्गनाओं में, स्वकीय अकृतार्थता की निरंतर भावना से अत्यंत दैन्य भाव प्रकट हुआ है। उनके इस दैन्य भाव से करुणार्द्र प्रभु उनके समक्ष वर्ण्यमान-सामग्री सहित प्रत्यक्ष आविर्भूत हो गये–यह सूचित करने के लिये ही यहाँ 'एताः' इस पद का प्रयोग किया गया है। सम्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित वस्तुके लिए ही 'एतत्' सर्व नाम का प्रयोग होता है, अनुपस्थित वस्तु के लिए नही। 'एताः हरिण्यः' 'ये हरिणियां जो सम्मुख उपस्थित हैं'–गोपिजन का यह कथन, यही तो सिद्ध करता है कि-हरिणियों सहित प्रभु उनके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट हैं।

श्रीमद्-आचार्य-चरणने, 'नन्दनन्दनं निरीक्ष्य' नन्द-नन्दन को देखकर इस पंक्ति में 'निरीक्ष्य' पदका प्रयोग किया है, किंतु, मूल श्लोक में निरीक्ष्य पाठ है ही नहीं। वस्तुतः यहां 'निरीक्ष्य' पद द्वारा, मूल श्लोक के 'आकर्ण्य' पद का ही निरूपण किया गया है। 'वेणु-रणित को सुनकर' इस पंक्ति का तात्पर्यार्थ है 'नन्दनन्दन को देखकर।' वेणु वादन करते हुए नन्दनन्दन को, हरिणियों ने 'निरखा'-इस निरीक्षण में, "वेणु-रणित की 'श्रवण-' क्रिया का अर्थ आ जाता है। (यदि कोई गायक को देख रहा है, तो निःसंदेह वह उसके गान का श्रवण कर ही रहा है। श्रवण तो, देखे बिना भी हो सकता है। अतः श्रवण करते सयम यह आवश्यक नही कि निरीक्षण भी किया जाये। किंतु 'निरीक्षण' में तो, श्रवण होता ही है) संपेक्ष में, 'निरीक्ष्य' पद द्वारा 'आकर्ण्य' पदका ही अर्थतः विवरण किया गया है। निरीक्ष्य-यहां कोई पदान्तर का अध्याहार रूप नहीं है, क्योंकि, अग्रिम-प्रसंग में, इसका निषेध किया जायेगा।

**नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्**—प्रभुने हरिणियों के समीप उनके समक्ष ही, रसाभिनय के लिये-सर्व रसों के अभिनयार्थ अत एव विचित्र वेष धारण किया। प्रभु नंद के भी नन्दन है, नंद जो स्वयं 'आनन्द' है, उसको भी आनन्द देने वाले है; जितने भी आनन्द हैं, उनमें उनकी आनन्दमयता के समर्पक, प्रभु हैं। ब्रह्मा की प्रार्थना के अनुरोध से ही, भगवान् स्वभक्तों के उद्धारार्थ भूतल पर प्रकट हुये है। प्रस्तुत प्रसंग, भगवत्-कृत इसी उद्धार लीला का है। हरिणियां भक्त हैं, वर्तमान में इनका ही उद्धार अभिप्रेत है। हरिणियों का, स्वरूप से तथा साधन से, द्विविध प्रकार से उद्धार करने के लिये, उनको अपनी लीला रस से संपन्न करने के लिये ही, प्रभु ने उनके समक्ष ही-'उप-समीप' में ही सर्व-रस से समन्वित अतएव विचित्र वेष धारण किया है, इसीका निर्देश-'उपात्त-विचित्रवेषम्'-इस पंक्ति में किया गया है। जिसमें 'सर्व-रस' समाहित हों उसे विचित्र कहते हैं। यहां 'विचित्र' पद इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तदनुसार, यहां, 'उप' का अर्थ है-समीप में, विचित्र का अर्थ है, विविध प्रकार के सर्व-भावों से युक्त, 'आत्त' का अर्थ है, धारण करना। अर्थात्-भगवान् ने जो वेश धारण किया वह स्व-भक्त में विविध रस-मय भावों का उद्बोधक है। अत: यह नृत्य सामयिक वेष है। नृत्याभिनय-पूर्वक ही प्रेक्षकों में सर्व-रसों की निष्पत्ति की जाती है। भगवान्, यहां स्वकीय-लीला रस की, भक्तों में निष्पत्ति करने के लिये, उनके उद्धारार्थ, रसाभिनय में प्रवृत्त हुये हैं।

भगवान्, भक्त को, उसमें द्विविध-प्रकार से रस की निष्पत्ति करते हुये, फलोन्मुख करते हैं। एक स्वरूप से, दूसरा-साधन से। यही निर्देश करने के लिये 'नंदनन्दन' तथा 'उपात्त-विचित्र वेष'-इन दोनों पदों का प्रयोग किया गया है। स्वरूप तथा साधन यह दोनों ही रस के निष्पादक हैं, नन्दनन्दन स्वरूप है, विचित्रवेष साधन है। यह दोनों हीं, भक्तोद्धरण-लीला के अंग हैं, तथा हरिणी-रूप भक्तों को, उनमें आनन्दोद्-बोधनपूर्वक, फलोन्मुख करते हैं। प्रभुने अपना यह वेष हरिणियों के निकट ही धारण किया। वेषधारण करते समय, प्रभु के, अनन्त लावण्यमय अनावृत-अवयवों के दर्शन करने से उनके हृदय में, प्रभु प्रति स्पृहारूप भावविशेष का उदय हुआ—हरिणियों में, यहां, इस प्रकार के भावोदय के कथन द्वारा यह संकेत किया गया है कि भविष्य में उनको भी, रसानुभूति कराने वाली भगवत्प्राप्ति होगी। तात्पर्य यह है कि, स्वकीय भक्त को स्वरूपानंद का अनुभव कराने के लिये प्रभु, प्रथम उसको ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करातें हैं—तदनन्तर आधिदैविक-स्त्रीदेह से संपन्न करते हैं। हरिणियों में, इसी स्वरूपानंद के प्रवेशार्थ, प्रभुने उनके निकट ही वेष धारण किया। वेष धारण करते समय प्रभु के अनावृत्त अवयवों के दर्शन से हरिणियों में, जिस भाव विशेष

का उदय हुआ, उस भाव विशेष की साभर्थ्य ने उनको ब्रह्मानन्द से संपन्न कर दिया। स्वरूपानंद के अनुभव की प्रथम योग्यता है ब्रह्मानंद की प्राप्ति, दूसरी योग्यता है आधिदैविक-स्त्री-विग्रह की प्राप्ति। भविष्य में अपने इसी स्वरूपानंद का अनुभव कराने के लिये ही, यहां, प्रभु ने, इस तरह वेष परिधान द्वारा हरिणियों में पूर्व ब्रह्मानंद की स्थापना की-अर्थात् भविष्य में, हरिणियों को, फल की प्राप्ति होगी– और यही भाव-'उपात्त-विचित्र-वेषम्' इस पंक्ति द्वारा सूचित किया गया है। अनावृत-प्रभु के दर्शन से ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है। शृंगार-धारणोपरांत संपूर्ण आभूषणों से समलंकृत प्रभु के दर्शन से, धर्म सहित आनंद की अनुभूति होती है। हरिणियों को इस तरह द्विविध-आनंद की उपलब्धि हुयी, एक स्वरूप से, दूसरी वेष से। पुष्टिमार्गीय-सेवा विधि में, इसीलिये अत्यंत अनुग्रहीत सेवक के समक्ष ही, प्रभु को शृंगारादिक धारण कराना चाहिये और यही मार्ग-मर्यादा है।

यहां, 'आकर्ण्य' यह क्रियापद 'सुनकर' तथा 'देखकर' अर्थात् निरीक्षण करके– इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। शब्द, कर्ण से सुना जाता है, तथा हृदय में, शास्त्र-दृष्टि से उसके अर्थ का निरीक्षण होता है। इस तरह, शब्द रूप से श्रवण, अर्थ-रूप से, निरीक्षण। वेणु का 'रणितं'-रणकार ही उसका शब्द है। अतः रणित में प्रयुक्त 'आकर्ण्य' क्रिया का अर्थ होगा सुनकर। स्वयं भगवान् यहां रणित-शब्द के अर्थ-रूप हैं, अतः भगवान् में प्रयुक्त 'आकर्ण्य' क्रिया का अर्थ होगा 'निरीक्षण करके'। इस तरह 'आकर्ण्य' क्रिया पद में हीं, श्रवण तथा निरीक्षण, यह दोनों ही अर्थ निहित हैं। शब्द के अर्थ का निरीक्षण-साक्षात्कार-शास्त्र-दृष्टि से ही संभव है। 'शब्द' के अर्थ रूप स्वयं भगवान् हैं। प्रथम शब्द का श्रवण होता है तदनन्तर उसके अर्थ रूप भगवान् का निरीक्षण। हरिणियों ने यहां, प्रथम, वेणु के रणित का श्रवण किया, तत्पश्चात्, उसके अर्थ रूप भगवान् का निरीक्षण किया–यहां शास्त्र-दृष्टि का ही जो उल्लेख किया गया, वह इसलिये, कि पशु की दृष्टि, पदार्थ की विशिष्टता का ग्रहण नहीं कर सकती। वेणुनाद के श्रवणानन्तर, प्रभु के रसात्मक स्वरूप की अनुभूति, हरिणियों को, उनके हृदय में हुयी, यह अनुभूति, शास्त्र-दृष्टि से हुयी ; इस प्रकार की शास्त्र दृष्टि के पश्चात् हीं, नेत्रेन्द्रिय, पदार्थ-गत उसकी विशिष्टता का ग्रहण करने में समर्थ होती है। शास्त्रदृष्टि द्वारा की गयी, भगवद् अनुभूति के अनन्तर ही, प्रत्यक्ष-दृष्टि, शास्त्र दृष्टि के अनुरूप हीं, भगवत् साक्षात्कार करायेगी अर्थात्- प्रत्यक्ष दृष्टि, शास्त्र दृष्टि का ही अनुसरण करती है, तदनुसार ही अर्थ से साक्षात्कार कराती है। अतः, प्रत्यक्ष दृष्टि के विद्यमान होते हुये भी, उसका उल्लेख न करके, शास्त्र-दृष्टि का ही, कथन किया गया।

'वेणु-रणितम्'– में -'रणित' पद से यह सूचित किया गया है कि वेणु के इस 'रणकार' में जो माधुर्य-रस है वह अन्य सभी प्रकार के रसो में असाधारण है अथवा उसमें सभी रस प्रधानतया प्रतिष्ठित हैं। 'रणित' उस शब्द विशेष को कहते हैं जिस में रस इस तरह परिपूरित किया गया हो कि वह बाहर न ढरक पडे। यह वेणु-रणित असाधारण रसों से स्व-संपूर्ण है, रस-रूप ही है। इस प्रकार का 'रणित', यद्यपि सुदुर से कर्ण गोचर किया जा सकता था, तथापि हरिणियों ने प्रभु के निकट जाकर ही सुना। 'भय' हरिणियों का स्वभाव है, तथापि प्रभु के निकट गमन करने से इन हरिणियों के भय आदि आधिभौतिक दैहिक धर्मों की निवृत्ति हो गयी, अन्यथा, स्वभाव से ही भय शील हरिणियां प्रभु के निकट कदापि नही जाती, और, प्रभु के निकट जाने से ही तो उनको अर्थ-रूप प्रभु के, आकर्णन रूप दर्शन की, निरीक्षण की उपलब्धि हुयी। यदि निकट गमन नहीं करतीं तों प्रभु के दर्शन कैसे कर पातीं ? वेणु रणित का आकर्णन-श्रवण तो वे सुदूर से भी कर सकती थीं, किंतु, आकर्णन रूप निरीक्षण तो निकट से ही संभवित है। अत:, निकट में जाकर सुना– "निकटे गत्वा श्रुतवत्य:"। इससे भी, यही सिद्ध होता है कि 'आकर्ण्य' क्रिया में, 'निरीक्ष्य' क्रिया अर्थत: समाहित है।

गोपाङ्गनायें कहती हैं कि हे सखि 'ये हरिणियां अपने कृष्ण-सार मृग भर्ताओं सहित यहां आयी हैं। अत:, हरिणियों के यहां आगमन में उनके भर्ताओं की और से कोई प्रतिबंध विरोध नहीं है। यदि इस प्रकार का कोइ प्रतिबंध होता, तो उनके पति कदापि साथ नहीं आते। ये हरिणियां तथा इनके पति-ये सभी कृष्ण-सार हैं। क्योंकि इनके जीवन में यदि कोई सार-भूत वस्तु है तो वह केवल 'कृष्ण' ही है, इसीलिये, ये 'कृष्णसार' कहलाते हैं, और, इसीलिये इनके कृष्णसार पतिगण इनके साथ ही यहां आये हैं। इससे ठीक विपरीत, हमारी दशा है–क्योंकि, हमें, हमारे पतियों का प्रतिबंध है। वास्तव में, ये हरिणियां ही भाग्यशालिनी हैं, धन्य हैं। हे सखि, इन हरणियों में सापत्न्य-भाव का सर्वथा अभाव है, हमारे में तो यह सापत्न्य भाव-सहज है। इन हरिणियों के पुरुषों को तो देखो ! सभी कृष्णसार हैं, और, हमारे ये गोप पति, हमें अपनी पत्नियां समझते हैं, हमारे भर्ता होने का अभिमान इनके रोम रोम में भरा है, ये अभिमान-सार हैं, इनमें कृष्णसार होने की योग्यता ही कहां ? क्या गोप, सचमुच हमें अपनी सह-धर्मचारिणी मानते हैं ? तो फिर, क्यों नहीं श्रीकृष्ण के साथ, अपना गोचारण-धर्म करते हुये, हमें भी अपने साथ रखते ? निरे अभिमान-सार हैं, यदि कृष्णसार होते तो, तो वृंदावन जाते समय, मृगपत्नियों की तरह हमें भी संग में ले जाते। यहां व्रज में हमें अेकाकी छोडकर, कभी नहीं

जाते। पतित्व के अभिमान-सारवाले गोप की भार्यायें हम कहां और कहां कृष्णसार पतियों के संग यहां आयी हुयी ये हरिणियां? ये हरिणियां ही धन्य हैं।

**स्नेहपूर्वकावलोकनैर्विरचितां भगवति पूजां धारयामासुः** :– 'हे सखि! ये हरिणियां स्नेहपूर्वक अवलोकन द्वारा विरिचित पूजा का विनियोग, भगवान् में कर रही हैं। हरिणियों का प्रणय-पूर्व नेत्रों से यह अवलोकन, प्रभु को, उनकी प्रियतमा-स्वामिनी के प्रणय कटाक्षों से भरे, नेत्र-सौंदर्य की स्मृति करा रहे हैं। इस स्मृति से, प्रभु आल्हादित हैं। प्रभु को जिससे आल्हाद हो, संतोष हो, वही पूजा सार्थक है। प्रभु-संतोष-संपादिका पूजा ही यथार्थ पूजा है। हरिणी-कृत पूजा से प्रसन्न होकर, स्वयं भगवान् भी, स्नेहावलोकन-पूर्वक इसी प्रकार के भावों को उद्बुद्ध करते हुये, मानों हरिणियों का प्रतिपूजन कर रहे हैं। भगवान् के नेत्र स्वकीय स्वामिनी की नेत्र-स्मृति सुलभ-मधुरिमा से, रसमय भावों से, उल्लसित हो रहे हैं। भगवत्-अवलोकन, हरिणियोंमें इसी भाव को जाग्रत कर रहे है। हरिणियों का, भगवत्-कृत यही प्रति-पूजन है। 'हे सखि! हरिणियों के ये नेत्र, कमल ही हैं अतः ज्ञान की सौरभ से सुगंधित हैं। ज्ञानोत्पत्ति के स्थान हैं। ऐसे नेत्र-कमलों से संपादित, हरिणियों की यह पूजा सर्वोत्तम है, इससे भी विशेष-अधिकता-इस पूजा की यह है, कि भगवान् ने इस पूजा को संतोष-पूर्वक धारण किया है, स्वीकार की है। तभी तो स्वयं भगवान् ने भी हरिणियों का प्रतिपूजन किया है, और, भगवत् कृत प्रतिपूजन से हरिणियों के अन्तःकरण में, भगवद् रस, सुस्थिरता पूर्वक प्रतिष्ठित हो गया है। 'धा'-धातु पोषण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अतः "पूजां दधुः" इस वाक्य में, 'हरिणियों ने भगवान की पूजा की', यह अर्थ तो है ही किंतु, 'भागवान् ने भी हरिणियों का प्रति-पूजन किया', यह 'भगवद्-कृति' भी, यह अर्थ भी, अर्थापत्तिसे समाहित है। हरिणी-कृत पूजासे भगवान् को जो संतोष हुआ, उस संतोष की अभिव्यक्ति, भगवान्ने हरिणियों के प्रतिपूजन द्वारा की, अतः 'पूजांदधुः' में भगवत्-कृत प्रतिपूजन का अर्थ भी स्वतः सिद्ध है।

प्रस्तुत श्लोक में 'प्रणयावलोकैः' इस पाठ की जगह 'सदयावलोकैः' यह पाठ भी उपलब्ध है। तदनुसार, इसका अर्थ यह होगा कि जिस तरह हरिणियों ने भगवान् का तथा भगवान् ने हरिणियों का प्रीति-पूर्वक अवलोकन किया, उसी तरह 'भगवान् का प्रीति पूर्वक अवलोकन करना यह जीव का कर्तव्य है, और दया पूर्वक जीव का अवलोकन करना यह भगवान् का कर्तव्य है।" गोपाङ्गनाओं को, जो सुधा-भोग की प्राप्ति है, उसका अन्तर्भाव इस पारस्परिक कर्तव्य में नहीं होता, यह इस कर्तव्य से अधिक है। प्रीति पूर्वक, भगवद् अवलोकन जीव का कर्तव्य है, और कृपा पूर्वक

जीवावलोकन, प्रभु का कर्तव्य है : इस तरह का, बस इतना ही, इससे अधिक नहीं, पारस्परिक कर्तव्य है। इससे अधिक-सुधा-भोग–तो केवल गोपीजन द्वारा ही संपाद्य है ।।११।।

—एकादश-श्लोक-संपूर्ण—

—:०:—

## 'धन्याऽस्तु'-श्लोक

## श्रीमत्प्रभु-चरणकृत स्वतंत्र-लेख

'अक्षण्वतां' श्लोक से लेकर 'वृंदावनं सखि! भूवः श्लोक पर्यंत, इन चार-श्लोको में, वेणु गीत की पूर्व पीठिकां का निरूपण करके, अग्रिम, –'धन्यास्तु' श्लोकों से, वेणु नाद का तथा उसकी प्रक्रिया का, अर्थात् उसके कार्य का कथन हुआ है। प्रथम, हरिणियों में, वेणु नाद का जो प्रभाव हुआ, उसीका वर्णन प्रस्तुत श्लोक द्वारा किया गया है। ये हरिणियां धन्य है–'धन्यास्तु–' यहां हरिणियों के भाग्य की जो प्रशंसा की गयी, उसमें प्रधान हेतु, तत्कृत भगवद्-पूजन है। यहां 'धन्यास्तु' में 'तु' शब्द का प्रयोग पूर्वपक्ष के निरासार्थ हुआ है। किंतु, प्रस्तुत श्लोक में, इस प्रकार का कोई पूर्व पक्ष अथवा शंका प्रस्तुत ही नहीं की गयी, तो फिर 'तु' शब्द की यहां उपयोगिता ही नहीं रहती। यह कथन सत्य है। तदनुसार यद्यपि प्रस्तुत प्रसंग सर्वथा निर्दोष है, और शंका आदि को भी यहां कोई अवकाश नहीं, तथापि, पाक्षिक अथवा कोई अन्य वैकल्पिक पक्ष यदि संभवतया उपस्थित किया जाये तो उसका निराकरण आवश्यक हो जाता है। इस तरह की संभावित शंका के निरासार्थ भी यहां 'तु' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। तदुपरांत, जो वस्तु सर्वथा निर्दोष है, उसमें मलिन-मतिवाले व्यक्ति, कुछ न कुछ दोष ढूंढ ही निकालते हैं। उसी तरह, यद्यपि, हरिणीकृत-भगवत्-पूजा सर्वथा दोष रहित है, तथापि छिन्द्रान्वेषी यहां यही शंका करेंगे कि इन हरिणियों द्वारा आचरित, भगवत्-पूजा दोष पूर्ण तो है ही, वास्तव में, यह पूजा, शास्त्र में कहे गये अंगों से रहित होने के कारण, पूजा में परिगणित ही नहीं की जा सकती!! इसमें पूजात्व है ही कहां? जहां, यह पूजा, पूजा ही नहीं रहीं तो फिर, हरिणियों को धन्यता की अधिकारिणी कहना, उनके भाग्य का अभिनंदन करना सर्वथा असंगत है। शास्त्र ने पूजा के जो अंग गिनायें हैं, वे इस प्रकार हैं– पूजक को स्व-स्वरूप का ज्ञान, पूजक में दासत्व-भावना, पूजा के प्रयोजन और उसके फल का अनुसंधान, पूज्य के स्वरूप का, सर्वेश्वर रूप से ज्ञान, पूजा में पूजक की परम श्रद्धा, पूजा के साधन तथा सामग्री का यथोचित संपादन, देश, काल तथा मंत्र

का विचार, ये सब पूजाके अंग हैं। पूजा, तभी पूजा कहलायेगी, जब उसका अनुष्ठान उपर्युक्त अंगोंसहित किया जाये, किंतु, यहां, हरिणी-कृत पूजा विधि में इन अंगों का सर्वथा अभाव है, तो फिर, यह पूजा कैसे कहलायी ? और यदि यह पूजा ही नहीं रही तो हरिणियों के भाग्य की प्रशंसा क्यों की गयी ? 'तु' शब्द से इस शंका के समाधान में यह युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि इन अंगों की उपयोगिता, मर्यादा मार्गीय पूजाविधि में ही मानी गयी है। हरिणी-कृत भगवत्-पूजा-शुद्ध-पुष्टि-मार्गीय होने के कारण, उसमें इन मर्यादा-मार्गीयपूजा के अंगों का अभाव, भूषण रूप हैं, दूषण-रूप नहीं। इन अंगों के अभाव में ही, पुष्टिमार्गीय-पूजा निर्दोष मानी जाती है, अन्यथा सदोष, क्योंकि, मार्ग के भेद से, उनके अनुसार आचरित पूजा में भी भेद है– अन्यथा पूजा-भेद के अभाव में, मार्ग में भी कोई भेद नहीं रहता। इसीलिये, पुष्टिमार्ग, में पुष्टिमार्गीय धर्म, उसके भूषण-रूप हैं, दूषणरूप नहीं। किंतु, यही पुष्टिमार्गीय धर्म, मर्यादा मार्ग में दूषणरूप है। इसीतरह, मर्यादा मार्ग के धर्म, पुष्टिमार्ग में दूषण रूप माने गये है, भूषण रूप नहीं। यहां 'तु' शब्द से मर्यादामार्ग की संभावित शंकाओं के समाधानार्थ यह युक्ति प्रस्तुत की गयी है।

इस संदर्भ में, यह पूछा जा सकता है कि ये हरिणियां, पशुजाति की अतएव मूढमति हैं। अपने इस मूढ पशु स्वभाव के कारण, इनमें, शुद्ध पुष्टिमार्ग के ज्ञान का अभाव है। पुष्टिमार्गीय-ज्ञान के अभाव में, हरिणियों ने जो प्रभु की पूजा की, उससे वह क्योंकर धन्यता की पात्र मानी गयीं ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि, ये हरिणियां, मूढमति हैं, तथापि-अर्थात् मूढमतयोऽपि, ये अमूढमति ही हैं। शुद्ध-पुष्टिमार्ग में, भगवान् की पूजा करनेवाला, उनके संतोष का संपादन करनेवाला सेवक, परम-चतुर अतएव अमूढमति ही, माना जाता है। मूढमतयोऽपि–इस पंक्ति में 'अपि' शब्द का यही अभिप्राय है– तदनुसार यह तात्पर्य निकला कि मर्यादामार्ग में 'मूढमति,' पुष्टिमार्ग में अमूढमति ही है। यदि यहां यह अर्थ न किया जाये तो 'अपि' शब्द का प्रयोग ही निरर्थक हो जायेगा।

इन हरिणियों में, पुष्टि-मार्ग के अनुसार, अमूढत्व है, इस कथन का क्या प्रमाण ? इसका स्पष्टिकरण यह है कि जैसे कहा जा चुका है, पुष्टिमार्ग, मर्यादामार्ग से सर्वथा विपरीत है। मर्यादामार्ग में जो विमूढ माने जाते हैं, वे ही पुष्टिमार्ग में, अमूढ हैं। मर्यादामार्ग में, ये हरिणियां मूढमति पशु हैं किंतु पुष्टिमार्ग में बुद्धिमति नायिकायें हैं। मर्यादामार्ग में, हरिणियों को अपने पशुत्वका ज्ञान है। पुष्टिमार्ग में, इनको अपने इस पशुत्व-ज्ञान की विस्मृति तथा अपने नायिकात्व-ज्ञान की प्रतीति है– अतः पुष्टिमार्गीय-ज्ञान, मर्यादामार्गीय ज्ञान से विरुद्ध है। वर्तमान में, इन हरिणियों को

अपने नायिका भाव का ज्ञान है, जो मर्यादामार्गीय स्व-स्वरूप के ज्ञान से, अर्थात् अपने पशुत्व के ज्ञान से सर्वथा विरूद्ध है। हरिणियों में यह नायिका-भाव, यहां प्रत्यक्ष है; यदि इनमें, अपने इस नायिका-भाव का अभाव होता तो इनके लिये 'प्रणय-पूर्वक' अवलोकन का कथन ही नही किया जाता। अपने पशुत्व के विस्मरण-पूर्वक, अपने में इस नायिका-भाव का ज्ञान, हरिणियों में, मर्यादा-मार्गीय अपने पशुत्व के ज्ञान से, सर्वथा विरुद्ध है। तदुपरांत, भगवान् में, पुष्टिमार्ग के समग्र विशिष्ट धर्म विद्यमान है, इन विशिष्ट धर्मो से संपन्न भगवद्-विषयक अपने ज्ञान के कारण, ये हरिणियां, अमूढमति ही हैं। यदि ये वस्तुतः मूढमति होतीं तो यह कैसे जान पातीं कि भगवान् पुष्टिमार्गीय समग्र विशिष्ट धर्मों से समाचित हैं। यहां यह शंका होती है कि इन हरिणियों को, इस प्रकार का स्व-विषयक तथा भगवद्-विषयक ज्ञान है यह कैसे जाना गया? इसका उत्तर यह है कि–

यदि हरिणियों को ऐसा ज्ञान न होता, तब, न तो वे प्रभु के निकट ही जातीं और न वेणुनाद श्रवण ही करतीं, और न प्रभु का, प्रणय-पूर्ण नेत्रों से, अवलोकन करतीं। यदि हरिणियों को, अपने पशुत्व का ही ज्ञान होता तथा प्रभु के पुष्टिमार्गीय स्वरूप से अनभिज्ञ होतीं, तो अपने पशु-सुलभ भीरू स्वभाव के कारण, प्रभु के निकट नहीं जातीं। समीप-स्थिति में भीरूता बाधक मानी गयी है। यदि यह भी मान लिया जाये कि भीरू-स्वभाव की होते हुये भी, हरिणियों ने, संभव है, नाद से ही आकर्षित होकर प्रभु के निकट गमन किया हो? तो फिर, विचित्र-वेष के अनुसंधान-पूर्वक उन्होंने प्रभु-सौंदर्य का जो अवलोकन किया, ऐसा क्यों कहा गया? उन्होने तो प्रभु के सौंदर्य का, विचित्र-वेष के अनुसंधानपूर्वक दर्शन किया-उनकी इस चेष्टा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनको स्व-विषयक नायिका भाव का ज्ञान तो था ही, अपितु, भगवद्-विषयक ज्ञान भी था और उपर से, पशु भाव की विस्मृति भी थी? हरिणियां, वस्तुतः अपने भावके अधीन थीं, उस भाव के अधीन, जिसका उद्‌गम, उनमें वेणु-रणित से हुआ था। यहां तक हरिणियों के वेणु-नाद-सुलभ भावाधीन बाह्य चेष्टा का निरूपण हुआ, अब, इससे आगे, 'आकर्ण्य-वेणु रणितम्' –इस पंक्ति द्वारा, वेणु-नाद के श्रवण से, उनकी आन्तर-चेष्टा का वर्णन किया गया है।

यहां 'आकर्ण्य वेणु-रणितम्-' इस पंक्ति के पूर्व 'नन्दनन्दनम्' पद का प्रस्तुत श्लोक में, प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है कि हरिणियों ने प्रथम, 'नन्दनन्दन' को देखा तदनन्तर, वेणु-रणित को सुना-अर्थात् नन्दनन्दन को देखकर तथा वेणु-रणित को सुनकर, इस तरह यहां निरीक्षण तथा आकर्ण्य इन दोनों क्रिया-पदों की आवश्यकता

थी, तथापि, श्लोक में एक ही क्रिया पद 'आकर्ण्य' का प्रयोग है। इस एक ही क्रिया पद के उल्लेख से, यहां यह समझना चाहिये कि वेणु-रणित के श्रवण में हीं, प्रभुका निरीक्षण भी किया गया। 'नन्दनन्दनं' इस कर्म प्रधान पद के प्रयोग से, 'निरीक्ष्य' निरीक्षण किया पद, अनुक्त होते हुये भी, अर्थ से उक्त अर्थात् सिद्ध ही है–इसलिये निरीक्ष्य-देखकर इस क्रियापद का पृथक् निर्देश नहीं किया गया। वेणु-रणित में प्रतिष्ठित स्वरूपने ही, गोपाङ्गनाओं तथा हरिणियों के हृदय में, नाद द्वारा ही प्रवेश किया। अर्थात् वेणु-रणित से, नाद में प्रतिष्ठित अतएव इनसे दृष्ट-स्वरूप ने, वेणु-नाद द्वारा हृदय में प्रवेश किया। इसलिये, यहां, आकर्ण्य-सुनकर इस एक ही क्रियापद का प्रयोग किया गया।

नन्दनन्दन-स्वरूप का, नाद के श्रवण द्वारा ही हृदय में आगमन-प्रवेश हुआ। यह कैसे जाना गया? स्वरूप के आगमन-प्रवेश-से हृदय में जो प्रतिक्रिया हुयी, उससे, हृदय में प्रविष्ट स्वरूप कार्य से, यह जाना गया। हृदय में स्वरूप के आगमन का ज्ञान, उस स्वरूप के कार्य से हुआ। अर्थात् हृदय में, नाद के प्रवेश समकाल में ही, स्वरूप ने भी प्रवेश किया और स्वरूप के; नाद सह प्रवेश करते ही, हरिणियां, 'कृष्णसार' हो गयी–कृष्ण ही एकमात्र सारतत्व है जिनमें ऐसी हो गयी"–सह-कृष्ण-साराः, सहनाद प्रवेशेन सहैव, यतः कृष्ण साराः जाताः"। स्वरूप के प्रवेश करते ही, स्वरूपानुभव होते ही, हरिणियां 'कृष्णसार' बन गयीं। और, इसप्रकार की, कृष्ण सारत्व-सिद्धि, अन्तःकरण में स्वरूपानुभव के बिना कदापि प्राप्त नहीं की जा सकती। इन हरिणियों को, अन्तःकरण में जो स्वरूपानुभति हुयी, उसकी प्रतीति 'पूजांदधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः' इस पंक्ति से हो जाती है। यह कथन, हरिणियों के स्वरूपानुभव का ज्ञापक है। यदि अन्तःकरण में स्वरूपानुभव नहीं हुआ होता, तो हरिणियों में, भगवान् के प्रति स्नेहभाव उत्पन्न नहीं होता, और यदि स्नेहभाव उत्पन्न नहीं होता, तो, उनमें, प्रभु के प्रति, प्रणयपूर्ण अवलोकनात्मक-पूजा का अभाव ही रहता।

यहां, यह प्रश्न होता है कि संप्रति, गोपाङ्गनायें तथा हरिणियां-वर्णक तथा वर्ण्य-यह दोनों पुष्टिमार्गीय है तथा पुष्टिमार्गीय भाव संपदा से संपन्न हैं। पुष्टिमार्ग में सेवा-प्रभुसेवा-ही प्रधान है; पूजा गौण है, तो फिर इन पुष्टिमार्गीय गोपाङ्गना-ओंने, पुष्टिमार्गीय हरिणियों की प्रभु-प्रति कृति के लिये, 'पूजा' शब्दका प्रयोग क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि हरिणियों की यह कृति, भाव प्रधान है; अतः, इसके लिये 'सेवा' शब्द का प्रयोग ही, यद्यपि, उपयुक्त है तथापि, यहां हरिणियों

का प्रभु से साक्षात् संबंध नहीं है। प्रभु के साथ अपने इस साक्षात् संबंध के अभाव में, हरिणियों की कृति, पुष्टिमार्गीय सेवा के तत्व से रहित है। पुष्टिमार्गीय सेवा का अधिकार तो श्रीस्वामीनी-वर्ग को ही है, क्योंकि ये साक्षात् प्रभु संबंधिनी हैं। हरिणियों में, अपने हरिणी सुलभ इस देह से, प्रभु-सह रसानुभव करने की योग्यता ही नहीं। प्रभु सह इस संबंध के अभाव में, हरिणी-कृत पूजा, पुष्टि-रूप नहीं है। पुष्टि-रूप सेवा का अधिकार तो प्रभु संबंधीनी, श्रीस्वामिनि को ही प्राप्त है। हरिणियों की यह कृति, भाव-प्रधान अवश्य है, तथापि, जैसे पूजा में होता है, ऐसे यहां इनकी यह कृति, पूज्य तथा पूजक में, दोनों में मनःपरितोष की संपादिका है। पूज्य और पूजक की पारस्परिक मनस्तुष्टि तक ही सीमित होने के कारण, भाव-प्रधान होते हुये भी, हरिणियों की कृति, पूजा के तुल्य ही है, अतः इस कृति के लिये सेवा की जगह पूजा शब्द का ही प्रयोग किया गया है। तथापि, हरिणियों की इस पूजा में यह इतनी विशेषता है कि, पूजामार्ग में, यह नहीं जाना जा सकता कि पूज्य को पूजा से संतोष हुआ या नहीं। पूज्य-गत संतोष के विषय में, संदेह बना ही रहता है। किंतु, यहां हरिणी-कृत पूजा के विषय में ऐसा नहीं है। यहां पूज्य-प्रभु को, पूजक की पूजासे–हरिणी-कृत पूजासे–संतोष हुआ है। और अपने इसी संतोष को, प्रभुने, यहां, हरिणियों के प्रतिपूजन द्वारा अभिव्यक्त किया है। अतः प्रभुको भी संतोष हुआ है। इस निःसंदेह प्रतीति के कारण, हरणी-कृत पूजा में, पूजामार्गीय पूजा की अपेक्षा विशिष्टता-आधिक्य है। प्रभुने भी हरिणीयों का प्रतिपूजन किया। यह कथन, 'पूजांदुर्धविरचितां सदयावलोकैः-प्रणयावलोकैः'-इसी पंक्ति से सिद्ध किया गया है। श्रीमद् आचार्य चरणने इस पंक्ति द्वारा तदन्तर्गत, अन्योन्य के परस्पर किये गये पूजन-प्रतिपूजन का ही, निरूपण किया है। प्रभुने हरिणियों के प्रति कृपापूर्वक अवलोकन किया। भगवत्-कृत यह अवलोकन स्पष्ट प्रतिपूजन रूप ही है। इसमें किसी भी प्रकार की शंका को स्थान ही कहां? तदनुसार यह संपूर्ण कथन सर्वथा निर्दोष तथा सुंदर है। सारांश में, "पुष्टिमार्गीय जीव का कर्तव्य है कि वह अपने प्रभु का प्रणयपूर्ण नेत्रों से दर्शन करे, और पुष्टिमार्गीय प्रभुका यह कर्तव्य है कि वह भी अपने सेवक को कृपा-पूर्ण नेत्रों से कृतार्थ करे।" श्रीमद् आचार्य-चरण का यह निरूपण वस्तुतः लोकोत्तर है। क्योंकि यहां स्वयं प्रभु को, उनकी कर्तव्यता का उपदेश दिया गया है। सेवक को, उपदेश देना एक बात है, किंतु, प्रभु को उनके कर्तव्य का यह उपदेश कितना स्निग्ध, कितना रमणीय है!!! और, इस तरह उपदेश करनेवाला...!! श्री प्रभु को, श्रीमद् आचार्यचरण कितने प्रिय हैं!!! ॥११॥

## द्वादश श्लोक-विवरण :-

**कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवचारुवेषं श्रुत्वा च तत् क्वणित वेणु-विचित्रगीतम्।**
**देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसाराः भ्रश्यत् प्रसून कबराः**
**मुमुहुर्विनीव्यः ।।१२।।**

**अनुवाद :-** अरी गोपाङ्गनाओं ! वनिताओं को भी उत्सव-प्रद सुंदर वेष धारण किये हुये कृष्ण को देखकर तथा उनसे कूजित वांसुरी के अद्‌भुत गीत का श्रवण करके, विमान में गमन करती हुयी देवाङ्गनायें कामावेशसे धैर्य-शून्य होकर मोहित हो जाती है। उनकी वेणी में से पुष्प गिर पडते है; तथा उनकी शाटी के नीवी-बंधन शिथिल हो जाते है।

**मोहिनी-मोहन वेष सुचारु धरे रि सखी ! व्रज-चंद्र निहारी ।**
**बारहि बार सुकूजित बांसुरि-माधुरिकी सुनि के धुनि न्यारी ।।**
**मुग्ध भई जु मनोभव वेगतें, देव-वधू नभ-यान विहारी ।**
**पुष्प-गुंथीं विथुरीं-अलकें, सरि नीवि की गांठि, विवेक-विसारी ।।१२।।**

**व्याख्या :- कृष्णं निरीक्ष्य**–प्रस्तुत श्लोक में, कृष्ण को देखकर अप्सराओं की जो दशा हुयी, गोपाङ्गानायें, उसीका निरूपण करती हैं। अप्सराओं ने कृष्ण, को देखा; यहां कृष्ण का अर्थ है– 'स्त्रीगुढभावात्मक-सदानंद-तत्व'। प्रभु, स्त्रियों के उद्धारार्थ ही प्रकट हुये हैं। भगवान् के लिये यहां 'कृष्ण' पद के प्रयोग द्वारा, स्त्रियों के निरोध का बोध कराया गया है। और कृष्ण-तत्व का अविर्भाव इसीलिये तो हुआ है। जहां, आनन्द के साक्षात्कार से, ऐहिक तथा पारलौकिक फलके प्रति आसक्ति निवृत्त हो जाती हो, वहां 'सदानंद' के साक्षात्कार से तो फिर पूछना ही क्या ? और, अप्सराओंने इसी 'सदानंद' के दर्शन किये, मनस्तृप्ति-पूर्वक, चिरकाल पर्यंत देखा, निरीक्षण किया, और वह भी, मनुष्य-भाव से रहित दिव्य-दृष्टि से। यदि अप्सरायें इस तरह, प्रभु का, दिव्य-दृष्टि से, सविशेष निरीक्षण नहीं करतीं, तो इनकी वह दशा नहीं होती जिसका निरूपण, इसी श्लोक की अग्रिम-पंक्तियों में किया गया है।

"अप्सराओंने, अपनी दिव्य-दृष्टिपूर्वक किये गये निरीक्षण से, यह जान लिया कि प्रभुका आगमन स्वजातीय-स्त्रियों के उद्धारार्थ हुआ हैं। दिव्य दृष्टि के अभाव में हरिणियों को यह ज्ञान नहीं था। हरिणियों की अपेक्षा, अप्सराओं के निरीक्षण में यही विशेषता है"।

**वनितोत्सव-चारुवेषं**–'इस पंक्ति' में 'वनिता' शब्द का प्रयोग अप्सराओं में, स्वजातीयत्व का बोध कराने के लिये ही हुआ है। प्रियतम के सुंदरवेष से, जिन

स्त्रियों को उत्सव होता हो उनको 'वनिता' कहते हैं—और वस्तुत: प्रियतमा के उत्सवार्थ ही तो, प्रियतम, सुंदर वेष से अपने आपको समलंकृत करता है। तदनुसार यहां, ऐसी ही वनिताओं के उत्सवार्थ श्रीकृष्ण, चारूवेष में उपस्थित हैं। वनितांओं के उत्सवार्थ है चारू वेष है जिसका ऐसे श्रीकृष्ण का, अप्सराओंने निरीक्षण किया-देखा। तद्नुसार, श्रीकृष्ण ने वनिताओं के उत्सवार्थ ही चारू वेष धारण किया है और, यही 'वनितोत्सवचारू वेषम्' इस पंक्ति का अर्थ है— इसी पंक्ति का, समासविग्रह के अनुसार यह अर्थ होगा— 'वनिताओं के उत्वसार्थ अर्थात् भूषणार्थ चारू है वेष जिसका-ऐसे श्रीकृष्ण। यहां उत्सव का अर्थ है—'भूषण'। कोई व्यक्ति अपने आपको वस्त्राभूषणों से तब विभूषित करता है, जब कोई उत्सव हो। वस्त्राभूषण आदि के धारण करने में उत्सव निमित्त हो जाता है। उत्सव, भूषण-धारण में हेतु है। इसीलिये यहां उत्सव का अर्थ भूषण भी किया गया है। भगवान् का चारु वेष, वनिताओं के लिये भूषण-उत्सव-रूप है, अत: अपने इस उत्सव के निमित्त, इस उत्सव को मनाने के लिये, वनितायें अपने आपको वस्त्राभूषणों से सजाती हैं। भगवान् का चारू-वेष, वनिताओं में, स्वदेह को समलंकृत करने की, एक रसमय मनोवृत्ति का, उद्‌बोधक है। यह उत्सव अनेक प्रकार का होता है और जिस-जिस प्रकार के उत्सव में, उत्सव की रसानुभूति करने के लिये, जिस जिस वेष की आवश्यकता होती है, उस उस प्रकार के वेष से वनितायें अपने आपको विभूषित करती हैं। और यही वनितोत्सव है।

भगवान् ने वनिताओं के उत्सवार्थ चारू वेष धारण किया है। यहां 'वनितोत्सव....' इस पंक्ति की निगूढ रसयमता में अवगाहन करने के पूर्व, 'वनिता' शब्द के अर्थ को बराबर समझ लेना आवश्यक है। 'वनिता' में 'वन' शब्द के विपिन तथा यौवन यह दोनों ही अर्थ हैं। 'विपिन' अर्थ में 'वनिता' शब्द की व्युत्पति इस प्रकार है—वनं इत: प्राप्त: 'वनित:' अर्थात्, वनमें गये हुये पुरूष को 'वनित:' कहते है। वनित: का बहुवचन, 'वनिता:' होता है। तदनुसार भगवदर्थ सर्व का त्याग करके वन में प्रवेश करनेवाले भगवदीयों को, 'वनिता:' कहते है। ऐसे ही भगवदीयों के उत्सवार्थ, आनन्द के लिये ही प्रभु ने सुंदर वेष धारण किया हैं। "कोटि-कंदर्प के लावण्य को तिरस्कृत करनेवाले चारु वेष-धारी श्रीकृष्ण के दर्शन से इन भगवदीयों में स्त्री-भाव का उदय हो, एवं तदनुसार उनको श्रीपुरुषोत्तम सह कामाशन रूप फल की प्राप्ति हो" इसी अभिप्राय से भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने आपको वनितोत्सव-चारू वेष से समलंकृत किया है। और यही वनितोत्सव-चारूवेष का अर्थ है, और इसी अर्थ की, विशुद्ध चित्त द्वारा यहां भावना करनी चाहिये"—(यो.)। इस तरह सर्वस्व के परित्यागपूर्वक

जो भगवदीय पुरूष वनमें प्रवेश करते हैं, वे वहां से लोटकर पीछे नहीं आते। भगवदीय की स्थिति प्रभु के निकट होने पर उसके पुनरागमन की कल्पना ही कैसी ? प्रियतम के बाहुपाश में आबद्ध तरुणी अपने नेहर कभी लोटती है क्या? रस की कणी, रसमें ही गढी रहती है। 'रसकणि रस में रहत गढ़ी'।

यहां तक 'वनिता' शब्द का 'विपिन'– अर्थ में विवेचन हुआ ; 'यौवन' अर्थ में वनिता शब्द की व्युपत्ति इस प्रकार है-'वनं यौवनं इता: प्राप्ता: प्राप्तवत्य:।' तदनुसार, वनितोत्सवचारूवेषम्' का अर्थ यौवन पक्ष में इस तरह किया गया है– "युवावस्था को प्राप्त मृगनयनी रमणियों के उत्सवार्थ, उनमें, रति-भाव को उद्दीप्त करने के लिये, चारुवेष धारण किया है जिसने ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण।

**"वनं यौवन मिता: प्राप्ता:प्राप्तवत्य:**–' यहां सुबोधिनी की इस पंक्ति में-प्राप्ता: तथा प्राप्तवत्य:, समानार्थक तथा समानलिंग में एक ही क्रियापद का दो बार उल्लेख किया गया है। यहाँ प्राप्ता: तथा प्राप्तवत्य: से यथाक्रम, वन में प्रवेश करनेवाले स्त्री भावापन्न पुरूषों का-पुरुष वनिताओं का-अर्थात् स्त्री-सुलभ एवं निर्दोष हृदयवाले पुरूष भक्तों का तथा सुंदरी वनिताओं का अर्थात् युवावस्थाको प्राप्त निर्दोष तरु-णियों का निर्देष किया गया है। 'प्राप्ता:' इस क्रियापदसे, स्त्री-भावापन्न पुरूषों का अर्थात् पुरूष वनिताओं का, तथा 'प्राप्तवत्य:' क्रियापदसे स्वयं स्त्रियों का निरूपण हुआ है। यद्यपि, 'प्राप्ता:' इस एक ही क्रियापद से उभय का अर्थात् पुरुष-वनिताओं का तथा स्त्रियों का ग्रहण संभव है, तथापि प्रस्तुत प्रकरण, प्रधानतया स्त्रीसंबंधी है. अत: प्रकरणवशात् स्त्रियों का पृथक् निर्देश करने के लिये 'प्राप्त-वत्य:' क्रियापद का पृथक् प्रयोग किया गया। 'प्राप्तवत्य:' क्रियापद से केवल स्त्रियां ही ग्रहण की जा सकती हैं ; वनिता शब्द से अभिप्रेत पुरुष नहीं। 'प्राप्तवत्य:' से उभय का ग्रहण नहीं होता। इसलिये यथाक्रम उभय के ग्रहणार्थ ही यहां प्राप्ता: तथा प्राप्तवत्य: इस उभय क्रियापद का यथाक्रम प्रयोग किया गया है। तद्नुसार, प्राप्ता: इस क्रिया-पद से वनिता-पुरुषों का, तथा प्राप्तवत्य:' क्रिया पदसे वनिता-स्त्रियों-का ग्रहण अभि-प्रेत है। और यही उपयुक्त है। अन्यथा:' 'प्राप्ता:' इस एक ही क्रियापद से उभय के ग्रहण में, प्राप्तवत्य: यह क्रियापद निरर्थक हो जाता। इस विवेचन के अनुसार, 'वनितोत्सवचारूवेषम् का यह अर्थ होता है, 'वनिता पुरुषो में भावोत्पादन के लिये, अर्थात् पुरुष भक्तों को स्त्री सुलभ-भाव संपत्ति से संपन्न करने के लिये तथा-तरुणियों में पूर्व से ही सहजतया प्रतिष्ठित भाव का उद्दीपन करने के लिये-भगवान ने चारूवेष धारण किया है। श्रीकृष्ण के चारुवेष में विश्व की समग्र रमणियता समाहित है ; इसीलिये वह पुरुषों को भी स्त्री-सुलभ भाव से

संपन्न करता है-और स्वयं स्त्रियों में, सहज रूप से पूर्व प्रतिष्ठित भाव को उद्बुद्ध करता है। इस तरह 'चारुवेष' द्वारा भगवान् के यह दोनों ही प्रयोजन सार्थक हुये।

यदि यहां यह पूछा जाये कि 'वन' शब्द का 'यौवन' अर्थ कैसे सिद्ध किया गया? इसका स्पष्टिकरण यह है कि यौवन में दो पद हैं-एक 'यु' दूसरा 'वन'। 'यु' शब्द का अर्थ है 'संमिलन'- मिश्राणार्थे' 'यु' का सप्तमी-विभक्ति में 'यौ' रूप बनता है-जैसे भानु का भानौ तथा विष्णु का विष्णौ यथाक्रम-सप्तम्यन्त-रूप है। तदनुसार, इस सप्तम्यन्त 'यौ' का अर्थ है 'संमिलन के लिये, यहां निमित्तार्थ में सप्तमी का प्रयोग किया गया है-'सप्तमी निमित्तार्थे'। इस तरह, यौ-मिश्रणार्थम्, वनं-यौवनम्-यही अर्थ निष्पन्न हुआ। यौवन ही, नायक के साथ, नायिका का संगमन-संमिलन कराता है। यौवन, नायिका में, नायक सह संमिलन की उत्कट लालसा का उद्भावक है। यौवन-वस्था के वनरूपता से व्याप्त होने के कारण, यौवन, वन-विशेष ही है, और इसी-लिये, वन शब्द से, यौवन का ग्रहण किया जाता है - वन की तुल्यताको प्राप्त अवस्था ही, यौवन है, और यही कथन युक्तियुक्ति है। जिस तरह वन, शृंगार-रस को जाग्रत करने में उपयोगी संपूर्ण सामग्री से संपन्न होता है, उसी तरह यौवन भी, शृंगार रसो बोधक समग्र उद्दीपन-विभावों से समृद्ध माना गया है। इस तरह, धर्म में समानता होने के कारण, यौवन को जो वन कहा गया—वह रमणीय उक्ति है। यौवन, वन का प्रतीक है। वन की समग्र वस्तुओं का, यौवन सारभूत साकार-विग्रह है। चंपा अपने लावण्य को लेकर यौवन की देह में समा जाता है, कुन्द पुष्प अपनी सुकुमारता सहित दंत पंक्ति रूप से आविर्भूत होता है, कमल की लक्ष्मी चरण युगल में आश्रय लेती है, गजेन्द्र, उसकी गति में, तथा सिंह उसकी कटि में, स्थिति करते हैं; दूर्वादल रोम पंक्तिरूप से लहराने लगता है, कोयल और पपीहा उसकी वाणी में, अपने कलरव सहित उपस्थित रहते हैं, उत्तुंग पर्वत, अपने काठिन्य सहित उरोज में, शुक नाशिका में, भृंग-पंक्ति अलकावलि में, खंजन, नेत्रों में, शरदेन्दु मुख में, यथानुरूप सुशोभित होने लगते है, यह वनिता है या वन है अथवा यौवन? परस्पर एक-दूसरे के पर्याय हैं-ऐसा यौवन अथवा वन क्यों न भावोद्दीपन करेगा? शृंगार रसोपयोगी साधन-सामग्री रूप, अपनी अपनी समृद्धिमें समान—होने के कारण यौवन, वनरूप ही है। 'यौवन' शब्द की यह व्युत्पत्ति निरुक्त पद्धति से सिद्ध मानी गयी है—'अप्यक्ष स्वर्णसाम्येन निर्ब्रूयात्, न संस्कारमाद्रियेत्' अर्थात् स्वरव्यंजन की समानता के आधार पर भी अर्थ का निर्णय करना चाहिये, वहां प्रकृति-प्रत्यय-रूप संस्कार की आवश्यकता नहीं-यह निरुक्त-शास्त्र की मान्यता है।

अथवा, 'वनं संजातम्' इस तरह कर्तरी प्रयोग में 'इतच्' प्रत्यय के योग से भी 'वनिता' शब्द सिद्ध होता है और कोश में वनिता का अर्थ है–'जिसमें अनुराग उत्पन्न हुआ है ऐसी स्त्री तथा लक्ष्मी !' 'वनिता जातरागस्त्रीश्रियो:,' वनिता के इस तरह यथाक्रम-यौगिक तथा रूढ अर्थ सामान्य तथा लौकिक तरुणि में व्यवहृत होते हैं। गोपाङ्गनाओं ने यहां वनिता शब्द का प्रयोग इस प्रकार की लौकिकी तरुणियों के लिये नहीं किया है। देवांगनाओं ने अपने अधिकार के अनुसार दिव्य-दृष्टि से वनिता शब्द के जिस अर्थ को समझा, उस अर्थ को, तथा भगवान् ने जिस आशय से ऐसा 'चारू-वेष' धारण किया है, उस आशय को-इन दोनों को, दिव्य वाणी से संपन्न, वर्णन करने वाली गोपाङ्गनाओं ने जान लिया था। इसीका बोध कराने के लिये, उन्होंने 'वनिता' शब्द का प्रयोग 'वन-यौवन,' आदि अर्थों में किया है-और जिसका विवेचन इससे पूर्व हो चुका है।

अभिप्राय यह है कि ये देवांगनायें स्थिर यौवना हैं। इनकी बाल, कुमार तथा यौवन यह तीन अवस्थायें ही होने के कारण ये त्रिदशा कहलाती हैं। युवावस्थाही इनकी अंतिम अवस्था है, अत: इनका यौवन स्थिर है। तदनुसार, इन देवांगनाओं ने दिव्य-दृष्टि से यह निश्चय करके कि, हम स्थिर यौवनायें हैं अत: भगवान् के इस वनितोत्सव में संमिलित होने की हमारी भी योग्यता है, अपने अपने विमान में आरूढ होकर वहां आयीं। किंतु भगवान् ने तो उन स्थिर यौवनाओं के लिये चारू-वेष धारण किया है जिनमें सर्वात्मभाव स्थिर हो गया है। देवांगनायें स्थिर-यौवना अवश्य थीं किंतु उनमें सर्वात्म-भाव का अभाव था, इसीलिये, इनको वनितोत्सव की निगूढ रसानुभूति नहीं हुयी, तथा मोह को प्राप्त होकर रसानुभूति किये बिना ही पीछे लौट गयीं, पुनरावृत्ति-रूप मोहावस्था में ही पडी रहीं। इस वनितोत्सव का रसानुभव तो उन वनिता रूप पुरुषों को हुआ, जिन्होंने भगवद्-अतिरिक्त सर्व-बाधक पदार्थों का परित्याग करके वन में प्रवेश किया था। ऐसे ही वनितारूप भगवदीय पुरुष, एकवार वन में प्रवेश करने पर, फिर पीछे फिरते ही नहीं, देवांगनाओं के समान पुनरावृत्ति-रूप मोह को प्राप्त होते ही नहीं। अथवा इस वनितोत्सव की रसानुभूति, उन वनितारूप तरुणियों को-स्थिर यौवनाओं को भी हुयी, जिनको सर्वात्मभाव सिद्ध हो गया था। भगवान् ने तो 'वनितोत्सव-चारु वेष' इसी प्रकार की वनिताओं के लिये, वनिता रूप पुरुषों तथा यौवन-प्राप्त-व्रजदेवियों के लिये धारण किया था जिनमें सर्वात्म-भाव स्थिर हो गया है। यहां वनिता शब्द से, गोपाङ्गनाओं ने, अत्यंत गुप्त तथा-परोक्षवाद रीति से, इसी प्रकार के भगवदीयों का प्रस्तुत श्लोक में निरूपण किया है और यही इस श्लोक का गूढ-अर्थ है। इस प्रकार का निरूपण,

दिव्यवाणी द्वारा ही संभव है। गोपाङ्गनायें श्रुतिरूपा हैं, इसीलिये इनकी वाणी सर्वशः दिव्य है। यहां वर्णन करने वाली व्रजदेवियों ने अपने अधिकार के अनुसार, चारूवेष को धारण करने में प्रभुका जो आशय था उसको, तथा देवांगनायें जिस 'भाव'-से वहां आयी थीं उसको-इन दोनों को ही अच्छी तरह जान लिया था और अपने गुप्ताशय का संकेत करने के लिये ही-अतिपरोक्षवाद से यहाँ 'वनिता' शब्द का प्रयोग किया है।

गोपाङ्गनाओं द्वारा निरूपित ऐसी ही वनिताओं के लिये अर्थात् वनिता रूप पुरुष-तथा वनितारूप यौवन प्राप्त तरुणियों के उत्सवार्थ तथा ऐसी ही वनिताओं को अपने प्रति अभिमुख करने के लिये ही भगवान् ने अत्यंत-मनोरम वेष धारण किया है। चारु वेष से समलंकृत प्रभु तथा तदनुसार वस्त्राभूषणों से सुसज्ज व्रज-सुंदरी-वृंद-इस उभय-दल के संमिलन का यह रसमय उत्सव है। यहां भगवान् वनिताओं के उत्सवार्थ जब जब जैसा जैसा नूतनवेष धारण करते हैं तब तब तैसा तैसा ही वेष, भगवद् उत्सवार्थ, भगवद्-अभिप्रेत वसन भूषणादि, वनितायें भी धारण करती हैं। भगवान् ने यदि पीतांबर धारण किया है, तो इसी पीतांबर की शोभाके अनुरूप, शोभा की अभिवृद्धि के लिये, वनितायें-भी अपने आपको नीलांबर तथा रक्तवर्णकंचुकी से समलंकृत करती हैं। इसी तरह प्रभु, शृंगारादि रसकी अभिव्यक्ति करते हुये, बीचबीच में जिस जिस रस को-अर्थात्-शृंगार-वीर-हास्य, अद्‌भुत आदि रस को, प्रकट करने के लिये जो जो चेष्टाये-करते हैं-उस उस रस की अभिव्यक्ति के अनुरूप ही, वनितायें भी, उसी प्रकारकी चेष्टायें करती हैं। वेष का तथा रस का अतिक्रमण न हो, सर्वरस स्थिर रहें तभी रसानुभूति संभव है। तदनुसार, वनितोत्सव में, भगवान् जिस वेश को धारण करते हैं तथा जिस रस की अभिव्यक्ति करना चाहते हैं, भगवद्-अभिमत उसी वेश को धारण करती हुयीं और उसी रस को प्रकट करती हुयीं अर्थात् वेश और रस का अतिक्रम किये बिना, सर्व-वनिता समाज रसरूप पुरुषार्थ का अनुभव करती हैं–'सर्वाभरणभूषिताः सर्वा एव वनिता यथा वेषरसं पुरुषार्थं अनुभवन्ति'। भगवान् ने जिस प्रकार का 'चारूवेष' धारण किया है उसी प्रकार का वेष, रसरूप पुरुषार्थ के अनुभवार्थ, वनिताओं ने भी धारण किया है। जिन वनिताओंने प्रभु के इस वेष-परिधानोत्सव में, अलंकारादि-धारण-पूर्वक उत्सव-रस का अनुभव नहीं किया, उनका वनितात्व अर्थात् वनिताहोना ही-निरर्थक है। जैसे पति-संयोग के बिना, विधवा का अथवा वेश्या का यौवन अकृतार्थ ही माना गया है, उसी तरह भगवद्-मिलन के अभाव में, वनिता का वनितात्व निष्प्रयोजन ही कहा जायेगा। यहां, गोपीजन का यह कटाक्ष देव-वनिताओं के प्रति है-अप्सरायें, वनितोत्सव-रस के अनुभव से वंचित ही रहीं।

भगवान् का वेष, 'चारू' है-अर्थात् मनोहर है, मनका हरण करनेवाला है। भगवान् का यह वेष, जिस तरह युवतियों के बहि: अलंकरण में हेतु है, उसी तरह, मनोहर होने के कारण, अंत:करण के समलंकरण में भी हेतु है। प्रेम, ज्ञान, आदि अंत:करण के अलंकार हैं। प्रभु के मनोहर वेष के दर्शन करने से, हृदय में प्रेम, ज्ञान, आदि का समुदय होता है-और इस तरह, अंत:करण, प्रेम, ज्ञान आदि अलंकारों से विभूषित हो जाता है। तदनुसार, जिस तरह वस्त्राभूषणों के धारण करने से बाहर रसानुभव होता है, उसीतरह, अंत:करण, जब, प्रेम ज्ञान आदि अलंकारों को धारणकरता है, तब अंत:-रसानुभव होता है। अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा भगवान् के रसोत्पादक चारु वेष का दर्शन करके, अप्सराओं को जैसा बाहर रसानुभव हुआ, वैसी ही अनुभव, अन्त:करण में प्रेम, ज्ञान आदि के समुदय से-भीतर भी-हुआ। प्रेम, ज्ञान आदि, उद्दीपन विभाव होने के कारण, रसके अनुभावक माने गये हैं। अर्थात् प्रेम, ज्ञान आदि उद्दीपन विभावों के प्रकट होने से, अप्सराओं को अन्त:करण में, भगवान् के वनितोत्सव चारुवेष का रसानुभव हुआ। इस तरह, दिव्य दृष्टि से किये गये भगवद्-दर्शन, प्रेम, ज्ञान तथा अन्त:करण में भगवद्-अनुभव, यह सब, अप्सराओं के, भगवद् समीप आने में, साधन-उपाय-बने। अप्सरायें भगवान् के वनितोत्सव में सम्मिलित होने के लिये आतुर हो उठीं; अप्सराओं ने, प्रभु-कृत वेणु के क्वणित का, तथा सर्वरसोद्बोधक क्वणित-वेणु के विचित्र-गीत का, श्रवण किया। उनके पास विमान थे, और इधर वेणु का सर्व-रसोद्बोधक-गीत, उन में भगवद्-निकट शीघ्र पहूँचने की उत्कट-लालसा उत्पन्न कर रहा था। अत: अप्सरायें अपने अपने विमान में आरूढ होकर शीघ्र ही भगवान् के समीप आ पहुँची। भगवान् के निकट आकर अप्सराओं ने, पहिले की तरह, क्वणित का श्रवण किया। यहां भगवत्-कृत यह क्वणित ही वेणु के अन्यान्य कूजितादि जितने भी क्वणित थे, उनका, मानों संग्रह रूप था। वेणु में सर्वरसो-द्बोधक गीतों का आविर्भाव हुआ है। यहां 'गीतम्' एक वचनान्त है। अप्सरायें एक ही गीत को सुनकर मूर्छित हो गयीं। श्रृंगार रस में ही सर्व-रस प्रतिष्ठित माने गये हैं। यही रसशास्त्र का सिद्धांत है। गीत, श्रृंगार रस का उद्बोधक होने के कारण, सर्व-रसों से संपन्न है। जिसमें सर्व-रस प्रतिष्ठित हो उसे 'विचित्र' कहते हैं। इस गीत में सर्व रस निहित हैं। इसीलिये, यह 'विचित्र' कहा गया है। रस शास्त्र, श्रृंगार में ही रसत्व मानते हैं, अन्य रसों में नहीं; शृंगार में ही सर्व रस आ जाते हैं। अन्य रस, शृंगार के अंग है अत: रसशास्त्र, उनमें रसत्व नहीं मानते। जिस तरह धनिक पुरुष स्वर्ण के ही आभरण, स्वर्ण के ही उपकरण एवं स्वर्ण के ही भूषणधारण करते हैं, मध्य अवकाश में लाक्षा भराने

की भी रुचि नहीं रखते उसी तरह रसज्ञ पुरुष, शुद्ध शृंगार रस को ही सर्व रसों में मूर्धन्य मानते हैं। जिस तरह, आभरण, उपकरण तथा भूषण, स्वर्ण के ही अंग माने जाते हैं, उसी तरह अन्य रस, शृंगार के अंगमात्र हैं, प्रधान तो, अंगीभूत शृंगार रस ही है। शृंगार के अभाव में, किसी भी रस के प्रति, रसिक-जनों में रुचि ही उत्पन्न नहीं होती। इसीलिये यह गीत, शृंगारात्मक होने के कारण सर्व-रसों से संपन्न किंवा 'विचित्र' है।

**देव्यो विमान-गतयः स्मरनुन्नसाराः मुमुहुः** :—इस पंक्ति द्वारा, अप्सराओं की गीत के श्रवण से जो दशा हुई उसका निरूपण किया गया है। यद्यपि ये अप्सरायें देवाङ्गनायें है, देवतारूप अतएव पूज्य हैं, दुःखसहन करना इनके स्वभाव में ही नहीं, इसीलिये विमान में आरूढ होकर ही गमन करती हैं। भोग्या भी नहीं हैं और इसीलिये, भूमि पर, प्रभु के निकट भी नहीं आ सकीं, विमान में ही आरूढ रहीं। सत्व गुणों से संपन्न ऐसी देवांगनाओं में कामोदय भी सर्वथा असंभव है, विवेक-भ्रष्ट होना तो दूर की कल्पना है—यह सबकुछ होते हुये भी, यह देवियां स्मर वेग से विक्षिप्त चित्त हो गयीं। देहेन्द्रियादि की अपेक्षा, मन बलिष्ट होता है, तथापि, ऐसी देवांगनाओं का, बलिष्ठ मन भी, कामोद्रेक से असंयत हो गया। मन में, मनोभव के उदय से, उनका विवेक सर्वशः नष्ट हो गया। यह सब कुछ भगवद्-इच्छा से, प्रमेय बल से ही हुआ। भगवान् को यही अभिप्रेत था। वास्तव में, जिनजीवों की, भगवत्-सेवा में उपयोगिता नहीं होती, भगवत्-सेवा में जो जीव अनुपयुक्त होते हैं, उन जीवों को कदापि रसानुभव नहीं होता। उससे वे वंचित ही रहते हैं। और, इसीलिये, इन अप्सराओं की यह अवस्था हुयी। यदि यहां यह प्रश्न किया जाये कि ये देवांगनायें यहां आयीं ही क्यों? तो इसका सहज उत्तर यह है कि उनके विवेक को स्मर ने नष्ट कर दिया था। स्मर ने उनको इतना विवेक-शून्य कर दिया कि वह सद्-असद् का विचार भी नहीं कर सकीं— और यहां आ गयीं।

भगवत्—सह संमिलन की अपनी मनोकामना में अप्सरायें असफल ही रहीं। अप्सरायें इस तरह जो असफल ही रहीं उसके हेतुओं का निर्देश प्रस्तुत श्लोक-गत तीन पदों द्वारा किया गया है :— १-देव्यः २-विमान गतयः ३-स्मरनुन्न-साराः। भगवद्-संमिलन में प्रथम अन्तराय यह था कि इच्छा होते हुये भी, उनका भूमि पर आगमन असंभव था, क्योंकि, देव देवियों के चरण भूमि का स्पर्श नहीं करते। क्वचित् भगवद् विरह में मृत्यु को प्राप्त होकर, तथा भूतल पर अवतार लेकर, भगवान् से मिल पातीं, किंतु देवता होने के कारण से ये देवियां

अमर थीं। मरणाभाव में, भूमि पर आगमन असंभव ही रहा। क्वचित्, देव सुलभ शक्ति से उनका भूतल पर आगमन संभवति माना जाये तथापि, उस समय ये विमान-द्वारा आकाश मार्ग से जा रहीं थीं। अतः उस समय अन्य भय से विमान को छोड़कर गुप्ततया क्योंकर पैदल आ सकती थीं ? विमान चारिणी होते हुये भी, चातुर्यपूर्वक, विमान को ही भगवत् समीप ले जाकर, आ सकती थीं, किंतु, इस तरह, उपाय करके स्वतः भी नहीं आ सकी क्योंकि, कामोदय से उनकी विवेक अर्थात् विचार शक्ति ही नष्ट हो गयी थी। "स्मरनुन्नसाराः' काम से आर्त प्राणी, मंद-बुद्धि होता है "कामार्ताः हि प्रकृति कृपणाः"। इस तरह भूमि पर अनागमन में, पावों से अनागमन में तथा स्वतः अनागमन में—यह तीन कारण थे। तदनन्तर जो घटित हुआ उसका निरूपण करते हैं कि 'मुमुहुः' देवांगनायें मोह को प्राप्त हो गयीं। यह मोह केवल अंतःकरण में ही नहीं हुआ, यह मोह देह में, ऊपर नीचे सर्वत्र हुआ।

**भ्रश्यत् प्रसूनकबराः मुमुहुर्विनीव्यः**—केश-पाश के शिथिल हो जाने से, उसमें से निपतित पुष्पावली चारों और विशीर्ण हो गयी, नीवी के बंधन खुल गये—इतना मोह हुआ कि उनको अपने देह का अनुसंधान नहीं रहा। यहां केश-पाश की विशीर्णता से, अप्सराओं द्वारा पारलौकिक फल के परित्याग का तथा नीवी-बंधन की शिथिलता से इस लोक के फल परित्याग का निर्देश किया गया है। अप्सराओं को यह अनुसंधान ही नहीं रहा कि हम यहां किस प्रयोजन से आयी हैं, भगवत्-सह संमिलन की हताशा में, विरह-सुलभ मरण-रूप दशम-अवस्था को भी प्राप्त नहीं कर सकी, क्योंकि, देवता होने के कारण वे अमर थीं। विमान चारिणी होने के कारण भूतल पर नहीं गिर पायीं—विमान में ही मूर्छित हो गयीं। मोह के कारण विवेकशून्य हो जाने से भगवद्-निकट आने का उपाय भी तो नहीं सोच सकीं !!! भगवद् भोग के अयोग्य जीव में रसोत्पत्ति की संभावना ही कहां ? अप्सरायें भगवद् भोग के अयोग्य ही रहीं, अतः इनसे संबंधित, यहां, इस रसाभास का वर्णन किया गया है।

देव-लोक में निवास करनेवाली ये सभी देवांगनायें, अप्सरा ही हैं—तथा अपने देवपतियों सहित ही विमान में आरूढ हैं। ये अप्सरायें, उन देवताओं की पत्नियां हैं, जो योगियों की भांति अपने एक स्वरूप से व्रज में अवतरित हुये हैं तथा अपने दूसरे पूर्व-स्वरूप से स्वर्ग में विद्यमान हैं। तदनुसार, स्वर्ग में स्थित अपने देवपतियों के साथ विमान में बैठकर ये अप्सरायें व्रज में गोपवेश से अवतीर्ण अपने देवपतियों के अन्वेषणार्थ यहां आयी हैं। देवांगनायें, देव पतियों

के साथ ही विमान में गमन करती हैं, एकाकी नहीं, और यही लोक प्रसिद्धि है। युगल गीत में भी 'सह सिद्धैः' पद द्वारा यही प्रतिपादित किया गया है। इसीलिये, सुबोधिनी में-'देवसहितानाम्'-ये अप्सरायें अपने देव पतियों सहित हैं- ऐसा उल्लेख किया गया है। तथापि मूल श्लोक में "देव्यः" पद से यह सूचित होता है कि विमान में केवल देवियां ही हैं, देव नहीं, अतः पक्षान्तर में यह अर्थ किया जा सकता है कि ये अप्सरायें, प्रायः यहां व्रज में अवतीर्ण केवल देवों की पत्नियां हैं। इस पक्ष में, यहां व्रजमें अवतरित गोप-वर्ग के ही पुरुषत्व का अवबोध कराया गया है। अर्थात् अपने अपने पति का अवतार दशा में जो स्वरूप है उस स्वरूप के अन्वेषणार्थ, अप्सराओं का यहां आगमन हुआ है। स्वर्ग में, अपनी देव पत्नियों को अकेली छोड़कर, जिन देवों नें यहां गोप-रूप से अवतार लिया है उनके अन्वेषण के लिये ही, ये अप्सरायें यहां आयीं, भगवद्-दर्शनार्थ आगमन तो भय के कारण संभवित ही नही है। इन अप्सराओं का निर्भयता पूर्वक भगवद्-दर्शनार्थ आगमन तो इन्द्र के अभिषेकानन्तर हुआ। अतः विमान द्वारा जब अप्सरायें आयीं तब भगवद्-दर्शन करते ही, पति अन्वेषण रूप अपने मूल कर्तव्य को ये भूल गयीं तथा भगवान् के त्रिभुवनाद्भुत सौंदर्य का निरीक्षण करते ही, उनमें यह तीव्र लालसा उत्पन्न हो गयी कि यह मेघश्याम-स्वरूप ही हमारे पति हों। इस विचार ने उनको मोहाक्रांत कर दिया परिणामतः वे मूर्छित होकर विमान में ही गिर पड़ीं। गोपाङ्गनायें कहती हैं कि ये देवांगनायें आयीं थी अपने अपने पति के अन्वेषणार्थ, किंतु, प्रभु के दर्शन करते ही, उनको सब कुछ विस्मृत हो गया, तथा प्रभु ही हमारे पति हों, यह एक ही भाव उनमें सर्वोपरि रहा। यदि इनको भी ऐसा भाव हुआ, तो फिर, हम गोपियों को, जो भगवदर्थ ही अवतीर्ण हुयी हैं, यदि यह भाव हो कि भगवान् ही हमारे पति हों, तो वह सर्वथा सुसंगत है ॥ १२ ॥

**– द्वादश-श्लोक संपूर्ण –**

——:0:——

## त्रयोदश-श्लोक-विवरण :–

संप्रति गोपाङ्गनायें गायों, एवं वत्सों के चरित्र का निरुपण करतीं हैं–

**गावश्च कृष्ण-मुख-निर्गत-वेणु-गीत-पीयूषमुत्तभितकर्ण-पुटैः पिवन्त्यः ।**
**शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाःस्मतस्थुर्गोविदमात्मनिदृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥१३॥**

**अनुवाद** :–और इन गायों की ओर तो देखो! श्रीकृष्ण के मुख से निर्गमन करते हुये वेणु-गीत के अमृत का, अपने कर्णरूपी दोनों को ऊंचा उठाकर, पान कर रहीं हैं, और इनके नन्हें नन्हें वत्सगण भी, गीत को सुनकर, मुख में से बाहर-झरती हुयी दूध की घूंट-सहित स्थिर हो गये। दूध की घूंट को गले से नीचे उतारना ही भूल गये, वह मुख से बाहर ही स्रवित होने लगी। ये गायें तथा वत्स, श्रीकृष्ण को अपनी दृष्टि द्वारा, हृदय में स्थापित करके, उनका स्पर्श कर रहे हैं, मानों उनको प्रेम से भेट रहे हैं और इसीलिये तो उनके नेत्रों में से अश्रुकण-कलायें-झरझर कर बाहर बरस रहे हैं ॥ १३ ॥

**नंदकुमार-मुखांबुज पूरित-वेणु-निनाद सुधा हु निराली ।**
**आतुर व्है जेंहि पीबत गोधन ऊंची किये निजकर्ण-पुटाली ॥**
**वत्स तजैं स्तन-पान-स्रवैं-मुखतें जे भरीं पयघूंटनि आली !**
**आंसुनतें छलकीं अखियां उन, अंतरमें परसें वनमाली ॥१३॥**

(इस श्लोक में भगवान् के 'यश' धर्म का निरूपण किया गया है। गाय आदि पशुओं की तृणादि के प्रति तथा वत्सों की दूध के प्रति अनन्य आसक्ति रहती है। पशुओं की इस उत्कट किंतु स्वाभाविक आसक्ति को हटाकर, भगवान् ने उसे अपने ही स्वरूप-सौंदर्य रूप अमृत में केन्द्रित कर दी। पशुओं द्वारा प्रकट किये गये भगवद्-यश का यह परमोज्ज्वल स्वरूप है। भगवान् ने इन मूढ, मूक तथा निःसाधन पशुओं को तथा निरीह असहाय वत्सों को, अपनी सौंदर्य-सुधा से आस्नात कर दिया–यदि इस तरह न करते तो भगवद्–यश के इस अद्‌भुत स्वरूप का परिचय कैसे मिलता ?)

**व्याख्या:– 'गावश्च'** :–और गायों की भी वेणु गीत के पीयूष पान से, वही दशा हुयी, जो देवांगनाओं की हो गयी थीं। जिस तरह, भगवत् सह संमिलन की अभिलाषा में देवांगनायें असफल रहने के कारण, मोहावस्था से मूर्छित हो गयीं, और, उसी तरह गायें भी अपनी अभिलाषा की अपूर्ति में, मोहावस्था को प्राप्त हुयीं।

गायों की तथा अप्सराओं की यह कौनसी अभिलाषा थी जिसे वे प्राप्त न कर सकीं ? भगवान्, भक्त की सेवा से प्रसन्न होकर, उसे यथायोग्य तीन प्रकार के फल-दान द्वारा कृतकृत्य करते हैं– अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य तथा सेवोपयोगी देह। अलौकिक सामर्थ्य, उत्तम फल है, सेवोपयोगी देह, अधम, तथा सायुज्य, सेवा का मध्यम फल है। यहां, सायुज्यात्मक मध्यम फल रूप अभिलाषा का निरूपण किया गया है। देवांगनायें सात्विकी अतएव उत्तम हैं, गायें तामसी अतएव अधम हैं, तदनुसार, उत्तम-अधम, इन दोनों को सायुज्य रूप मध्यम-फल की अभिलाषा है किंतु इन दोनों को ही सायुज्यरूप मध्यम-अभिलाषा की प्राप्ति असंभव है, इसीलिये गायों को देवांगनाओं की तरह मोह हुआ–अभिलाषा की अप्राप्ति में मोह ही होता है– 'असंभावित्वान्मोहः'। अथवा, यहां सात्विक तथा तामस की-राजस-देहाभिलाषा का निरूपण किया गया है–अर्थात् सात्विकी देवांगनाओं की तथा तामसी गायों की इन दोनों की राजस-भावयुक्त रमणात्मक-अभिलाषा है। गायों को रमणात्मक अभिलाषा की प्राप्ति असंभव है। इसीलिये देवांगनाओं की तरह इनको मोह ही हुआ।

अथवा, यहां उत्तम शब्द से, हरिणियों का भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि, इन हरिणियों ने अपने नेत्र सौंदर्य द्वारा, भगवान् को, उनकी प्रियतमाओं के नेत्र सौंदर्य का स्मरण कराते हुये, भगवान् के प्रियत्व का संपादन किया है, अपने इस कृत्य के लिये, धन्यास्पद हरिणियां उत्तम मानी गयी हैं, तथा शृंगार-रस में अपनी अनुपयुक्तता के कारण गायें अधम हैं। शृंगार-रस का अनुभव कराने वाले अंगों से रहित होने के कारण गायों के लिये रसानुभव असंभव है। इसीलिये गायों को मोह हुआ और यही अवस्था हरिणियों की हुयी।

अथवा 'उत्तमाधमयोर्मध्यमाभिलाषो निरूप्यते' :– इस पंक्ति का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि हरिणियों को भगवद् दर्शन मात्र की अभिलाषा है, गायों की अभिलाषा मात्र भगवान् के अन्तर्दर्शन की तथा अंतःस्पर्शन की है। अप्सराओं की रमणाभिलाषा है। अप्सराओं की यह अभिलाषा सर्वोत्तम है, अतः इनकी इस अभिलाषा की तुलना में, हरिणी तथा गाय की अभिलाषा मध्यम है। अप्सराओं को भगवत् सह रमण की अभिलाषा है, किंतु, न तो वे प्रभु के निकट ही आ सकीं और न रसानुभव ही कर सकीं। रसानुभव में यह असफलता अथवा असंभाविता ही उनकी मूर्छा में हेतु थी।

**उत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्य :–** गायें, उंचे उठाये हुये अपने कर्ण-पुटों द्वारा कृष्ण-मुखसे निकले हुये वेणु गीत के पीयूष का पान कर रही हैं। यहां यह शंका

होती है की गायों की आसक्ति तो मात्र वेणु-नाद में ही कही जा सकती है: फिर भले ही, उसका वादक कृष्ण हो या अन्य कोई ? यहां कृष्ण के अतिरिक्त उनके अन्य गोप सखा भी वेणुवादन कर रहे थे, अतः श्रीकृष्ण के मुख को देखे विना, तथा एक वेणु नाद से, अन्य वेणुनाद की विलक्षणता पहिचाने बिना (इतर-वैलक्षण्या-नवधाने) ये पशुजाति की गायें, कैसे जान सकीं कि यह वेणु गीत श्रीकृष्ण के मुख से ही निकला है ? पशु को किसी वस्तु का विशिष्ट ज्ञान नही होता, और यही प्रसिद्ध है, इसी के निर्देशार्थ यहां 'हि' का प्रयोग किया गया है। अतः यह कथन कि गायों ने कृष्ण-कृत नाद से ही आसक्त होकर अपने कर्ण-पुटों को ऊंचे उठाये हैं, यह कहां तक उचित है।

इस शंका का समाधान 'कृष्णमुख-निर्गत-वेणु-गीत पीयूषम्' इस पंक्ति से किया गया है—कृष्ण के मुख से निर्गत यह वेणु गीत, पीयूष रूप है। यह वेणु-गीत 'अमृत' है अतः इसकी अभिव्यक्ति 'सदानंद' श्री कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं कर सकता। व्यंजकान्तर के अभाव में भी, यह वेणुगीत रूप अमृत स्वतः ही अपना ज्ञान करा देता है, इसका ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। वेणु गीत का यह अमृतात्मा स्वरूप ही, स्वव्यंजक है—अपना ज्ञान, अपने आपसे ही कराता है। वेणु-गीत का यह पीयूष, सदानंद का वाचक है, सदानंद, पीयूष का वाच्य है। पीयूष शब्द का अर्थ ही 'सदानंदकृष्ण' है, अतः यहां स्वरूप ही स्व-व्यंजक है। अन्यगीत, अपने गायकका वाचक हो, ऐसा यद्यपि कोई नियम नहीं है तथापि भगवान् से अधिक तो अन्य और कोई है ही नहीं—भगवत् कृत यह गीत तो सदानन्द का ही वाचक है, अतः सदानन्द-कृत नाद का वाच्य अर्थ भी सदानन्द है; और यही इस नाद-अर्थात् गीत की विशेषता है। अन्यकृत नाद 'केवल-सा-रि-ग-म' आदि स्वर मात्र ही हैं, किंतु प्रस्तुत नाद तो सदानन्द-रूप ही है। इसीलिये, नाद में प्रतिष्ठित इसी सदानंद रस के अनुभवार्थ, गायों ने अपने कर्ण-पुटों का उत्तभन किया है। यदि यह नाद अन्य-कृत होता, तो ये कदापि ऐसी चेष्टा नहीं करतीं। यदि, 'कृष्णमुख-निर्गत-वेणुगीत-पीयूषम्' इस पंक्ति का यही अर्थ अभिप्रेत है, तो फिर, 'कृष्णगीत-पीयूष' इतना कहना ही पर्याप्त होता इतनी विशद लंबी चौड़ी पंक्ति की आवश्यकता ही क्या थी ?

इस शंका का समाधान श्रीमद्-आचार्य-चरण 'सदानन्दो वाच्यः' इस पंक्ति से करते हैं। तात्पर्य यह है कि, भगवान् के मुख से निकला हुआ वेणुगीत, सभी श्रोताओं के लिये, 'सदानन्द' रूप है, तथापि, इसी गीत के श्रवण करने से देवांगनाओं को तो रसानुभव नहीं हुआ, किंतु, गायों को रसानुभव हुआ इस का कारण यह

था कि देवांगनाओं ने जिस गीत का श्रवण किया, उस गीत में रसानुभव करानें वाली संपूर्ण सामग्री 'कृष्ण' पद के अन्तर्गत गुप्त रूप से ही रही–अप्रकट थी। किंतु, यहां, गायों को रसानुभव कराने के लिये भगवान् ने रस की अनुभावक संपूर्ण सामग्री को गीत में प्रकट की है। इसी संपूर्ण-सामग्री का बोध कराने के लिये ही (१) मुखं-वागधिपतिः, (२) निर्गमनं वाक् तथा (३) वेणुः इतरविस्मारकः–इन तीनों पदोंसहित 'षड्गुणात्मको वेणुः' इस पद का उल्लेख, श्रीमद्-आचार्य-चरण ने किया है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व श्लोक में देवांगनाओं को भगवद् इच्छा से, रसानुभव नहीं हुआ, मोह ही हुआ, किंतु, गायों को तो रसानुभव कराना प्रभु को अभिप्रेत है, क्योंकि गायें भगवदीय हैं, प्रभु को प्रिय हैं, सदैव इनके संग ही विचरण करती हैं। यहां, यदि यह शंका हो, कि गायें तो पशु है, उन के लिये रस पान करना असंभव है, तो इसके निरासार्थ यह उत्तर है- भगवत्-कृत यह वेणुगीत कोई साधारण गीत नहीं है। जिस प्रकार से इन पशुओं को भी रस का अनुभव हो, उस प्रकार की संपूर्ण सामग्री इस गीत में, भगवान् ने प्रकट की है। यह गीत, उस सर्व-सामग्री से प्रकटतया संपन्न है, जिस से गाय जैसे पशु भी रसानुभव कर सकें। इसी का निर्देश करने के लिये, 'कृष्ण मुख निर्गत-वेणुगीत-पीयूषम्' इस पद का प्रयोग गोपीजन ने किया है। तदनुसार, इससे अग्रिम प्रसंग में, गायों को उनके हृदय में भगवद्-दर्शन भी हुये तथा भगवत्-स्पर्शन भी–क्योंकि, इस गीत में, रसानुभावक-सामग्री प्रकट रूप से वर्तमान थी–इस में वाणी का अधिदेवता 'मुख'-'वागधिपतिः', 'निर्गमनरूप वाक्-इन्द्रिय'-'निर्गमनं वाक्' तथा अन्य विषयों की विस्मृति करानेवाला वेणु था–'इतरविस्मारको वेणुः'। अन्य विषयों की विस्मृति में ही निशंक तथा निर्विघ्न रसानुभव होता है इसीलिये, रसानुभूति में, इतर विषयों की विस्मृति आवश्यक है, अतः, विस्मृति भी सामग्री मानी गयी है। शब्द में स्थित रस की प्राप्ति कराने में मुख तथा वाक्-इन्द्रिय (अर्थात् वाक् का अधिदेवता-अर्थात् मुख-तथा वाक्) यह दोनों साधन हैं, अर्थात् सामग्रीरूप हैं। अपने अधिदेवता से युक्त इन्द्रिय ही कल्याण कारिणी, कल्याण की साधिका होती है। इस प्रकार की इन्द्रिय द्वारा संपादित कार्य ही, शीघ्र कल्याणप्रद होता है। तदनुसार, अपने अधिदेवता से संपन्न शब्द ही, यथार्थ का ज्ञान कराता है। और इसीलिये मुख (देवता) तथा वाक् (इन्द्रिय) यह दोनों, शब्द गत रस का अनुभव कराने में यहां सामग्री रूप कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि शब्द-ज्ञान में, शब्द ही हेतु है, अतःशब्द से संबंधित सभी धर्म 'सामग्री' रूप हुये। तदनुसार, वाक् का अधिदेवता 'मुख', निर्गमन रूप वाणी (यहां 'निर्गत' का अर्थ 'वाणी' है)–तथा इतर विषयों का विस्मारक वेणु–यह त्रिविध-सामग्री 'गीत' में प्रकट रूप से आविर्भूत हैं। जहां आधि-दैविक 'मुखाग्नि' के संबंध मात्र से

आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक पदार्थों को भी कार्य-क्षमता प्राप्त होती है, अपने प्रभाव के प्रकटीकरण में समर्थ होते हों, वहां साक्षात् आधि दैविक मुख, वाणी तथा वेणु इन तीनों के सामर्थ्य की-प्रभाव की-सीमा ही कहां ? अर्थात्, जिस शब्द की उत्पत्ति में यह तीनों अधिदेवता-वाक्-अधिपतिमुख, वाक्-निर्गमनरूप विषयेन्द्रिय तथा इतर-विषयों का विस्मारक (द्वार रूप) वेणु जहां प्रधान हेतु बनते हों, वहां कैमुतिकी न्यायानुसार उस 'शब्द' से-'गीत' से गाय जैसे पशुओं को रसानुभव हो, उसमें आश्चर्य ही क्या ?

यहां, यह समझ लेना चाहिये, कि इन्द्रियों के अधिष्ठान को गोलक कहते हैं। भगवान् में देवता ही गोलक रूप हैं और विषय ही इन्द्रिय रूप हैं—जिसका प्रतिपादन श्री भागवत् के द्वितीय स्कंध में किया गया है। इसीलिये यहां 'मुख' पद देवता वाचक है तथा निर्गम-पद इन्द्रिय वाचक है। आसन्य-रूप प्राण ही निर्गमन दशा में वैखरी-वाणी कहलाता है। आसन्य-प्राण का जब मुख से बाहर निर्गमन होता है, तब, इस निर्गमन के पूर्व, वाणी की तीन अवस्थायें होती हैं-परा-पश्यंती तथा मध्यमा। मुख से बाहर निकलने पर यही वाणी वैखरी कहलाती है। अतः यहां 'निर्गमन' को 'वाक्' कहा गया है, 'निर्गमनं वागिति'। वेद, ब्रह्म का निश्वसित-निश्वास-रूप है, तदनुसार निश्वसित अथवा निर्गमन, वाक् ही है।

इस तरह गीत का सामग्री से निरूपण करके, उसका स्वरूपतः निरूपण किया जाता है। प्रस्तुत गीत, पूर्वोक्त देवांगना-संबंधित गीत की अपेक्षा, सामग्री से विशेष तो है ही, स्वरूप से भी विशेष है। अर्थात्, आधिदैविक सामग्री से संपन्न होने के कारण, यह गीत, रसानुभावक तो है ही, स्वरूप से भी रसानुभावक है।

**गीत का स्वरूप :–**पूर्वोक्त गीत विचित्र अर्थात् सर्व-रसों की अभिव्यक्ति रूप था, प्रस्तुत गीत शुद्ध पीयूष रूप है, यह भगवान् के छहों गुणों वाला अतएव भगवद् रूप, भगवदात्मक है। यहां, यह शंका होती है कि गायों को शब्द के वाच्य अर्थ का ज्ञान नहीं है। और, इसीलिये, रस के स्वरूप-ज्ञान से रहित हैं, तो फिर इनको शब्द के कार्य रूप रस का अनुभव किस तरह हुआ ? इस शंका का निरास– 'कृष्णमुख-निर्गत-वेणु-गीत-पीयूषं' इस पंक्ति में 'कृष्ण' पद के अर्थ–निरूपण द्वारा, किया गया है। अमृत-स्वरूपात्मक होने के कारण यह गीत, अपने 'सदानन्द' अर्थ को–कृष्ण-पद अर्थ को–स्वतः प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि अर्थ, स्वरूपात्मक है अतः वह स्वतः ही प्रकट है उसको प्रकट करने में ज्ञानरूप साधन की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि, अर्थ-प्रकट वस्तु, ज्ञान की अपेक्षा अधिक बलिष्ठ है–बलवत्वाच्च। प्रकाश, जोस्वयं प्रकाश ही है, उसके प्रकाशन में, प्रकाशान्तर की कोई अपेक्षा नहीं है। प्रकाश,

स्वयं अपना प्रकाशक है। गीत स्वयं स्वरूपात्मक अर्थात् रस-रूप है, अपनी रस-रूपता की प्रतीति वह अपनी रसरूपता से स्वतः कराता है। गीत की रसानुभूति में, उसके साक्षात् प्रमेय बल के कारण, गायों का पशुत्व, उनका अज्ञान, प्रतिबंधक नही है। गायों को जो रसानुभव हुआ, उसमें रस, स्वयं अपना अनुभावक है। गायों के हृदय में, कृष्ण तत्व का अथवा सदानंद का अनुभावक, स्वयं सदानंद कृष्णतत्व ही है और प्रस्तुत गीत का यही तो स्वरूप है- शुद्ध पीयूषात्मक–सदानन्दात्मक।

तदुपरांत, इस 'पीयूष' का, यहां कृष्ण-मुख से साक्षात् संबंध नहीं है, यह पीयूष प्रथम श्रीकृष्ण-मुख से वाणी रूप में निर्गत हुआ, फिर वेणु में आया है, अन्त में, गीत में प्रकट हुआ है। पीयूष का, कृष्ण मुख से साक्षात् प्रधानतया नहीं, किंतु, परंपरा से संबंध है। इस प्रकार परंपरा से संबंधित पीयूष का ही जब इतना विलक्षण प्रभाव है, और, जो गाय जैसे पशु जाति के प्राणियों में भी ऐसे सदानंद-रस को प्रकट करता है, उसी पीयूष का, साक्षात्, श्रीकृष्ण के अधर से अपने अधर मिलाकर, मुख से मुख सटाकर, पान करनेवाली, लक्ष्मीस्वरूपा स्वामिनी-वर्ग के विषय में, रसानुभव की आनंदमयता का तो फिर कहना ही क्या? उनको जिस सदानंद-रस का अनुभव होता होगा, उसका निरूपण वाणी का विषय नही बन सकता। अपनी इसी उत्कंठा का बोध कराने के लिये भी, यहां, मुख और पीयूष के बीच में निर्गत, वेणु तथा गीत-इन पदों की परंपरा का प्रयोग व्रज-देवियों ने किया है, क्योंकि "साक्षात् पान अन्य किसी को भी नहीं, वह तो हम व्रज-देवियों को ही उपलब्ध है।"

यहां, पीयूष के परंपरा संबंध का यह कथन जो किया गया उसमें एक रहस्य और है। भगवान् का मुख साक्षात् अग्निरूप है–'अग्निर्मुखं ते'। अतः साक्षात् मुखद्वारा, उच्छिष्ट-रीति से, भगवद्-अधर पीयूष का पान करनेवाली स्वामिनी में यह पीयूष अथवा अधरामृत कदाचित् उत्कट-ताप भी प्रकट करता होगा। किंतु, गायों के लिये तो यह अधर-पीयूष इतना तापात्मक नहीं है, क्योंकि, यहां यह पीयूष, प्रथम, भगवान् के मुख से निकलता है–निर्गमन करता है, फिर, वेणु में आता है और अन्ततः गीत में प्रकट हो कर गायों के हृदय में प्रवेश करता है। कृष्ण के मुख से अपने इस व्यवधान के कारण अर्थात् मुख से, इस तरह अपनी परंपरा-क्रम से संबंधिता के कारण इस पीयूष में, मुख के साक्षात् ताप-धर्म की उग्रता नहीं रहती। साक्षात् अग्नि अपने संपूर्ण-तापधर्म के साथ यदि पीयूष में संक्रमित हो जाये, तो उसका पान, ताप-जनक होने के कारण, यहां गायों के लिये इतना आनन्द जनक नहीं होता। अतः मुखाग्नि के ताप-धर्म की उत्तरोत्तर न्यूनता का निर्देशन

करने के लिये ही, मुख, निर्गत तथा वेणु पदों का प्रयोग किया गया है। मुख से निर्गमन करते हुये, अंततः—गीत में आविर्भूत इस पीयूष का ताप धर्म, परंपरा क्रमसे, इस व्यवधान के कारण, न्यूनतम हो गया। इस तरह, ताप-धर्म के अभाव में, गायों के लिये पीयूष का रसात्मक-अनुभव ताप रहित अतएव रसाल किंवा, आनन्द जनक हो गया। मुख तथा पीयूष के मध्य में निर्गत, वेणु तथा गीत इन-पदों का प्रयोग, मुख और पीयूष में परंपरा संबंध का निर्देश करते हैं, साक्षात् संबंध का नहीं। साक्षात् संबंध में, परंपरा संबंध की अपेक्षा, ताप-धर्म की उत्कटता रहती है। इसीलिये तो साक्षात् अधरामृत पान के अनन्तर गोपाङ्गनाओं को जैसा-ताप-विरहात्मक-हुआ, वैसा ताप इससे पूर्व अर्थात् अधरामृत-पान के पूर्व नही था। किंतु, मुखाग्नि से अपने सहज-संबंध के कारण और इस तरह, अपने में ताप-धर्म की सहज स्थिति के कारण, यह पीयूष अल्प-ताप उत्पन्न करता ही है। और यही उचित है, क्योंकि ताप-तृष्णा जनक है। तदनुसार किंचित् ताप-धर्म से युक्त तथा इस तरह रसालता के लिये हुये इस पीयूष का, गायों ने आर्ति पूर्वक तृषित की तरह अधिकाधिक पान किया। इसी हेतु से, पीयूष, किंचिन्मात्र ताप जनक कहा गया है—'कंचन तापं जनयति—इति ज्ञापनाय एतावत् उक्तम्'। पीयूष की किंचिन्मात्र ताप जनकता का निर्देश करने के लिये ही यहां मुख, निर्गत, वेणु तथा गीत आदि पदों का प्रयोग, कृष्ण तथा पीयूष के मध्य में किया गया है। जब तक, भगवद्-विरह में ताप क्लेश नहीं होता, तब तक, अंतःकरण में भगवान् का आविर्भाव नहीं होता। गायों के हृदय में जो भगवत् प्रादुर्भाव हुआ, वह पीयूष के इसी किंचिन्मात्र ताप-धर्म के कारण।

इस तरह, यह गीत, स्वतः रसानुभूति कराने वाली सर्व प्रकार की रसात्मक सामग्री से समन्वित है, और इसी सामग्री का निर्देश, यहां उपर्युक्त पद-त्रयी से किया गया है, अतः 'सर्वां सामग्रीं वस्तुमेतावद् उक्तम्'। अन्यथा, 'कृष्ण गीत पीयूषम्' इतना कथन ही पर्याप्त होता। इस तरह यह गीत, अपनी इस प्रकार की सामग्री-संपन्नता में, पूर्वोक्त जिस गीत से देव-स्त्रियों को मोह हुआ, उससे विशेष तो है ही स्वरूप से भी विशेष है। पूर्वोक्त गीत सर्व-रसार्थ था-सर्व रसों का अनुभावक था। प्रस्तुत गीत, पीयूष रूप है, षड्गुणात्मक होने के कारण भगवद्-रूप है, अतः रसात्मक-स्वरूप का अनुभावक है। 'गीतं षड्गुणात्मकम्' भगवद् अधर पीयूष षड्गुणात्मक है, इसका निरूपण अग्रिम प्रसंग में किया गया है।

**उत्तभित-कर्णपुटैः पिबन्त्य :**—यहां गायों ने गीत के पीयूष-रस का पान करने के लिये, अपने कर्ण पुटों को अर्थात् कर्णरूपी दोनों को ऊंचे कर लिये। कर्ण-पुटों को

ऊंचे करने में उनका अभिप्राय था कि इनमें इतर अर्थात् अन्य कृत गीत का रस न आजाये। भगवत् कृत गीत-पीयूष के अतिरिक्त किसी अन्य के गीत-रस का इन कर्ण पुटों में प्रवेश न हो, इसीलिये गायों ने अपने कर्णपुटों को ऊंचे उठा लिये। यहां 'कर्ण-पुटै:'—पद बहुवचनान्त है, क्योंकि, रस-अमित मात्रा में है, अतः इस रस को भर भर कर पिलाने के लिये अनन्त कर्ण पुटों की आवश्यकता है। एक ही कर्ण पुट में, विपुल मात्रिक रस कैसे समा सकता है, और प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक पुट में, भरा जाने वाला रस भी नूतन है। अतः प्रत्येक क्षण के नूतन रस को भरने के लिये भी, प्रत्येक क्षण में नूतन ही कर्ण-पुट-दोना-अपेक्षित हैं—अतः क्षण क्षण में भरे जाने वाले नूतन रस के लिये, प्रतिक्षण नये नये कर्ण पुट ही निष्पादित होने चाहिये। अर्थात् जैसे एक रस-से पूर्ण पुट में, द्वितीय रस के लिये अवकाश नहीं रहता, उसी तरह, एक एक क्षण संबंधी नाद-रस से पूर्ण पुट में, द्वितीय तृतीयादि क्षण संबंधी नाद-रस का प्रवेश-भराजाना-संभवित नहीं, इसीलिये, इस नाद-रस के पानार्थ द्वितीय-तृतीयादि पुट आवश्यक हैं और इसीलिये प्रतिक्षण नूतन -कर्ण पुट की भी आवश्यकता रहती है। क्योंकि कर्ण-पुट के अभाव में, नाद-रस का ग्रहण-पानही असंभव हो जाता है। अतः प्रतिक्षण नूतन कर्णत्व का यहां कथन किया गया है। यहां यह कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है। भगवान् से संबंधित जितने भी विषय हैं, उनका ग्रहण लौकिक इन्द्रियां नहीं कर सकतीं। अलौकिक का ग्रहण अलौकिक इन्द्रियों द्वारा ही संभव है—और यह भी तब संभव है, जब, स्वयं भगवान् उस वस्तु का दान करना चाहते हों— उस वस्तु के देने की, स्वयं भगवान् को इच्छा हो। अतः, किसी वस्तु को, जब, स्वयं भगवान् देना चाहते हों, तब, उसको ग्रहण करने की शक्ति से तथा साधन संपत्ति से, जीव को, भगवान् स्वयं ही संपन्न भी कर देते हैं—'तथा च तयैव तावत्साधनसंपत्तिर्भवति'—इस उक्ति में लेश मात्र भी असंगति नहीं है। अतः, गायों को पीयूष-पान कराने के लिये, स्वयं भगवान् नूतन कर्ण-पुटों से संपन्न करते रहे और इसीलिये, कर्ण-पुटों में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। अथवा, प्रत्येक पक्ष में, यहां बहुत सी गायें हैं, इसलिये भी बहुवचनान्त-पद उपयुक्त है। यहां गायों के रस पानार्थ ही, पुट-शब्द से, कर्ण-संपादन का निर्देश किया गया है, यही समझना चाहिये। पत्तों के दोनों का, एक ही बार उपयोग होता है, कार्यान्तर के लिये अनुपयुक्त हो जाते हैं। धातु के पात्रादि की तो उपयोगानन्तर भी, अनेकविध उपयोगिता है, किंतु, बहुत सी गायों के लिये यहां वन में उनका उपयोग उचित-संभव-नहीं।

यहां प्रतिक्षण नूतन कर्ण-पुट में, गायों के रसपानार्थ, प्रतिक्षण नूतन रस भरा जा रहा है। यहां पुटों की बहुलता से प्रतिक्षण नूतन-रस रूपता का बोध कराया गया

है। यदि रस के इस तरह प्रतिक्षण नूतनत्व को स्वीकार करते हैं, तो रस के नित्यत्व में क्षिति पहोंचती है। इस प्रकार की यहां शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि, 'चूत-प्रवाल' आदि पूर्व श्लोक की कारिकाओं द्वारा, रस के नूतन होते हुये भी, उसके नित्यत्व की व्यवस्था का स्पष्टीकरण किया जा चुका है–'व्यवस्था तु पूर्वोक्तैव'। रस-शास्त्र की प्रणालि के अनुसार, रसोत्पत्ति की पद्धति विशेष द्वारा, रस का जिस प्रकार से आविर्भाव होता है उस प्रकार में भेद होने पर भी रस का नूतनत्व, उसके नित्यत्व से अविरुद्ध है। रस के आविर्भाव प्रकार में ही भेद है रस में नहीं, रस तो नित्य है, एक रस है।

**'शावाःस्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुः'**–श्रीकृष्ण के मुख से निर्गत गीत-पीयूष का कर्ण पुटों द्वारा पान करती हुयीं गायें जहां की तहां स्थिर हो गयीं, इसी तरह गायों के अथवा हरिणियों के अथवा अन्य पशुओं के शाव-बालक अथवा दूध-मुंह छोटे छोटे वत्स भी, नाद रस के पानसे आप्यायित होकर चित्र लिखे से जहां के तहां खड़े रहे, तथा अभी अभी अपनी अपनी माताओं के स्तनों से जिस दूध का पान किया था उस दूध के कवल को निगीर्ण करना ही भूल गये, अतः यह दुग्ध-कवल उनके मुख में से बहिःस्त्रवित होने लगा। नाद-रस के पान में, दुग्ध-कवल को निगीर्ण करने की क्रिया स्थगित हो गयी, दूध, मुख से निकल कर बाहर बहने लगा। यहां गाय आदि पशुओं के दूध मुंह बालकों का ही ग्रहण करना चाहिये। इसीलिये सुबोधिनी में "अतिबालकाः"–इस पद का प्रयोग किया गया है–क्योंकि, यह लीला उत्थापन समय की है और उस समय किंचित् प्रौढ वत्स खिरक में ही बंधे रहते हैं। अतः उनके द्वारा दूध का पान तथा उनके मुख से उसका बहिःस्रवण, संभव ही नहीं है। अतः उत्थापन कालीन लीला में 'अतिबालक' पद का प्रयोग प्रशस्त है। अथवा, सायंकालीन लीला का यह वर्णन हो सकता है, उस समय, वन से, व्रजागमन के अनन्तर, छोटे वत्सों द्वारा अथवा किंचित् प्रौढवत्सों द्वारा स्तन्य-पान तथा दूध का बहिःस्रवण संभव है, ऐसी स्थिति में, "अतिबालकाः" में 'अति' पदका प्रयोग नहीं किया जाना जाहिए।

**"वत्साः स्नुत-स्तनपयः कवलाः"**–इस पद का अर्थ है स्तन से पान किया गया दूध का कवल स्रवित हो रहा है-जिनके मुख से ऐसे वत्स, यहां स्तनों से ग्रहण किये गये दूध की घूंट बहिः स्रवित हो रही हैं, उसका अन्तः प्रवेश नहीं हो रहा। गीत के पीयूष-पान में ही अपनी अनन्य तन्मयता के कारण, स्तनों से ग्रहीत दुग्ध-कवलों को निगीर्ण करने की क्रिया, निवृत्त हो गयी। दूध का अन्तःप्रवेश नहीं हुआ उदर में वह गया ही नहीं। अतः दुग्ध-कवल बाहिर ही स्रवित हुआ। यहां यह शंका होती

है कि स्तन्य-ग्रहण तथा उसके निगीर्णन-निगलने के मध्य में काल दुर्लक्ष्य है– अर्थात् स्तन में से दूध-ग्रहण समकाल में ही दूध का अंत:स्रवण नहीं हुआ हो यह कैसे जाना जा सकता है? यह संदेह तो रह ही जाता है कि वत्सों ने दूध को निगला अथवा नहीं निगला? उदर में गया अथवा मुख से बाहिर ही निकल गया? तदनुसार, यह कथन कि दुग्धकवलों का अन्त:प्रवेश नहीं हुआ, संदिग्ध ही है। इस के उत्तर में, गोपीजन, यह प्रमाण प्रस्तुत करती है कि दूध के कवल मुख से बाहर ही तो स्रवित हो रहे हैं, और, हम यहीं तो प्रत्यक्ष देख रही हैं, यह वस्तुस्थिति सर्व प्रत्यक्ष है। हमारे सम्मुख ही घटित हो रही है। गोपीजन की इस प्रत्यक्ष प्रतीति के निर्देशनार्थ ही, प्रस्तुत श्लोक में 'स्म' पद का प्रयोग किया गया है–'कवला: स्म तस्थु:'। 'स्म' प्रसिद्धि का वाचक है और प्रसद्धि में एक मात्र हेतु-भूत प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है।

गायें तथा बछडे, जहां के तहां स्थिर हो गये। मोह, गायों को ही हुआ, दूध का बहि:स्रवण, वत्सों को ही हुआ; क्रिया निवृत्ति, दोनों को ही हुयी–'मोहो गवामेव, पय: स्रावश्चशावानामेव, क्रिया-निवृत्तिस्तूभयेषामपि'–लेख.। गायों और वत्सों की क्रिया-निवृत्ति में एकमात्र हेतु उनकी आत्मा में, भगवान् गोविंद का आविर्भाव-साक्षात्कार-था। गायें बहि:संवेदनाओं से शून्य हो गयीं, क्योंकि, उनको भीतर आत्मा में भगवान् का स्पर्श प्राप्त हुआ है। गायें देहाध्यास से रहित हो गयीं। यह तभी संभव है जब भगवान् का आत्मा में आविर्भाव हो। अश्रु-पटल से आच्छादित, अत: अन्त:आवृत्त चक्षुओं द्वारा, इन गायों और वत्सों ने अपने अन्त:करण में ही प्रभु का स्पर्श किया क्योंकि अश्रुओं से रुद्ध-दृष्टि द्वारा, गोविंद के बहि:दर्शन कैसे संभव है, अत:, उनको अन्त:स्पर्श ही हुआ। यदि यह शंका की जाये कि भगवान् उनकी आत्मा में ही आविर्भूत हुये इस में क्या प्रमाण? गायों को अन्तरात्मा में भगवत्-स्पर्श की प्राप्ति ही इस में प्रमाण है। यदि भगवान् आविर्भूत ही नहीं होते तो उनका स्पर्श गायों को कैसे प्राप्त होता, 'स्पर्शान्यथानुपपत्या एव आविर्भावसिद्धिरितिभाव:'–लेख.। यह स्पर्श भावना-मात्र नहीं है, साक्षात् आविर्भूत श्री गोविंद का ही स्पर्श हुआ है, रसात्मक-स्वरूप का ही आत्मा में आविर्भाव है यह भी यहां 'स्म' शब्द से निर्देश किया गया है। यदि गायों और वत्सों की आत्मा में गोविंद का आविर्भाव नहीं होता तो उनमें क्रिया निवृत्ति कैसे होती?. ब्रह्मानंद-तुल्यता की स्फूर्ति क्यों कर होती? यदि स्वरूपाविर्भाव औपचारिक ही होता तो गायों में, उनके मोह की हेतुभूत, स्वकीय भगवद्-तुल्यता की स्फुरणा कदापि नहीं होती। परब्रह्म के प्रादुर्भाव से ही इन पशुजाती की गायों को ब्रह्मानंद की स्फूर्ति में ही भगवद्-दर्शन तथा स्पर्शन की

उपलब्धि हुयी। यहां, 'स्पृशन्त्य:' स्त्रीलिंग है, अत: गायों को ही भगवत्-स्पर्श हुआ यद्यपि यही अर्थ यहां निष्पन्न होता है, तथापि, गायों की तथा वत्सों की इन दोनों की क्रिया निवृत्ति से तथा समान चेष्टा से यह कहा जा सकता है कि वत्सों को भी यत्किंचित्, अंशत: स्पर्श-प्राप्त हुआ, किंतु, गायों को जो स्पर्श प्राप्त हुआ वह संपूर्ण था, क्योंकि इनको तो रस-पान भी उपलब्ध कराया गया था। और जिसका निरूपण श्लोक के पूर्वार्ध में किया गया है 'पीयूषं उत्तभितकर्णपुटै: पिबन्त्य:' गायों नें यथेच्छ रसपान किया, अत: अन्त:स्पर्श प्राप्ति तो प्रधानतया गायों को ही हुयी।

यहां गायों को जो मोह हुआ उसमें, देवांगनाओं की तरह, उनकी कामेच्छा की अपूर्ति कारण नहीं है। क्योंकि, उनकी काम-बाधा, अन्य पशु से निवृत्त हो सकती थी। अत:, गायों का यह मोह, काम-कृत नहीं है। गायों के मोह में तो एकमात्र कारण भगवद्-दर्शन तथा स्पर्शन ही है। हृदय में भगवद्-प्रादुर्भाव से गायों को यह प्रतीति हुयी कि हम भगवद्-तुल्य हैं। उनमें अपनी भगवद् तुल्यता का यह भाव ही उनके मोह का प्रयोजक था –'उक्तमोहप्रयोजिका स्वस्य भगवत्तुल्यता-इत्यर्थ:'।

**गोविंदम्**–पशुजाति की गायों में, भगवान् का आविर्भाव दोष-रूप नहीं है। कहां ये पशु और कहां भगवान् का इनमें आविर्भाव ? यह विचार असंगत है। भगवान्, गोविंद हैं, यही गोविंद, गाय जैसे पशुओं के इन्द्र-परमेश्वर हैं। गो के इन्द्र को गोविंद कहते हैं। यह इन्द्र, पुष्टिमार्गीय परमैश्वर्य से संपन्न 'इन्द्र' है। अत: उपर्युक्त मर्यादाओं का उनके द्वारा यह अतिक्रमण दूषणरूप नहीं है अपितु, भूषण रूप है। यह भगवान् गोविंद का, पुष्टि मार्गीय चरित्र है, जिसमें मर्यादा का उल्लंघन-भूषण रूप माना जाता है। यहां तक, इस चरित्र का वर्णन करनेवाली गोपांगनायें, अन्यपूर्वा हैं।.१३।

**– त्रयोदश श्लोक संपूर्ण –**

—: ० :—

## गो. श्री हरिरायजी कृत, प्रस्तुत श्लोक पर, 'स्वतंत्र' लेख।

वेणु-नाद, भगवद्-भाव का उद्‌बोधक है और यही इसका सहज-धर्म माना गया है तो फिर, वेणुनाद के श्रवण से, अप्सराओं में काम-भाव का ही उदय क्यों हुआ ? एवं काम भाव सुलभ मूर्छा को क्यों प्राप्त हुई ? इस प्रकार की शंका होना स्वाभाविक है। वेणु-नाद की कृपा से हमें जो अन्तःस्फूर्ति हुयी है, उसके अनुसार, इस शंका के समाधान में हमारा यह कथन है कि वेणुनाद निरपवाद रूप से, सभी में कामोद्‌बोधन ही करता है। और इसीलिये, वेणु नाद को काम का अग्रदूत कहते हैं: 'मन्मथस्याग्रदूतः" । अप्सराओं में ही क्यों, गोपांगनाओं में भी, वेणुनाद ने प्रथम ही प्रथम कामोद्‌बोधन ही किया था। इसी प्रकरण में, इससे पूर्व, इसका वर्णन किया जा चुका है; भगवान् ने वृंदावन में प्रवेश करते समय जो वेणुनाद किया, उससे गोपांगनाओं में काम-भाव का उदय हुआ था, स्मर-वेग से उनका चित्त विक्षिप्त हो गया था। वास्तव में देखा जाये तो, वेणुनाद का, भगवद् भावोद्‌बोधक अथवा कामभावोद्‌बोधक धर्म, इस नाद के श्रोता की योग्यता अथवा अधिकार पर निर्भर है। अतः जहां प्रभु, नाद द्वारा किसी के हृदय में प्रवेश करने के लिये, वेणुवादन करते हैं, वहां ही, उसी के हृदय में, भगवद्-भावोदय होता है, अतः जब, गोपांगनाओं के हृदय में नाद द्वारा प्रवेश करने के लिये प्रभु ने वेणु-वादन किया, तब उनमें भगवद्-भावोदय हुआ। इसी तरह सरिता, वृक्ष, लता आदि में स्वामिनी वर्ग के साथ विहार करने के लिये और इसीलिये इन सरितादि को स्वकीय लीला-संबंधित कार्यों में उपयोगी बनाने के लिये; प्रभु ने वेणुनाद कियां, वेणुनाद द्वारा इनको भगवदीय-भाव में संपन्न किया तभी तो ये सरितादि भगवद्‌लीलोपयोगी बने। स्वकीय स्वामिनी के नेत्र-सौंदर्य की स्मृति दिलाने वाली हरिणियों को स्वामिनी भाव से निरखते हुये, उनके हृदय में प्रवेश करने के लिये, जब प्रभु ने वेणु नाद किया, तब इन हरिणियों में भी भगवद्-भाव का उद्‌बोधन हुआ। संक्षेप में, जिस प्रयोजन को लेकर, भगवान् जब जब, वेणुनाद करते हैं, तब तब, उस प्रयोजन के अनुसार वेणुनाद के श्रोता में उसकी योग्यता अथवा अधिकार के अनुसार, भगवद्-भावोद्‌बोधन अथवा कामोद्‌बोधन होता है। यही कारण था कि अप्सराओं में, तथा द्वितीय युगल-गीत में निरूपित ब्रह्मा में भी, वेणुनाद के श्रवण से कामोदय सुलभ मोह ही हुआ। रसानुभव नहीं।

यदि ऐसा ही है, तो फिर, देवांगनाओं को वेणुनाद का जो श्रवण कराया गया उसमें प्रभु का क्या प्रयोजन था ? क्योंकि, प्रभु कदापि बिना प्रयोजन कोई कार्य नहीं

करते। इस शंका का यह समाधान है कि देवांगनाओं के प्रसंग में, भगवान् का प्रयोजन वेणु-नाद के 'वीर्य' धर्म का अवबोधन कराने का था, क्योंकि वेणुनाद में स्थित छहों गुणों की सिद्धि के लिये, वीर्य का बोध कराना आवश्यक है। जिसका समर्थन श्रीमद् आचार्य चरण ने अपनी 'वीर्यं देवेषु' इस कारिका द्वारा किया है और इसी कारण गायों को भी, वेणुनाद के श्रवण से, प्रथम तो, कामोदय से, देवांगनाओं की तरह मोह ही हुआ, और गायों के उसी मोह का निर्देश प्रस्तुत श्लोक में 'गावश्च' इस पद के 'च' कार द्वारा किया गया है। इस तरह, गायों को भगवान् ने प्रथम मोह ही कराया, किंतु गायें भगवदीय हैं, भगवान् के साथ ही प्रायः नित्य रहती हैं अतः सर्व प्रथम इन गायों में मोह उत्पन्न कर के तदनन्तर, कृपा विशेष से, गोपाङ्गनाओं की तरह ही नाद द्वारा इन गायों के हृदय मे प्रवेश करने के लिये, भगवानने, इस नाद में जिस सामग्री को प्रकट की, उस का अवबोध कराने के लिये, 'वर्हापीडं' इस श्लोक में निरूपित पूर्व से भी अपेक्षाकृत विशिष्ट, स्वरूपात्मक वेणुनाद का वर्णन, 'सदानन्दो वाच्यः' इस पद द्वारा श्रीमद् आचार्य चरण ने किया है।

यहां भाव यह है कि प्रस्तुत श्लोकोक्त 'कृष्णमुख-निर्गतवेणुगीतपीयूषम्' इस पंक्ति में, इसी प्रकार का दूरान्वय ही यहां अभिप्रेत है यही विदित होता है। अन्यथा, 'कृष्णगीतपीयूषम्' 'कृष्ण से गाये गये गीत का पीयूष' इस तरह कहना ही पर्याप्त था। किंतु यहां कृष्ण और गीत पीयूष के मध्य में मुख, निर्गत, वेणु-इस पदत्रय का विशेष उल्लेख किये जाने के कारण, तथा अग्रिम ग्रंथ के विचार पूर्वक अवलोकन से भी, यही ज्ञात होता है कि 'कृष्ण' पद से 'गीत' पर्यंत का दूरान्वय ही यहां अभिप्रेत है। तदुपरांत, वाच्यता के संबंध से, गीत में, साक्षात् कृष्ण ही आविर्भूत है। कृष्ण पद का वाच्य अर्थ सदानन्द है, तदनुसार गीत में कृष्ण के आविर्भाव से, यह गीत सदानन्द रूप ही है। यह 'सदानन्द' ही भगवत्-प्रियतमाओं का, उनकी स्वामिनी-वर्ग का 'गूढभाव' रूप है। यहां गायों को उनके हृदय में, प्रभु ने स्वानुभव कराने के लिये, अपने सदानंद रूप 'गूढभाव' का, वेणुगीत द्वारा, यह दान दिया है-यही जान लेना चाहिये।

तदुपरांत, इस दूरान्वय का एक अभिप्राय यह भी है कि जिस तरह संयोग शृंगार-सुलभ वाह्य रस की सांगोपांग अनुभूति में, काम-भाव हेतु माना गया है, उसी तरह, आन्तर रसानुभूति में, ताप-भाव हेतु है अर्थात् जिस तरह काम-भाव के अभाव में, बाह्य रस का अनुभव नहीं किया जा सकता, उसी तरह ताप-भाव के बिना आन्तर रस की निगूढ अनुभूति नहीं होती। आन्तर रसानुभव तभी संभव है, जब,

तापभाव अर्थात् विरह-भाव हो। गायों को आन्तर रसानुभव कराने के लिये, उनको ताप-भाव का दान करना आवश्यक है, किंतु उतने ही ताप का, जिसमें उनके शरीर की स्थिति रहे, अति असह्य ताप का नहीं। भगवन्मुख अग्नि-रूप है, इसीलिये यहां, गीत का, मुख से साक्षात् संबंध निरूपित नहीं करके परंपरा-पूर्वक ही किया गया है। मुख से साक्षात् संबंध वाले गीत के आविर्भाव से तो, बाह्य संबंध के अभाव में, अत्युत्कट ताप के कारण, इन गायों की शरीर स्थिति ही न रहे। इसीलिये, रास पंचाध्यायी में, गोपांगनाओं को प्रथम संयोग-सुख का अनुभव कराने के पश्चात् ही प्रभुने, उनको, युगल गीत में, उत्कट-तापात्मक केवल आन्तर अनुभव कराया। गायें, बाह्य-शृंगार के अनुपयुक्त है, इसीलिये, इनके अन्तःकरण में, मुख से परंपरा-पूर्वक संबंध वाले अतएव सुख-सह्य ताप-भाव से युक्त पीयूषात्मक गीत को ही प्रभु ने प्रकट किया।

वाणी का प्रेरक होने के कारण ही, विवृति में, मुख को 'वाक्-अधिपति' कहा है। यदि मुख, वाणी को प्रेरित नहीं करे तो, फिर, वाणी का संचार, वेणु में, किसी भी तरह संभवित नहीं। मुख से यदि वाणी का निर्गम ही नहीं होगा तो वह वेणु में कैसे प्रवेश करेगी? वेणु को ताप भाव से संपन्न करने वाली वाणी है। भगवन्मुख ही अग्नि है, 'अग्निर्मुखं ते' और अग्नि ही वाणी है, 'अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्'। यहां यह प्रश्न होता है कि "प्रस्तुत प्रसंग में तो केवल 'नाद' का ही उल्लेख किया गया है, 'वाणी' का कहीं भी निरूपण नहीं हुआ तो फिर, वाणी द्वारा वेणु में ताप का संबंध है-यह कथन असंगत है"—इस शंका का समाधान 'निर्गमनं वाक्' इस उक्ति द्वारा किया गया है। यहां, गीत का निर्गमन मुख से हुआ है, अतः यह गीत, मुख-निर्गत है अर्थात् 'मुख-निर्गत', 'गीत' का विशेषण है। इसीलिये, गीत की विशेषण—भूत यह निर्गमन—क्रिया ही वाक्-रूप है। भगवद्-वाणी, लौकिक अक्षरों की तरह, कहीं तालु अथवा ओष्ट पुट आदि के प्रयत्न से थोड़े ही निकलती है। इसीलिये, वेदों को, जो भगवद्-निश्वसन-रूप क्रिया विशेष हैं, वाक्-रूप कहा है। 'अस्यमहतो निश्वसितम्' ब्रह्म-सूत्र. और इसीलिये श्रुति ने प्रजापति को, वेदात्मक होने के कारण, वाक्-रूप माना है—'प्रजापतिर्हिवाक्'।

तदुपरांत आन्तर-अनुभव तभी संभव है, जब, बहिः संवेदनाओं का अभाव हो। आन्तरानुभव-सुलभ रस-निष्पत्ति में बहिः संवेदनाओं का अभाव भी अपेक्षित है—अर्थात् प्रभु के एकांत आन्तर अनुभव में, बहिः ज्ञान का अभाव नितांत आवश्यक है। बहिःज्ञान के इसी अभाव का निर्देश, 'वेणु' पद के प्रयोग द्वारा किया गया है, क्योंकि, 'वेणु', भगवद्-अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों का विस्मारक माना गया है—'इतर

राग विस्मारकम्'। पशु जाति होने के कारण, गायों की देह यथोचित रसानुभव करने के अयोग्य है। योग्य-शरीर प्राप्ति के अभाव में, पूर्वोक्त सर्व सामग्री निरर्थक है, इस प्रकार की शंका के परिहारार्थ ही उपर्युक्त 'कृष्णमुख निर्गत वेणु-गीत पीयूषम्' पंक्ति में 'गीत' 'पद का प्रयोग किया गया है। 'गीत' भगवद्-वाचक होने के कारण षड्गुणात्मक है। भगवान् में षड्गुण हैं, अत: भगवद्-वाचक गीत में भी ये छहों गुण है। इस प्रकार के इन असाधारण षड्गुणों से समन्वित को ही भगवान् कहते हैं– 'भगवानिति शब्दचते'–तत्व. दी.। समस्त वेद, भगवान् के ऐश्वर्यादि गुणों का तथा भगवत्-स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं–'सर्व वेदों का मैं ही वेद्य विषय हूँ'– सर्वैश्च वेदै रहमेव वेद्यम्–वेद भी, सर्वगुण द्वारा ही, सर्वात्मक भाव से, भगवद् वाचक हैं। इसीलिये वेदों को 'वन्दीजन', भगवद् पराक्रमों के, गुणों के, संकीर्तक कहा है–'वन्दिन स्तत्पराक्रमै:'। तदनुसार, प्रस्तुत गीत की असाधरणता, उसकी असाधारण षड्गुणरूपता, उसके भगवद्-वाचकत्व में ही है। भगवद्वाचक होने के कारण ही गीत में असाधारण-षड्गुण – रूपता है। इस प्रकार का असाधारण षड्गुणोपेत यह गीत ही, गायों के अन्तःकरण में, रसानुभव कराने की योग्यता का संपादन करता है। इन गायों को, पशुत्व की विस्मृति पूर्वक, उनकी आत्मा में (स्वात्मिनि) स्वामिनी भाव की स्फूर्ति करानेवाला, गीत ही है और इसीलिये, भगवान् के भावात्मक स्वरूप–सौंदर्य रूप अधरामृत के आन्तर–रसानुभाव की निर्विघ्नतया जो सिद्धि प्राप्त हुयी वह संभवित–सुसंगत–है। वेणु-गीत का यह कार्य ही उसका यशोरूप है। इस प्रकार का अयोग्य में भी योग्यता-संपादन रूप असाधारण कार्य का यदि संपादन न किया जा सके, अर्थात् इस प्रकार की असाधारणता की अपरिपूर्णता में, वेणुगीत के यशोरूप धर्म की चारितार्थता ही कैसी ? अयोग्य, सर्वथा नि:साधन, पशुजाति की निरीह गायों को रसानुभव की योग्यता से संपन्न करने में ही, भगवान् के यशोगुण की कृतकृत्यता है।। १३।।

**त्रयोदश-श्लोक पर 'स्वतंत्र लेख'-संपूर्ण**

–:0:–

## चतुर्दश-श्लोक विवरणः-

**प्रायोबताम्ब! विहगामुनयोवनेऽस्मिन् कृष्णेक्षणास्तदुदितंकलवेणुगीतम्। आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्-शृण्वन्ति मीलिदृशोविगतान्यवाचः ।।१४।।**

**अनुवाद**:-हे माता ! इस वृंदावन के पक्षी, बहुधा मुनि-गण ही हैं, क्योंकि; सुंदर कूपलों से हरी भरी वृक्ष की शाखाओं पर, भगवद्-दर्शनार्थ आरूढ होकर भगवान्-द्वारा गाये गये वेणु के सुन्दर गीत को नेत्र-वंद करके, मौन पूर्वक श्रवण कर रहे हैं।

**द्विज-रूप धरे बहुतेरे अहो ! सखि ! या वन में मुनि वास करें।**
**व्रज की वनितान के प्राण-समान मुकुंदहु की अभिलास धरे ।।**
**रुचिकारि सुकोमल-पल्लव शोभित पादप-ड़ार-भुजान चढें।**
**दृग बंद किये, मुख मौन लिये, सुने वेणु निनाद-विलास भरे ।। १४ ।।**

**व्याख्या**:-पूर्वोक्त श्लोकों में, हरिणियों को अपने कृष्णसार पतियों की संगति से, तथा गायों को भगवद्-कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ, तदनुसार, उन्होंने रसानुभव किया। प्रस्तुत श्लोक में, भगवदीय जनों की संगति के अभाव में, पक्षियों को, ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है, अतः तात्पर्यार्थ पूर्वक तथा नाद-निष्ठ रस के अनुभव पूर्वक, वेणुनाद का श्रवण करना इन के लिये असंभव है। तात्पर्यार्थि-पूर्वक श्रवण में ही श्रवण सिद्धि है। अतः ज्ञान के अभाव से पक्षियों में श्रवण असंभव है। तथापि रसानुभव पूर्वक श्रवण कर रहे हैं, इसीलिये इन में मुनित्व की अर्थात् मुनिभाव की संभावना का निरूपण 'प्रायः' इस पद द्वारा किया गया है, क्योंकि मुनिभावापन्न प्राणियों में, श्रवण सिद्धि सहज सुलभ मानी जाती है।

(प्रस्तुत श्लोक में, भगवान् के 'श्रीधर्म' का निरूपण किया गया है। भगवान् के क्रीडा भांड़ रूप इस विश्व में श्री-संपन्न प्राणियों की ही प्रशंसा की जाती है। लक्ष्मी का आवेश होने पर ही भक्त जन में, रसानुभव की योग्यता आती है। विश्व के समग्र सुख-भोग की परमावधि लक्ष्मी है तदनुसार, यदि प्रभु के सेवक परम-भोग रूप संपदा से संपन्न हों, तो फिर, उनके स्वामी-प्रभु की संपदा, उनका सौभाग्य, वाणी का विषय नही बनाया जा सकता। लोक में यह प्रसिद्ध है कि जो पुरुष 'श्री' का उपभोग करता है, उसके यहां वीणा वादन किया जाता है। 'यदा खलु वै पुरुषः

श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यते'। जिस समय पुरुषोत्तम-प्रभु लक्ष्मी सह रमण करते हैं, तब, रसाभिवृद्धि के लिये वीणा वादन होता है। वीणा, मधुरनाद का उपलक्षक है। प्रस्तुत प्रसंग में, भगवदीय सेवक रूप पक्षिगण वेणु के मधुर-नाद रूप मानों वीणा का ही श्रवण कर रहे हैं, उनके सम्मुख, साक्षात् प्रभु, वेणुरूप मधुर वीणा वादन कर रहे हैं। इहलोक तथा परलोक से संबंधित समस्त विषयों में अनासक्त ये सेवक रूप पक्षीगण अपने अपने निलयों में अनन्यतया नादामृत का पान कर रहे हैं। भगवान् के सेवकों की जब यह 'श्री'-सुलभ आनन्दमयता है तो फिर, उनके स्वामी के श्री-सौख्य की सीमा ही कहां ?)।

**प्रायोबताम्ब ! विहगामुनय :**—गोपांगनाओं की यह मान्यता है कि सत्संग के बिना भगवत्-स्वरूप का ज्ञान असंभव है, ज्ञान प्राप्ति दुर्लभ है। और जब तक भगवत्-स्वरूप का ज्ञान न हो, तब तक अनन्यतया वेणुनाद के श्रवण करने की आसक्ति का उदय भी असंभव है। किंतु ये पक्षि गण सत्संग के अभाव में तथा ज्ञान के अभाव में भी, आसक्तिपूर्वक एकाग्र-चित्त से भगवत्-कृत वेणुनाद का श्रवण कर रहे हैं!! अतः ये पक्षीगण हो न हो मुनिजन ही हैं। इस तरह, पक्षियों में, मुनित्व की संभावना के निरूपण पूर्वक गोपांगनायें कहती हैं—'हे माता यशोदा ! हम सचमुच यह मानती हैं कि इस वृंदावन में जितने भी पक्षिगण हैं, वे संभवतः (प्रायः) मुनिजन ही हैं'। यहां जिन पक्षियों का निरूपण किया जा रहा है, वे गुणातीत मुनिगण ही हैं अतः इनका वर्णन करनेवाली गोपिकायें भी निर्गुणा ही हैं—निर्गुणा हैं, इसीलिये, यशोदा के साथ इनका स्नेह है। अथवा, ये गोपीजन, यशोदा की गृह-कन्यायें हैं। श्री नन्दराय के घर में, उत्तम जाति के गोधन तथा रत्न आदि की तरह कन्या-रत्नों का भी संग्रह है। महर्घमणियों के समान ये कन्यायें परम लावण्यमयी, तेजस्वी, सद्गुण तथा स्त्रियोचित शील की निधि रूप हैं। इन कन्याओं को श्रीनन्दरायने द्रव्यादि से क्रय करके इनका अपने नंदालय में ही राजदानार्थ पालन-पोषण तथा वर्धन किया है। ये कन्यायें सभी कुमारिका हैं। यशोदा और नंद ही इन के माता पिता हैं, और, यही कारण है कि इन्होंने यशोदा को 'अंब' इस शब्द से संबोधित किया है। ये कुमारिकायें सिद्धियों से संपन्न है, अतः योगियों के समान अपनी दिव्य-दृष्टि से, इन पक्षियों के यथार्थ स्वरूप को ये जानती हैं। तथापि यशोदा को अपने यथार्थ स्वरूप से अपरिचित ही रखने के लिये, जानबूझ कर ही यह कहा कि बहुत करके 'प्रायः' ये पक्षीगण, मुनिजन हैं—हमें ऐसा प्रतीत होता है। यदि वे स्पष्टतया यह कह देतीं कि ये पक्षीगण वस्तुतः मुनिजन ही हैं, तो यशोदा के मन में, यह संदेह हो ही जाता कि ये कौन हैं? हो न हो ये कुमारिकायें सिद्ध

जाति की ही हैं, नहीं तो पक्षियों के विषय में इनको यह स्पष्ट ज्ञान क्योंकर होता ? इसी अभिप्राय से इन गोपिकाओं ने 'प्राय:' इस संभावना सूचक पद का प्रयोग किया 'ये पक्षी प्राय: मुनियों जैसे प्रतीत होते हैं"। 'बत' शब्द का प्रयोग यहां, 'खेद' के अर्थ में किया गया है-हमें यह जान कर 'खेद' दु:ख होता है कि इन मुनियों को पक्षि रूप यह हीन योनि क्यों प्राप्त हुई ? अथवा 'बत' शब्द का यहां 'हर्ष' अर्थ भी है। 'हे सखि ! यह कितने हर्ष की बात है कि इन मुनियों ने, पहिले से ही, विचार पूर्वक कितना साधु-उपाय किया है कि यदि हम पक्षियों का रूप धारण करलें तो, सर्वत्र उड्डयन करते हुये, भगवान् की प्रकट तथा अप्रकट समग्र लीलाओं का यथेच्छ दर्शन कर सकेंगे। अपने इस भव्य-उपाय के लिये, इनको, हम साधु-वाद देती हैं। अपनी इस मननशीलता के कारण ही तो ये 'मुनि' कहलाते हैं।

अथवा, 'अंब' यह पद यहां 'दया' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'अंबेति संबोधनं दयार्थम्',–'हे अंब ! तुम कितनी दया-करुणामयि हो कि तुम हमें सदा भगवान् के निकट ही, उनकी परचर्यार्थ रखती हो' ! अमुक टीकाकारों का मत यह है कि इन वर्णन करनेवाली कुमारिकाओं के हृदय में, भगवान् आविर्भूत हैं–'भगवद्-आविर्भावात् इति केचित्'। भगवान् सर्व प्राणियों के आत्मारूप हैं, अत: सर्वात्मक भगवान् की माता होने के कारण, यशोदा सभी की माता है, इसीलिये इन कुमारिकाओं ने यशोदा को 'माता' कहा। किंतु, यह मत संदिग्ध है, क्योंकि, वर्णन कर्त्री इन्हीं 'कुमारिकाओं' ने भगवान् को स्वपति रूप से प्राप्त करने के लिये कात्यायनी व्रत का अनुष्ठान किया था। इस दृष्टिकोण से, यशोदा के लिये, 'अंब' शब्द का प्रयोग सुसंगत नहीं कहा जा सकता। अत: 'अंब' के अर्थ में यह युक्ति स्वीकार्य नही है।

स्वमत के अनुसार, वर्णनकर्त्री इन कुमारिकाओं का पालन पोषण स्वयं यशोदा तथा नंद के घर में ही हुआ है, अत: ये कन्यायें, गृह कन्यायें हैं और गृह-कन्यायें होने के कारण ही, इन्होंने यशोदा को 'अंब' शब्द से संबोधित किया है। अन्य पक्ष में भी 'दया' के अर्थ में 'अंब' संबोधन सर्वथा सुसंगत है। और, इसी अर्थ का प्रतिपादन इससे पूर्व किया जा चुका है। अत: 'अंब' शब्द के अर्थ में दी गयीं उपर्युक्त दोनों प्रकार की युक्तियां ही उचित है, तदतिरिक्त अन्य नहीं।

यहां वर्णन करनेवाली अग्नि कुमारिकायें, ऋषिरूपा हैं। ऋषिरूपा होने के कारण, ये कन्यायें ही यह साधिकार प्रतिपादित कर सकती हैं कि इस नाद के श्रोता वस्तुत: मुनिजन ही हैं, अन्य नहीं। पक्षियों के लिये इस नाद का श्रवण असंभव है। अत: ऋषिरूपाओं के कथन से यही सिद्ध होता है कि ये पक्षिगण, बहुत कर

के–अधिकतया–मुनिगण ही हैं, 'अतस्तासां वाक्यात् विहगा मुनय एव बाहुल्येन'। और क्योंकि ये पक्षी मुनिरूप हैं, मननशील है, इसीलिये, वे यह जानते हैं, कि यहां सुधा रूप नाद में भगवद् आविर्भाव होगा –'ते हि मुनयो मननशीला जानन्त्यत्र भगवानाविर्भविष्यतीति'। मुनि होने के कारण, भगवदाविर्भाव को सुनिश्चित जानकर ही वेणुनाद के श्रवणार्थ, इस वन में, विहगरूप से ये उपस्थित हुये। शब्द-गुणवाले आकाश में विहार करने के कारण ही तो ये विहग कहलाते हैं, और, इसीलिये, शब्द के स्वरूप से ये अच्छी तरह परिचित हैं। मुनियों का विहग-रूप धारण करने में यह भी एक अभिप्राय रहा। ये विहग अन्य और कोई नहीं, मुनिजन ही हैं और इसी कारण से वेणु के अव्यक्त मधुर नाद का तात्पर्य-पूर्वक रसानुभव कर रहे हैं। इनमें यदि मुनित्व का अभाव होता तो वेणु नाद का श्रवण असंभव था। मुनि हैं इसीलिये श्रवण करते हैं, मननशील हैं अतः जानते हैं कि यह नाद, भगवान् की स्वरूप-सौंदर्यात्मक-सुधा से संपूर्ण है।

ये मननशील मुनिगण, यह सब कुछ जान करही इस वन में आये; यहां इन्होंने अपना प्रत्येक क्षण, कृष्ण को ही समर्पण किया है, उनका प्रत्येक क्षण, कृष्णार्थ ही है –'कृष्णे क्षणाः'– प्रत्येक क्षण, कृष्ण की ही भावना में, प्रत्येक क्षण, कृष्ण के दर्शन में ही-कृष्ण-इक्षणाः-कृष्णेक्षणाः-व्यतीत हो रहा है–'येषां क्षणं कृष्णार्थमेव, भगवद् भावनयैव यातिः'–लेख.।

ये विहग रूप मुनिगण, वृक्ष की शाखाओं पर चढकर, भगवान् का ही दर्शन करते हुये उनसे वादित वेणु के अव्यवत-मधुर नाद का श्रवण कर रहे हैं–"भगवन्तं पश्यन्त एव, तदुदितं कलवेणुगीतं द्रुमभुजानारूह्य शृण्वन्ति"। जब तक भगवान् का वेणु नाद उनके श्रवण-गोचर नही हुआ, तबतक उनके–सौंदर्य को ही निहारते हुये स्थिर रहे। और, जब प्रभु ने वेणु-वादन पूर्वक गान का प्रारंभ किया, वेणु-नाद का प्रारंभ किया–वेणुनादं प्रारब्धवान्–तब तो, दर्शन तथा श्रवण दोनों ही युगपद् करते रहे। भगवद्-दर्शन भी करते रहे, वेणुनाद भी सुनते रहे। वृक्ष की शाखाओं पर चढकर, प्रतिक्षण प्रभु का दर्शन करते हुये, उनका प्रतिक्षण चिंतन करते रहे, तदनन्तर, इसी स्थिति-पूर्वक-दर्शन तथा चिंतन करते हुये, वेणु नाद का श्रवण करते रहे ? और फिर, जब भगवान् वेणु वादन करते हुये वहां से अन्यत्र दूर चले गये तब, इस तरह भगवद्-दर्शन से वंचित ये पक्षिगण द्रुम शाखाओं पर ही पूर्ववत् स्थिर रहते हुये, नेत्र-मूंदकर, वेणु-नाद का श्रवण करते रहे। जब तक कृष्ण दृष्टि-गोचर रहे, तब तक कृष्ण का दर्शन-कृष्णेक्षण-करते हुये वेणु नाद सुनते रहे। भगवान् के अन्यत्र चले जाने पर, नेत्र-बंद कर के, प्रतिक्षण कृष्ण की भावना करते हुये, कृष्ण में प्रतिक्षण

भावनामय होकर –'कृष्णेक्षणा:' पूर्वक-नाद को सुनते रहे–'द्रुमभुजानारूह्य पूर्वं कृष्णेक्षणास्ततस्तादृशा एव शृण्वन्ति'–"ततो मीलितदृश: शृण्वन्ति। कृष्णेक्षणत्वे मीलित-दृक्त्वं न संभवति इति-एवं विभागेन व्याख्यानम्"–लेख.।

भगवान् के इस तरह, वेणुनाद करते हुये अन्यत्र चले जाने से, यद्यपि ये पक्षिगण, भगवद्-दर्शन से वंचित रहे, तथापि, वेणु नाद स्थित सुधा-रस का अनुभव पूर्ववत् अनन्यतया करते रहे। भगवद्-दर्शनार्थ उनके संग ही उड़कर जाने में तो उनको यह आशंका थी कि नाद-श्रवण में इस तरह विक्षेप होने पर, नाद-निष्ठ सुधा-रस का पान ही स्थगित हो जयेगा। आनन्दानुभूति की अनन्यता में, अन्य शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक व्यापार निवृत्त हो जाते हैं। उड्डयन-क्रिया के साथ, नाद रसानुभूति एकाग्रतया असंभव है। इसीलिये ये पक्षी अन्यत्र उड़कर नहीं गये, द्रुम-शाखाओं पर ही बैठे रहे तथा भगवद्-दर्शन के अभाव में, नेत्रों को बंद करके, वाणी के व्यापार को स्थगित करके, एकाग्रतया नाद-निष्ठ सुधा-रस का पान करते रहे।

**तदुदितं कल-वेणु गीतम् :**–"कदाचित् यहां इस तरह वृक्षों पर ही बैठे रहने से, प्रभु दर्शन के अभाव में वेणु-नाद-निष्ठ-रस, किसी विजातीय अथवा लौकिक रस को उत्पन्न कर देगा अथवा इस तरह अन्य-रस-(रसांतर)-की उत्पत्ति से इन पक्षियों की रसानुभूति में प्रतिबंध उपस्थित हो जायेगा–अत: इन पक्षियों को यहां से उड़कर वहां ही गमन करना चाहिये, जहां भगवान् वेणु नाद करते हुये चले गये हैं"–यहां ऐसी शंका–नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, यह वेणु स्वयं अव्यक्त-मधुर (कल) है, अत: वेणु से जिस रस की निष्पत्ति होती है, वह अव्यक्त मधुर ही है। तदनुसार, यह अन्य विजातीय-रस को कदापि उत्पन्न नहीं करेगा। अथवा, यह गीत ही स्वयं अव्यक्त-मधुर है, क्योंकि यह भगवद्-उदित-उक्त है, क्योंकि साक्षात् प्रभु ने इसका गान किया है। भगवान् से उच्चारित-उदित–(कथित) होने के कारण यह गीत, साक्षात् नाद-ब्रह्मात्मक है अतएव परम-अर्थ का प्रतिपादक है। इस तरह, भगवद्-उक्त तथा परमार्थ का प्रतिपादक होने के कारण, यह नाद-ब्रह्मात्मक-गीत लौकिकार्थ का निवर्तक है, अर्थात् यह कल वेणु-गीत, मधुर होने के कारण विजातीय रस का प्रतिबंधक तथा भगवद्-उक्त-(तदुदितं)-होने के कारण, लौकिक-अर्थ का निवारक है। यहां 'तदुदितं' तथा 'कलवेणु-गीतं' इन दोनों पदों में, परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव है। तदनुसार, कलवेणु-गीतं को विशेष्य तथा तदुदितं को इसका विशेषण मानें, तो इस तरह अन्वय होगा–'ये पक्षीरूप मुनिगण, द्रुमशाखाओं पर आरूढ होकर 'कलवेणुगीत' का श्रवण कर रहे हैं"। यह 'वेणु-गीत' कैसा है? 'तदुदितं-

अर्थात् भगवद्-उक्त है–यहां 'वेणुगीतं' विशेष्य है तथा 'तदुदितं' इस का विशेषण'। 'गीतस्य विशेष्यत्वपक्षे उदितमुदयं प्राप्तमित्यर्थः–लेख.– इस पक्ष में उदित का अर्थ 'उदय अथवा प्राप्त' है। इसी तरह, यदि तदुदितं को विशेष्य तथा कलवेणु-गीतं को इसका विशेषण माने, तो अन्वय इस प्रकार से किया जायेगा ये पक्षीरूप मुनिगण वृक्ष की शाखाओं पर आरूढ होकर भगवद् उदित को–कथित को–सुन रहे हैं– यह भगवद्-उदित कैसा है कल वेणु गीत है', 'अर्थात् यह भगवद्-उदित' अव्यक्त मधुर वेणु गीत से संपन्न है'। इस पक्ष में उदित का अर्थ है 'कथित' (द्वितीय उदितं कथित मित्यर्थः)–यहां तदुदितं विशेष्य तथा कलवेणुगीतं इसका विशेषण है। इस प्रकार का यह 'विपरीत-विशेष्य-विशेषण-भाव' कहलाता है"–योजना.।

**वेदशाखा इव द्रुम-भुजनारूह्य :**–अर्थात् वेद का अध्ययन करने वाले छात्रगण, वेद की विभिन्न शाखाओं का आश्रय लेकर, परम-तत्व के प्रतिपादक भगवद्-उक्त वेदों का श्रवण करते हुये, भगवद्-तत्व को हृदय में धारण करते हैं, उसी तरह ये पक्षीरूप मुनिगण, वृक्ष की विभिन्न शाखाओं पर आरूढ होकर, आश्रय लेकर, और इस तरह पतन-मरणादि की संभावना से निर्भय होकर, भगवत्-कथित अव्यक्त मधुर वेणुगीत का श्रवण कर रहे हैं। भगवान् के, यहां से, दूर चले जाने पर, भगवद्-दर्शन के अभाव में, मन को, भगवद्-अतिरिक्त अन्य विषयों के चिंतन से मुक्त रखने के लिये, स्वभाव से ही मननशील होने के कारण इन पक्षी रूप मुनियों के नेत्रों की पलकें स्वतः वंद हो गयीं। मन में अन्य-लौकिक विषय का संचार-प्रवेश न हो इसीलिये इन्होंने अपने नेत्र सहज ही निमीलित कर लिये–'मनसो विषयान्तर संचाराभावाय भगवति दूरे गते दर्शनाभावात्–मननाभ्यासाच्च मीलित-दृशो जाताः– सुबो.। मनमें विषयान्तर का संचार न हो, इसीलिये, नेत्र मूंद लिये, तथा विषयान्तर की चर्चा से वाणी के व्यापार को स्थगित कर दिया अतः मौन साध लिया 'विगतान्य-वाचः' हो गये–'विशेष रूप से गत हो गयी है, अन्य विषय संबंधिनी वाणी जिन में से' ऐसे हो गये। अर्थात् भगवद्-विषय के अतिरिक्त 'अन्य' किसी भी विषय की चर्चा से अपनी वाणी को स्थगित कर दी। भगवद्-विषयक चर्चा में वाणी का त्याग नहीं किया। भगवद्-उपयोगी वाणी के अत्याग का निर्देश करने के लिये ही 'विगतान्यवाचः' पद में 'अन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवद् उपयोगी वाणी का अत्याग एवं तदतिरिक्त विषयों में मौन वृत्ति, मुनियों के जीवन का, यह, सहज नियम है। यहां पक्षीरूप मुनियों ने भगवद् उपयोगिनी वाणी का त्याग नहीं किया, अन्य विषय संबंधिनी वाणी का ही उन्होंने त्याग किया हैं। 'विगतान्य-वाचः' का यह अर्थ नहीं है कि वाणी-मात्र से विराम ले लिया अथवा सर्वथा वाणी से विगत

हो गये। यदि 'विगतान्यवाच:' में 'अन्य' पद का यह अर्थ न किया जाये तो गोपांगनाओं की 'विगतान्यवाच:'–यह उक्ति ही निरर्थक हो जाती है। क्योंकि श्रवण काल में तो वाणी का अभाव स्वत:सिद्ध है। श्रवण करते समय श्रवण की प्रति-बंधक होने के कारण, वाणी का अभाव ही रहेगा। (सुनते हुये यदि कोई बोलता भी जाये तो सुनने में प्रतिबंध ही उपस्थित होगा), अत: उसी का कथन, अर्थात् वाणी के अभाव का कथन, अनावश्यक है। इसीलिये, 'विगतान्यवाच:' पद द्वारा, इन पक्षीरूप मुनियों में उस वाणी के अभाव का कथन किया गया है जो भगवद्-उपयोगिनी नही है।

इस समग्र कथन द्वारा यह ज्ञापित होता है–कि इन पक्षियों के हृदय में, यह रसानुभव सर्वदा-सार्वकालिक है, सदा रसानुभूति है। इसके द्वारा इस नाद के अलौकिकत्व का तथा दुर्लभत्व का सूचन किया गया है। इस प्रकार के नाद-रस का अनुभव करने वाले मुनिजनों में लौकिक पदार्थों के प्रति आसक्ति का उद्गम असंभव है।

**रुचिरः प्रवालान् :–**इन पक्षियों को, व्याध के शरादि का भी भय नहीं है। इनकी इस निर्भयता का निर्देश 'रुचिर:प्रवालान्' पद द्वारा किया गया है।"वृक्ष के नूतन एवं सुकोमल पल्लवों से उनके अंग आच्छादित-ढ़के हुये हैं, अत: व्याध आदि उनको देख हीं कैसे सकते हैं? इसी कारण शर आदि से विद्ध होने का उनको तनिक भी भय नही है"–बहुते से टीकाकार इसका यही अर्थ करते हैं।

वस्तुत:, 'रुचिर: प्रवालान्' पद द्वारा, इन पक्षी रूप मुनियों की, विषयों के प्रति अनासक्ति तथा प्रभु-प्रति ही एकांत आसक्ति का प्रतिपादन किया गया है। तदुपरांत, ये रुचिर पल्लवादि, इन पक्षियों के मुख-मुद्रण तथा नेत्र-निमीलन में भी, हेतु माने गये हैं। आम्रादिस्थित ये हरे हरे, नूतन, सुकोमल किसलय, पक्षियों को अत्यंत प्रिय हैं, सुस्वादु एवं रुचि के उत्पादक होने के कारण, पक्षीगण इनका भक्षण किये विना अपने आपको रोक ही नही सकते। इसीलिये, उन्होंने अपने नेत्र मूंद लिये। किसी वस्तु को देखने से ही तो उसके प्रति आकर्षण, आसक्ति, होती है। अपनी रुचि तथा स्वाद के अनुकूल इन रसमय आम्र के प्रवाल-गुच्छों को देखते ही, कदाच् भक्षण लालसा में, नाद रस-पान-सुलभ, दुर्लभ आनंद की एकांत अनुभूति में, विक्षेप होगा, इस आशंका से इन पक्षियों ने अपने नेत्र निमीलित कर लिये, न देखेंगे न लालसा जगेगी। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने मुख भी मुद्रित कर लिये। क्वचित्, मुख खुला रहे तथा भक्षण की सहज लालसा जाग्रत हो जाये, तो, निमीलित-नेत्र होते हुये भी, भक्षण-व्यापार से विवृत मुख कैसे रुक सकता है? इसी आशंका से उन्होंने अपने मुख भी वंद कर दिये। मुख-मुद्रण में, एक हेतु यह भी था कि

मुख के खुले रहने से, कदाचित्, परस्पर संभाषण रूप कोलाहल ही प्रारंभ हो जाये, अथवा, इन पक्षिरूप मुनि जनों में, परस्पर पदार्थ-निरूपण रूप शास्त्रार्थ का प्रसंग ही छिड़ जाये ? रसानुभव में इन समस्त संभावित अंतरायों की आशंका से इन्होंने अपने अपने नेत्र-बंद कर लिये साथ ही मुख भी।

श्रीमत्प्रभु-चरण कहते हैं, कि यद्यपि उपर्युक्त सभी हेतुओं से यही सिद्ध होता है कि ये पक्षीगण, मुनि-सुलभ भाव संपदा से संपन्न है, तथापि मेरे मन में तो यह प्रतीत होता है कि ये पक्षिरूप मुनिवर, नाद-रस परायण ही हैं। इसी नाद-रस के एकान्त अनुभव में चाहे कितने ही अन्तराय उपस्थित हों, यहां तक कि स्वरूप-रस के अन्तराय को भी सहन करने की इनमें क्षमता है। इस नाद रस के पान में इनकी इतनी अनन्य आसक्ति है कि न तो स्वरूप-रस के अनुभव की अभिलाषा है, न व्याध आदि के शर से विद्ध होने का भय है, न रुचिर प्रवालादि के आस्वादन में रुचि है और न पदार्थ-निरूपण रूप शास्त्रार्थ में अपना मुनि-सुलभ सहज उत्साह है। इस प्रकार का यहां यह अन्य तात्पर्य विशेष भी जान लेना चाहिये। 'आरूह्य द्रुमभुजान् रुचिर प्रवालान्' में 'भुज' पद का तात्पर्य इस से पूर्व स्पष्ट किया जा चुका है। इस पंक्ति में, 'रुचिर प्रवालान्' पद का यह तात्पर्य है कि इन पक्षियों ने सुंदर, नूतन पल्लवित शाखाओं पर इस आशय से आरोहण किया है कि कदाचित्, वृंदावन के भक्तजन अथवा स्वयं भगवान् अपनी शय्या वेष आदि की रचना के लिये, रुचिर प्रवाल आदि के आहरणार्थ इन वृक्षों पर आरोहण करें तो हम, इनके तत्सामयिक सान्निध्य-रस का भी अनुभव कर सकेंगे। इसी अभिप्राय से यहां 'रुचिर-प्रवालान्' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं, इन पक्षियों नें अपने नेत्र भी, मूंद लिये, उनको यह आशंका थी कि यदि हम नेत्रों को बंद नहीं करेंगे तो इन भक्त जनों की पल्लवादि आनयनार्थ वृक्षारोहण में निःशंक प्रवृत्ति नहीं होगी। इसी आशय से इन पक्षियों ने अपने नेत्र निमीलित कर लिये। वाणी के निरोध का कारण, स्पष्ट है ।। १४ ।।

**— चतुर्दश-श्लोक-संपूर्ण —**

## पंचदश-श्लोक-विवरण :-

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुंदगीतमावर्त-लक्षित-मनोभव-भग्नवेगाः।
आलिंगन-स्थगितमूर्मि-भुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पाद-युगलं कमलोपहाराः ।।१५।।

सोउ-मुकुंद की गीत-सुधा-लहि, मुग्ध भईं थिरकीं सरितायें।
स्तंभित-वेगभईं रति-वेगतें, बाहर भम्मर ह्वै उभरायें।।
लेकरि पंकज को उपहार सकंप-पसार तरंग-भुजायें।
श्री मुरसूदन-पाद सरोज, रहे थिरजे, उरसों परसायें।। १५ ।।

**अनुवाद** :-हे सखि ! जब नदियों ने भगवान् मुकुंद के गीत को सुना, तब, मनोभव-वेगसे, जिसकी प्रतीति उनमें उठते हुये आवर्तनों से होती थी, वे भग्न-वेग हो गयीं तथा भगवान् के अलिंगनार्थ-स्थिर किये गये चरण युगल को, कमलोपहार पूर्वक अपनी तरंग-भुजाओं से ग्रहण-स्पर्श-करने लगीं।

**व्याख्या** :- (इस श्लोक में प्रभु के 'ज्ञान' धर्म की अभिव्यक्ति की गयी है। स्वभाव के विजय में ही ज्ञान का उत्कर्ष है। सरिताओं का स्वभाव 'निरंतर-गति' है। अपने इसी गति-रूप स्वभाव के कारण इनको सरिता-सृ-गतौ-कहते हैं। वेणु-नाद से इन सरिताओं की गति-रुद्ध हो गयी, सतत-गति-रूप अपने स्वभाव पर, वेणु-नाद के श्रवण से, इन सरिताओं ने, गति-रोध द्वारा विजय प्राप्त कर ली। यही स्वभाव विजय है, जो ज्ञान से ही संपाद्य है। वेणु-नाद सुलभ ज्ञान का ही यह अप्रतिम-प्रभाव है। जहां, सरिताओं में ज्ञान का यह प्रकर्ष है, तो फिर, प्रभु के ज्ञान की अनन्त महिमा का वर्णन ही क्या ? जो ऐसे ज्ञान का आदि हेतु है।)

**विवरण** :-भगवान् के वेणु-नाद से नदियों आदि में जो प्रक्रिया हुयी, उसीका निरूपण, गोपांगनायें, प्रस्तुत श्लोक से प्रारंभ करती हैं- 'भगवद्-वेणु नादेन नद्यादिषु जातमाहेति'। यहां, 'नद्यादिषु' में आदि पद से, सरोवर, निर्झर, ह्रदिनी आदि इन सभी का ग्रहण किया गया है। यद्यपि मूल में 'नदी' पद का ही प्रयोग किया गया है, तथापि, व्रज में, श्रीयमुना के अतिरिक्त अन्य और कोई नदी-प्रकट नहीं है। यहां तो केवल श्रीयमुना ही विराजमान है। इसीलिये, 'नद्यः' इस बहुवचन से सरोवरादि का ग्रहण करना चाहिये इसी का निर्देश करने के लिये 'नद्यादिषु' पद का यहां प्रयोग किया गया है-योज़ना।

यहां, इन नदियों ने यह निश्चय किया कि भगवान् से अनुग्रहीत अर्थात् भगवत् कृपा को प्राप्त जब इन पक्षी-रूप मुनियों ने, वेणुनाद द्वारा, भगवत् स्वरूपात्मक-

रस के संपूर्ण तत्व-ज्ञान की सिद्धि प्राप्त करली तो फिर, हम, नदी स्वरूपायें भी क्यों न कृतार्थ होंगी ? भगवत्-स्वरूप-सौंदर्य सुधा के तत्व ज्ञान से, प्रभु हमें कदापि वंचित नहीं करेंगे। मुनियों की तरह, नाद-द्वारा, रस के तत्व-ज्ञान से हम भी कृतकृत्य होंगीं। इस तरहसे, नाद द्वारा, मुनियों को प्राप्त कराये गये ज्ञानोपदेश के संबंध में निर्णय करके अर्थात् हमभी मुनियों की तरह, वेणुनाद का श्रवण करके, भगवत् स्वरुपात्मक रस के तत्व ज्ञान से अवश्य संपन्न हो जायेंगी– इस प्रकार से–मन में निश्चय कर के 'तदुपधार्य'–इन नदियों नें भी, मोक्ष के प्रदाता मुकुंद के उस सर्व-प्रसिद्ध-गीत को सुना-'उपधार्य'। गीत का श्रवण करते ही, उनमें 'काम-भाव' का उदय हुआ। यहां, 'तदुपधार्य' में 'उपधार्य'–पद 'निश्चय कर के' तथा 'सुन-करके' इन उभय अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। तदनुसार, यहां उपधार्य पद की 'सुनने' के अर्थ में, 'मुकुंद गीत' के क्रिया-पद के रूप से भी, 'मुकुंद गीतमुपधार्य'–इस तरह दूसरी बार आवृत्ति कर लेनी चाहिये।

**आवर्तलक्षितमनोभव-भग्नवेगा :**–मोक्षदाता मुकुंद के गीत का श्रवण करते ही सरितायें मनोभव वेग से अभिभूत हो उठीं। उनका यह मनोभव-वेग, उनके बाहर उभराते हुये आवर्त से, भ्रमण-सुलभ उनकी मूर्च्छावस्था से, स्पष्ट लक्षित होता था, दीख पड़ता था। मदन-वेग, स्तंभ-जनक है, तदनुसार, ये नदियां जड़-स्तंभित हो गयीं। रति-वेग से इनका गति-वेग, भग्न हो गया, स्वाभाविक-गति कुंठित अर्थात् स्थगित हो गयी।

यहां, प्रस्तुत प्रसंग में इन नदियों में जिस मनोभव का उदय हुआ वह विवेक सहित मनोभव है–'मनोभवोऽस्त्र विवेक:'–सुबो.। देवाङ्गनाओं में आविर्भूत मनोभव, विवेक रहित था, इसीलिये वहां इस कामभाव ने, देवांगनाओं को विवेक-शून्य बना दिया था, वहां स्मर ने, इनकी विचार-शक्ति को छिन्न भिन्न कर दिया था–'स्मरनुन्नसारा:'। यही कारण था कि ये देवांगनायें, भगवत्-निकट जाने के लिये स्थिर चित्त होकर कोई उपाय भी तो नही सोच सकीं, उनका विवेक जो नष्ट हो गया था। नदियों में भी, यदि यही विवेक-रहित काम उत्पन्न होता तो देवस्त्रियों की तरह, प्रभु के निकट जाने में असफल ही रहतीं। 'मनोभवोऽस्त्रविवेक': यहां 'विवेक:' का अर्थ है 'विवेकसहित'। 'अर्श आद्यच्' इससूत्र के अनुसार 'विवेक' पद में 'अजन्त' प्रत्यय के योग से 'विवेक-सहित' यह अर्थ निष्पन्न होता है अर्थात् 'विवेक सहित मनोभव'।

**"आलिंगनस्थगितम्...पादयुगलम्"** :–सरितादि जैसों में भी, जो प्राय: अचेतन ही मानी जाती हैं, भगवत् संबंध की अभिलाषा होती है। इसीलिये ये

सरितायें स्थिर हो गयीं, प्रभु को देखकर उनकी गति रुद्ध हो गयीं। "किंतु, सरिताओं की, इस प्रकार गति-स्थिरता मात्र से ही, यह कैसे मान लिया जाये कि इनमें प्रभु प्रति-आसक्ति है, भगवत् संमिलन की लालसा है? स्थिति मात्र से उनकी आसक्ति, ज्ञात नही की जा सकती 'न स्थितिमात्रेण तदासक्तिः ज्ञाता भवति' सुबो. प्रकाश.। क्योंकि, जल की गति औषधियों आदि से भी स्थगित की जा सकती है, औषधियों से जल का स्तंभन संभवित है। इसके उत्तर में यह कथन है कि स्वकीय तट-पर स्थिर किये गये भगवद् चरण-युगल का आलिंगन करने के लिये ही, नदियों ने अपने गति वेग को शिथिल-स्थगित-किया है। तदनुसार, ये सरितायें, आलिंगन के लिये, स्थिरीभूत भगवद् चरण युगल का, कमल पुष्पोपहार के समर्पण पूर्वक, अपनी तरंग भुजाओं से स्पर्श कर रही हैं। भगवान् ने अपने चरण युगल को सरिताओं द्वारा आलिंगनार्थ, उनके तट-पर स्थिर किये हैं। सरितायें भी भगवद् चरणारविंद में स्वहृदयारविंद रूप उपहार को समर्पित करती हुयीं, उनका आलिंगन कर रही हैं। **(प्रभु के चरणारविंद का आलिंगन करने के लिये ही सरिताओं ने अपनी गति को स्थगित किया है। अपनी गति का स्थगित करने में नदियों का यही प्रयोजन था।)**

ये नदियां देवता हैं, अतः इनके साथ स्पर्शादि के अतिरिक्त अन्य लीला संभव नहीं। यहां, भगवान् ने मानुष भाव स्वीकार किया है। नदियां मानुष योनि की नहीं हैं, अतः उनमें भोग्यत्व का अभाव है। अप्सराओं में भोग्यत्व है, तथापि देवता होने के कारण, मनुष्याकृति प्रभु से अभोग्य हैं, इसीलिये, प्रभु के निकट उनका अनागमन ही रहा। नदियां भी अप्सराओं की तरह देवता हैं, अतः उनके साथ अन्य लीला की संभावना ही कैसी? 'नदीनामपि देवतात्वात् ताभिः सह नान्या लीला संभवति'.–सुबो.। इसीलिये, प्रभु के चरणारविंदों का आलिंगन करने के लिये ही सरिताओं ने अपनी गति को स्थगित किया। अपनी गति को स्थगित करने में, नदियों का यही प्रयोजन था।

**प्रयोजनार्थं मुक्तं मुरारेः** :–प्रभु के चरण-युगल को स्पर्श करने में भी नदियों का प्रयोजन था। इसी प्रयोजन का संकेत यहां 'मुरारेः' पद के प्रयोग द्वारा किया गया है। प्रभु, मुरदैत्य के विनाशक हैं, इसीलिये, इनको मुरारि कहते हैं। मुर दैत्य, जल में स्थित दोषों का मूर्तिमान स्वरूप है अर्थात् जल के दोष को 'मुर' दैत्य कहते हैं– 'दैत्यः पंचशिरो जलात्'। यह मुर ही, जल दोषात्मक अविद्या-रूप है, तथा जल में ही रहता है, यहां सरिताओं ने इसी दैत्य के संहारक प्रभु के चरण-युगल का ग्रहण, अपने इसी अविद्यात्मक दोष की निवृत्ति के लिये किया है। यहां

जलदोषात्मक अविद्या-रूप मुर दैत्य के संहारक मुरारि उपस्थित हैं–इन मुरारि के चरण संबंध से सरिताओं के अविद्या गत दोष की निवृत्ति में शंका की गंध ही कहां ? मुरारी-प्रभु इन नदियों की, भगवत्-सेवा में अनुपयोगी देहसंबंध रूप इस अविद्या का नाश, चरण-संबंध होने से, अवश्य करेंगे–'मुरो हि जलदोषात्मका-विद्यारूपस्तस्यारित्वात् चरणसंबंधे–नदीगतामविद्यां नाशयिष्यति–सुबो. ।। १५ ।।

**–पंचदश-श्लोक संपूर्ण–**

–: 0 :–

## षोड़श-श्लोक विवरण :–

**दृष्ट्वाऽतपे व्रजपशून् सहरामगोपैः संचारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।**
**प्रेमप्रवृद्धउदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ।१६।**

**अनुवाद :**–श्रीराम तथा गोपसखाओं को साथ में लेकर, व्रज पशुओं को चराते हुये तथा उनके पीछे पीछे वेणु को वजाते हुये अपने मित्र श्रीकृष्ण को शरदकालीन धूप से क्लांत देखकर, इस मेघ ने, स्नेह से संवर्धित अतएव प्रसन्न होकर फुहाररूपी पुष्पों के समर्पणपूर्वक अपने शरीर को ही, उनपर छत्र की तरह आस्तीर्ण कर दिया ।। १६ ।।

**गोपसखा अरु राम सहोदर संग लिये पशु-वृंद चरावें**
**आवहिं टेरत पाछेहु आछे निनादसों बांसुरि आपु विरावें**
**आतप-आतुर देखि उन्हें, कुसुमावलि वा पथ में वियुरावें**
**झूमि के नेह सों आपुनि देह को मेघजु मीत पै छत्र धरावें ।। १६ ।।**

**व्याख्या:**–(प्रस्तुत-श्लोक में भगवान् के 'वैराग्य' धर्म के उत्कर्ष का वर्णन है। स्व-सर्वस्व के निवेदन-पूर्वक श्री हरि के चरणारविंद में, परम-प्रीति को ही वैराग्य कहते हैं। विश्व के सर्व प्रदार्थों के प्रति विरक्ति से ही भगवान् में परम अनुरक्ति का उदय होता है–और यही पुष्टिमार्गीय वैराग्य का लक्षण है। हरि, सर्व के दुःख निवारक एवं सुख संपादक है, इसीलिये, आप 'हरि' कहलाते हैं। किंतु, जिस सेवक के चित्त में इस हरि के सुख की ही भावना रहती हो तथा अपने सुख के प्रति निरपेक्ष रहता हुआ, श्री हरि की ही सुविधा में दत्त-चित्त हो, उनके क्लेश को, स्वयं दुःखि होता हुआ भी, निवृत्त करने में तत्पर हो, तथा प्रभु से अपने सुख की तनिक भी याचना न करता हो, उस सेवक की प्रभु प्रति यही प्रीति, पराकोटि का वैराग्य कहलाता है। श्री हरि के क्लेश को दूर करने की यह भावना, सेवक में,

प्रभु प्रति अनंन्य अनुराग से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार के अनुराग भाव से संपन्न भक्त प्रतिक्षण भगवत्-सुख की ही भावना करता रहता है। प्रातःकाल है, बाल हरि जागे हैं, उन्हें क्षुधा लगी है, इस विचार से, वह उनको नवनीत, दूध-मिश्री आदि रुचि अनुकूल व्यंजन खिलाता है। ऊष्णकाल है अतः प्रभु के सुखार्थ उशीर-पटालिका को शीतल-जल से सिंचित करता ही रहता है, व्यजन डुलाता ही रहता है। इस तरह प्रत्येक ऋतु के अनुकूल परिचर्या करता हुआ प्रातःकाल से रात्रि पर्यंत, प्रभु-सुख की भावना से ही सतत आविष्ट रहता है। भक्त की यह भावना, अनुराग की परासीमा है, जिसकी अनुभूति, भगवदीय के हृदय का विषय है। यहां ऐसे भगवदीय का अर्थ है, 'पुष्टि-जीव'।

मेघ द्वारा की गयी, यहां इसी प्रकार की सेवा का निरूपण है। मेघ की यह सेवा भगवत् सौख्य-संपादिका तथा देशकालानुरूपा है। मेघ का सर्वस्व उसका जल ही है। भगवान् को शरद् ताप से क्लांत समझकर उसने अपने सर्वस्व जल को फुहार रूपसे प्रभु पर न्योछावर करते हुये अपनी देह को, उन पर इस तरह वितान की तरह, छत्र की तरह-विस्तीर्ण कर दी कि जिससे सूर्य की किरणें उसकी ही देह को तपाये तथा प्रभु को छाया-सुलभ विश्रांति ही मिले !!! इस प्रकार की सेवा को ही, श्रीमद्-आचार्य चरण ने 'सेवकोचिता' कही है–'सा सेवा सेवकोचिता'।

ज्ञान एवं क्रिया भगवान् की शक्तियां हैं–'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः'। सरिताओं में भगवान् की ज्ञानशक्ति के प्रवेश का निरूपण किया जा चुका है, प्रस्तुत श्लोक से, मेघ में, भगवान् की 'क्रियाशक्ति' के प्रवेश का वर्णन किया गया है।

'दृष्ट्वातपे'–इत्यादि श्लोक द्वारा मेघ का वर्णन करते हैं। शरत्कालीन ताप में भी, पशुचारणार्थ भगवान् वृंदावन में विचरण कर रहे हैं। व्रज-पशु स्वभाव से ही सर्वदा छाया प्रिय हैं– (सर्वदा छायाभ्यासयुक्तान्)। गोप ही इनके सर्वदा सहज पालक हैं। राम भी साथ में हैं, अपने नाम के अनुरूप ही गुणवाले अतएव वातावरण में सर्वत्र अपने चारों ओर–अभितः–रतिभाव की-प्रीति की-अभिवृद्धि कर रहे हैं–(अभितो रतिवर्धको रामः)–ये सभी भगवान् के साथ हैं। इस मंडली को अपने संग में लेकर, अथवा इन के द्वारा, व्रज-पशुओं का संचारण करते हुये, हंकारते हुये, प्रभु वृंदावन में अभिगमन कर रहे हैं (एतैः सहितं एतैर्वा संचारयन्तम्")। भगवत् क्रीडा में उपयोगी सर्व सामग्री साथ में ही है (सर्व-सामग्रीसहितम्)। गाय, गोप आदि देवता (अर्थात् क्रियाशक्ति), बलरामरूपवेद (अर्थात् ज्ञानशक्ति), तथा गोचारण रूप धर्म इस प्रकार की लीलोपयोगी सर्व सामग्री से समन्वित प्रभु स्वयं उनके पीछे पीछे, वेणु को बजाते हुये, भक्तों के अंतःकरण में उनकी आधिदैविकी आसक्ति

को–आधिदैविकरति-भाव को–उद्दीप्त करते हुये आ रहे हैं। अपनी ज्ञान तथा क्रियां शक्ति सहित, आधिदैविकी वन सुंदरियों के साथ क्रीड़ार्थ ही यह समग्र आयोजन है। भगवान् अपनी सर्वशक्तियों सहित इनके साथ क्रीड़ा करेंगे, अतः ऐसे अवसर में छाया की अनिवार्य अपेक्षा है यह मेघ ने जान लिया।

**प्रेम-प्रवृद्धउदितः**– इस मेघने, भगवत्-प्रेम अर्थात् स्नेह रूपा भक्ति से परिपोषित एवं संवर्धित होकर, सख्य भक्ति रूप अवस्था को प्राप्त की हैं। भगवान् के स्नेह से परिपुष्ट एवं इस तरह सख्य-पर्यंत अवस्था को प्राप्त यह मेघ, भगवान् को ताप से परिश्रांत देख कर, क्योंकर निष्क्रिय ही रहता ? वह शीघ्र उपस्थित हो गया–(उदितः)। भगवत्-स्नेह संपदा से प्रवृद्ध अतएव मुदित-'प्रवृद्धमुदित–इतिपाठे प्रवृद्धश्चासौ मुदितश्च'-इस तरह समास होता है–इस मेघ ने, अपने मित्र श्रीकृष्ण के ऊपर अपनी देह को छत्र की तरह-आस्तीर्ण कर दिया, अथवा, गाय, गोप तथा बलराम सहित श्रीकृष्ण में उसके प्रति जिस तरह प्रेम उत्तरोतर वृद्धिगत हो, उसी तरह उदित होता हुआ उनके ऊपर छत्र की तरह–अपनी देह को फैला दिया–' प्रेम-प्रवृद्धं यथा भवति तथा वोदितः'। इसने, भगवान् की शरद्ताप से रक्षा-करने के लिये, केवल अपने शरीर का ही विनियोग नहीं किया, अपितु, अपने सूक्ष्म-जलविंदुओं की फुहार रूप पुष्प-वर्षा भी की-कुसुमावलीभिः–इस पंक्ति में कुसुम अर्थात् पुष्प का अर्थ 'जल' है। 'मेघ-पुष्प–तथा घनरस' जल के पर्याय हैं। इस मेघ ने, इससे पहिले-पूर्व में सख्य-पर्यंत भक्ति-साधना की थी। सख्य-भक्ति के अनन्तर ही, 'आत्म-निवेदन' रूप भक्ति की उपलब्धि होती है 'सख्य-मात्मनिवेदनम्'। अतः, संप्रति इसने इसी 'आत्म-निवेदन' भक्ति की परिपूर्णता के लिये, अपने आत्म-रस-रूप सर्वस्व जल-बिंदुओं के समर्पण पूर्वक आत्म–निवेदन किया–'पूर्वमनेन सख्य-पर्यंतं भक्तिः कृता, इदानीं आत्मनिवेदनं कृतवान्'। अथवा, प्रेम से ही प्रवृद्ध होता हुआ, श्रवण से प्रारंभ करके सख्य-पर्यंत अवस्था को प्राप्त होकर ही यह स्नेहवशात् इतना स्थूल-परिपुष्ट हो गया है। तदुपरांत, मेघ, काम-रूप होते हैं-अतः अपनी इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ हैं। इसीलिये, प्रस्तुत प्रसंग में, भगवत्–स्नेह से वशीभूत होकर इसने यथाभिलषित ऐसा छत्राकार-रूप धारण किया–जिससे श्रीकृष्ण सहित समग्र गोगोप मंडली पर छाया हो गयी। इस तरह करने से स्वयं इस मेघ को भी अवश्य क्लेश हुआ होगा। तो क्या उसने यह दुःख-पूर्वक किया ? उसे न तो, क्लेश हुआ और न ही दुःख हुआ प्रत्युत उसे प्रसन्नता हुई-'मुदितः' जीवन-पर्यंत जिसका संवर्धन परिपोषण-भक्ति से ही-भक्ति में ही-होता है, वही अन्त में आत्मनिवेदित होता है

भगवद्-चरणों में आत्म-निवेदन-रूप-भक्ति को उपलब्ध करता है। मेघ ने सख्य-भक्ति सुलभ आनंद से प्रेरित होकर ही यह सब कुछ किया, प्रसन्नता पूर्वक की गयी सेवा को ही प्रभु अंगीकार करते हैं। इस मेघ ने तो अपने तन को तथा स्वसर्वस्व जल को भी, प्रभु-अर्थ सर्मापित करते हुये, अन्तमें, आत्म-निवेदन ही किया!!! मेघ ने तो अपने सर्वस्व का, 'घनरस' का समर्पण किया है-यहां 'कुसुमावलीभिः सह' इस पद का प्रयोग इसी का निर्देश करता है। अमुक टीकाकारों के मत में, कृष्ण और मेघ दोनों ही, लोकोपकारी होने के कारण, वर्ण में नीलाभ होने के कारण तथा जीवन-प्रद होने के कारण-इस तरह दोनों की रूप और गुण में समानता होने के कारण, उनमें परस्पर मैत्री-सख्य-भाव-है। यह उचित है, तथापि मेघ ने तो इस सख्य भाव से भी उत्तम उस भाव को प्राप्त किया जो आत्म-निवेदन रूप है।

मेघने स्वशरीर से भगवान् पर छत्रछाया की उससे साक्षात् लक्ष्मी के साथ भगवान की क्रीडा सूचित की गयी है- क्योंकि, इस प्रकार से छाया आदि का संपादन, असाधारण लक्ष्मी-चिन्ह माना गया है। लक्ष्मी सह, भगवत् कृत इसी रमण का संकीर्तन, इससे अग्रिम श्लोक में, पुलिन्द-पत्नियां करेंगी। इस प्रकार गोपों द्वारा गोचारण रूप धर्माचरण करते हुये, बलराम द्वारा सबका रक्षण करते हुये, वेणु-नाद द्वारा सब में लीलार्थं रसोद्बोधन करते हुये, फिर, अन्त में भगवान् ने लक्ष्मी-सह मेघकृत छत्र-छाया में, रमण किया। सर्पराज-शेष की तरह, मेघ भी भगवान् का सखा है। यहां बलराम साक्षात् शेष ही हैं, अवतार तथा अनवतार-समय में भी, भगवान् की शय्या बनकर तथा फणाओं द्वारा उन पर छाया करते हुये, उनकी सेवा में सदा तत्पर रहते हैं। तदनुसार, ऐसे शरत्कालीन आतप के समय में भी, शेष के समान, अपनी भी मैत्री के कारण, मेघ ने छाया संपादन रूप, जो सेवा की, वह उचित ही है-'शेषवदस्यापि सखित्वात्, तादृशेऽपिसमये छाया-करणं युक्तमेव' मित्र को मित्र की छाया करनी ही चाहिये ॥१६॥

**– षोड़श-श्लोक संपूर्ण –**

## सप्तदश-श्लोक विवरण :-

**पूर्णाः पुलिंद्य उरुगायपदाब्ज-राग-श्रीकुंकुमेन दयितास्तन-मंडितेन।**
**तद्-दर्शनस्मर-रुजस्तृण-रूषितेन लिपन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ।१७।**

**अनुवाद** :- हे सखियो ! हमारी अपेक्षा ये पुलिंद-पत्नियाँ कितनी अधिक धन्य है, पूर्ण हैं, क्योंकी, प्रथम, श्रीकृष्ण की प्रियतमाओं के स्तनों पर मंडित, तदनन्तर, रमण-काल में, श्रीकृष्ण के चरण युगल में संलग्न, तत्पश्चात् वृंदावन में विचरण करते समय श्रीकृष्ण के चरण युगल से वहां के तृणों में रूषित, इस दिव्य-कुंकुम का, जिसका निर्माण स्वयं लक्ष्मी ने किया था, अपने मुख तथा स्तनों पर अनुलेपन करके, इसीके दर्शन से उत्पन्न, अपनी काम पीडा का उन्होने शमन किया है ।।१७।।

**प्यारी उरोज के कुंकुम-लेप, मुकुंद पदांबुज-राग रचायें।**
**चर्चित-राग के चिन्ह सोउ वन की तृण-राजिन पै उभरायें ।।**
**सोइ लपेटि उरोजन आनन, आलि ! मनोजकी आगि बुझायें।**
**आजु भईं परिपूर्ण-मनोरथ धन्य पुलिंदिन की ललनायें ।। १७ ।।**

**व्याख्या** :-वन में निवास करने वाली हीन जाति की पुलिंद-पत्नीयों में भी, भगवान् की समीपता के कारण, भक्ति का उदय हुआ-प्रस्तुत-श्लोक में इसी का निरूपण किया गया है।

**पूर्णाःपुलिंद्यः** :- गोपांगनायें कहती हैं कि हे सखियो, हम सभी-गोपीयों की अपेक्षा तो ये पुलिंद-पत्नियां ही संपूर्ण भाग्यशालिनी हैं, क्योकि, इनका, साक्षात् भगवद्-चरण कमल की रेणु से, रज से, संबंध है। वृंदावन-भूमि में विचरण करते हुये, उसके तृणों पर, भगवत् चरणारविंदों में लक्ष्मी-द्वारा लगाया गया कुंकुम अंकित हुआ। तृण से संलग्न यह कुंकुम, इस तरह भगवद्-चरण रज से संयुक्त था। इसी रज से युक्त कुंकुम का, इन पुलिंदियों ने अपने मुख-तथा कुचों पर लेप किया। इस तरह अपने अवयवों पर कुंकुम का लेप करते हुये, इनको कुंकुम से संश्लिष्ट भगवद्चरण- रजसे-संबंध प्राप्त हुआ है, अतः इस रज से संबंध को प्राप्त करके, ये पुलिंदियां वस्तुत कृत-कृत्य हैं।

हम गोपांगनायें, अपने आपको, इन पुलिंद-पत्नियों से, उत्तम जाति की समझती हैं। धूल से लिपटे-हुये इस कुंकुम को, ये पुलिंदियां, तृण उपर से, कितन स्नेहपूर्वक ग्रहण कर लेती हैं, किंतु इस प्रकार के कुंकुम को लेते हुये हमें लज्जा आती है, संकोच होता है, क्योंकि हम अपने आपको उत्तम-कुल की मानती हैं। हमारे इस गर्व ने ही तो भगवत्-चरण-रज से हमें वंचित किया है-'अस्माभिस्तु स्वोत्तमत्व-

भावनया तादृशं न गृह्यते-' लेख. । नहीं तो हम भी, इनकी तरह, प्रभुचरण-रज से प्रचुर इस कुंकुम को लेकर, चरण-रेणु से संबंध प्राप्त कर सकती थीं । प्रभु-चरण की रेणु भगवदीयत्व की संपादिका है, 'भगवद्-चरण-रेणवो भगवदीय-देहसंपादिका :''-किंतु, धिक्कार है, हम ऐसा नहीं कर सकीं । इसीलिये तो भगवदीय देह की अप्राप्ति से हम प्रभु के अयोग्य, अनुपयुक्त रही हैं । भगवद्-उपयोगिनी तो ये पुलिंद-स्त्रियां ही रहीं । सेवाफलोक्त-'अलौकिक-देह, भगवत्-सह सतत-स्थिति, तथा सेवोपयोगीदेह–' इस त्रिविध फल की संपत्ति तो भगवद्-चरण-रज द्वारा ही प्राप्त होती है । इसी संपत्ति से, आज, ये पुलिंदियां परिपूर्ण हो गयीं ।

इतना ही नहीं, यह संपूर्ण वृंदावन, देवकी-सुत का साक्षात् चरणारविंद रूप-भगवद्-चरण की रेणु रूप ही तो है, और, ये पुलिंदियां यहां ही निवास करती हैं, यहां ही सतत स्थिति होने के कारण इनका इस रज से नित्य संबंध है-भगवद्-चरण रेणु से ओत-प्रोत हैं । हमारे घर-वार तो गोकुल में हैं–अत: हमारे भाग्य में यह रेणु कहां ? हम तो इससे सदा वंचित ही रहीं । हम तो कात्यायनी व्रतानुष्ठान से, केवल साधनानुरूप ही फल को प्राप्त कर सकेंगीं-किंतु, साधन-शून्य होती हुयी भी, साक्षात् पद-रज के संबंध से, सेवा-फलोक्त सिद्धि की अधिकारिणी तो ये पुलिंदि-स्त्रियां ही है-अत: ये ही पूर्ण हैं ।

**उरुगाय-पदाब्जरागश्रीकुंकुमेनदयिता-स्तनमंडितेन तृणरुषितेन–**

भगवद्-चरण रज से साक्षात् संबंध के कारण, पुलिंदि-स्त्रियों को अलौकिक-देह की प्राप्ति तो हुयी ही, तदुपरांत, भगवद्-चरण-तल गत कुंकुम जो तृणों पर लग गया था, इसका अपने मुख तथा स्तनों पर लेप करके, ये पुलिंदियां अपने-स्मर-जनित-आतंक से भी मुक्त हो गयीं । वृंदावन की तृणाच्छादित भूमि पर विचरण करते समय, भगवत् पाद-तल-लग्न कुंकुम से, तृणों का संलिप्त होना सहज है–पुलिंदियों ने इसी कुंकुम को लेकर, अपने अवयवों पर लेप किया ।

भगवद्-चरणारविंदों में इस कुंकुम को किसने लगाया ? तथा किस तरह समागत हुआ-? इस का निरूपण 'उरुगाय पदाब्जरागश्रीकुंकुमेन'' तथा ''दयितास्तनमंडितेन' इन पदों में किया गया है । इन पंक्तियो का अर्थ, भिन्न-भिन्न समास पूर्वक भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है । यहां ''उरुगाय'' का अर्थ है महानुभावों से प्रशंसित (उरुभिर्गीयते-उरुगाय:) अर्थात् भगवान् । तदनुसार उरुगाय का अर्थ है भगवान्, जो सर्व प्रमाणों से सिद्ध तथा सर्व-गुणों से पूर्ण हैं–अर्थात् सर्व प्रमाण सिद्ध तथा सर्व गुणपूर्ण भगवान् ही उरूगाय हैं । इस उरुगाय-भगवान् के चरणारविंद–युगल में

लक्ष्मी का सहज, अनुराग है। लक्ष्मीने भगवान् का जो वरण किया, वह अत्यंत विचार पूर्वक, उनके अनंत गुणों को लेकर ही तो किया है। भगवद्-चरणारविंदों में अपनी एकांत भक्ति-अपनी परम-अनुरक्ति के कारण, इस लक्ष्मी ने, केसर, कस्तुरी, अंबर चंदन आदि सुगंधित द्रव्यों के मिश्रण से एक दिव्य कुंकुम का निर्माण किया-तथा इस दिव्य कुंकुम से, भगवान् के चरणारविन्द-युगल को समलंकृत किया। लक्ष्मी ने स्वयं ही इस दिव्य कुंकुम का निर्माण किया और उसने ही-प्रभु के चरणारविंद-युगल को, सानुराग इसी कुंकुम से, संजोया- "...तयैव निष्पादितं दिव्यं कुंकुमम्-अर्थात्, तयैव भगवद्-चरणारविंदे-दत्तम्'। इसी दिव्य कुंकुम से चर्चित चरणारविंदों को, प्रभु ने रमणकाल में, बंध-विशेष के अनुसार, स्वकीय-दयिता लक्ष्मी के स्तन-मंडल पर स्थापित किये। भगवद्-चरण-गत कुंकुम से, लक्ष्मी का स्तन-मंडल विमंडित हो उठा। भगवद्-पदारविंदों का, श्री द्वारा अर्पित, श्री के स्तन-मंडल का साक्षात् शोभा रूप यहीं दिव्य कुंकुम वृंदावन में विचरण करते समय भगवद् चरणारविंदों से वहां के तृणों पर लगा। पुलिंद-रमणियों ने तृणलग्न इसी कुंकुम को लेकर इसीका लेप अपने मुख और स्तनों पर किया। 'दयिता-स्तन मंडितेन' पंक्ति में, 'दयिता' पद दांपत्य-संबंध के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहां पत्नि के अर्थ में लक्ष्मी, दयिता नहीं है, किंतु, रस की दात्री के अर्थ में ही 'दयिता' है। तदनुसार, 'दयितास्तनमंडितेन' का यह भी अर्थ है कि 'भगवान् में अधिकाधिक रस निष्पति हो' इस हेतु से लक्ष्मीने, इस कुंकुम को, प्रथम, अपने हृदय पर स्थापित किया, अर्थात् इस दिव्य कुंकुम से, प्रथम अपने स्तनमंडल को, अलंकारार्थ मंडित-लिप्त-किया। तत्पश्चात्, बंध-विशेष के आग्रह से, जब, भगवान् ने अपने चरण-युगल, लक्ष्मी के उरोज-युगल पर समर्पित-स्थापित किये, उनके चरण-युगल, इसी लक्ष्मी-दयिता के स्तन मंडित-कुंकुम से संलिप्त हो गये। तत्पश्चात्, भगवद्-चरण-लिप्त यही कुंकुम तृणों पर अंकित हुआ -जिसे लेकर, पुलिंद-रमणियों ने अपने मुख तथा स्तनों को समलंकृत किया।

अथवा, लक्ष्मी ने, इस दिव्य-कुंकुम को प्रसादी-रूप में, भगवान् की अधिदैविक शक्तियों को दिया और इसी कुंकुम से, इन शक्तियों ने अपने स्तन मंडल को मंडित किया। अथवा, स्वयं लक्ष्मीने प्रसादी रूप इस कुंकुम को, इन दयितारूप शक्तियों के स्तनों पर मंडित किया— 'अथवा लक्ष्म्यादत्तमाधिदैविकीषु शक्तिषु, स्तनेषु मंडितम्'। तदनन्तर रमण कालीन बंध विशेष के अनुसार यही कुंकुम चरणारविंदो में, चरणारविंदों से तृणों में, समागत हुआ जिसका लेप पुलिंदि-स्त्रियों ने अपने अपने अवयवों पर किया।

संक्षेप में, जिस कुंकुम से, लक्ष्मी ने, अपने स्तनमंडल को, अथवा प्रभु की आधि-दैविकी-शक्ति-रुपा वन देवियों के स्तनमंडल को मंडित किया, वहीं कुंकुम, लक्ष्मी

के स्तन से अथवा शक्तियों के स्तनों से-रमण-कालीन बंध-विशेष में, उनके वक्ष-स्थल पर समर्पित भगवद्-चरण-युगल से संलग्न हो गया। भगवद्-चरण लग्न यहीं कुंकुम, तृणांकुरों में समागत हुआ, तृणांकुरों से लिपटे हुये-रुषित-इसी कुंकुम का लेप पुलिंद-स्त्रियों ने अपने अपने अवयवों पर किया।

**तृण-रूषितेन :**—इसका अर्थ इस तरह भी किया जा सकता है कि, लक्ष्मी ने, अथवा भगवान् की आधिदैविक शक्तियों ने अपने स्तन-मंडलों पर विमंडित इस दिव्य कुंकुम का दान पुलिंद-रमणियों को किया और इस तरह प्राप्त इस कुंकुम को, इन पुलिंदियों ने, तृण में लपेट कर, परस्पर अपने अपने मुखों को तथा स्तनों को, विविध प्रकार की मत्स्यादि आकृतियों से चित्रित किया। यहां 'तृण-रूषितेन' का अर्थ है, तृण को कुंकुम से लपेट कर-भिगोकर-अर्थात् कुंकुम का लेप, तृण द्वारा किया। अथवा, स्वयं भगवान्-तृण में कुंकुम लपेट कर, जब इसके द्वारा, अपनी दयिता-रूप प्रियतमाओं के मुख तथा स्तनों को मत्स्यादि आकृतियां से समलंकृत कर रहे थे तब उनके हाथ से, यह कुंकुम-लिप्त-तृण, नीचे भूमि पर गिर पड़ा, इसी कुंकुम-लिप्त तृण को पुलिंदियों ने लेकर, तत्-गत कुंकुम का अपने मुख तथा स्तनों पर लेप किया। इस तरह भी 'तृणरूषितम्' के अर्थ होते हैं। किंतु यहां, उसी कुंकुम से आशय है जो भगवद्-चरणारविंद से तृणों में रूषित-संलग्न-हो गया था-'तृणेषु वा रूषितं संलग्न भगवच्चरणारविंदात्'-

इस प्रकार तृणों में संलग्न भगवद्-चरणारविंद-संबंधी कुंकुम के दर्शन से, अथवा लक्ष्मी के तथा स्वप्रियतमा-वनदेवियों के संग भगवद्-रमण के दर्शन से, काम सुलभ व्यथा से पुलिंदियां अभिभूत हो उठीं; इसी व्यथा के शमनार्थ, तृणों से रूषित, भगवत्पदारविंद की रज से संश्लिष्ट कुंकुम का अपने मुख तथा स्तनो पर अनुलेपन करके, पुलिंदियां, काम-जनित वेदना से निवृत्त हो गयीं-"जहुस्तदाधिम्।' भगवद्-चरण-रेणु से संबंध-प्राप्त करके, ये पुलिंद-रमणियां, पहिले ही, आधिदैविक-देहादि से संपन्न हो चुकी थीं। संप्रति, लक्ष्मी-निष्पादित इस दिव्य कुंकुम का-श्रीकुंकुम का-अपने अंगो पर लेप करते ही, जिस तरह अग्नि के संपर्क से, लोह गोलक में अग्नि का संक्रमण होता है, उसी तरह, उनमें लक्ष्मी के अंशों का प्रवेश हुआ। रेणु-संबंध से आधिदैविक देह सिद्धि के अनन्तर, कुंकुम-लेप से लक्ष्मी का आवेश होते ही, इन पुलिंदियों को साक्षात् भगवत्-सह रमण की योग्यता-सिद्धि-प्राप्त हो गयीं। अर्थात्, अपने मुख तथा स्तन-युगल पर इस कुंकुम का अनुलेपन करके, जब, ये पुलिंदियां उपस्थित हुयीं,-तब, कुंकुम द्वारा लक्ष्मी प्रवेश से, इनके साथ भगवान् ने रमण किया, इस तरह प्रभु से उपभुक्त होकर, इन्होंने अपनी कामाधि का त्याग किया। यह

कुंकुम, लक्ष्मी का असाधारण धर्म है, अतः इस कुंकुम के लेप द्वारा, य पुलिंदियां, लक्ष्मीत्व से संपन्न हो कर वस्तुतः पूर्ण हो गयीं। ब्रह्मानंद के आवेश से भजनानन्द स्वतः सिद्ध है। भजनानन्द सिद्धि में ही पूर्णत्व है।

यहां पुलिंदियों ने, भगवत्-सह रमण द्वारा ही, अपनी काम व्याधि से निवृत्ति प्राप्त की-अन्यथा, मुख और स्तनों पर, श्री-संबंधि-कुंकुम के संपर्क से तो, कामाधि में वृद्धि ही होती है। पीड़ा की निवृत्ति नहीं। इसीलिये आधित्याग के कथन रूप अन्यथानुपपत्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् ने इन पुलिंदियों के साथ रमण किया। अर्थात् 'इन पुलिंदियों की कामाधि-निवृत्ति हो गयी' इस इतने कथन-मात्र से ही, भगवत् सह इनके रमण का कथन अनुक्त होता हुआ भी सिद्ध है। क्योंकि, रमण ही कामाधि का निवर्तक है।

हे सखि ! भगवान् की यह कथा अलौकिक है- (इसका निरूपण अग्रिम श्लोक में है), यदि, अलौकिक न होती तो ये अयोग्य तथा हीन-कुल की पुलिंद स्त्रियां, भगवत् सह रमण की योग्यता क्यों कर प्राप्त कर सकीं, और, हम सर्व प्रकार से भगवद्-योग्य होती हुयी भी अयोग्य ही रहीं, अपूर्ण ही रहीं। वृंदावन निवासिनी होने के कारण इनको दिव्य-कुंकुम की प्राप्ति सहज हैं। वृंदावन के निकुंजो में, उत्थापनकालीन विश्रांति लेकर, जब तक भगवान् बाहर नहीं पधारते तब तक लक्ष्मी के सखीजन निकुंज द्वार पर, पुलिंदियों को भगवत् कथा कहते हुये समय व्यतीत करती हैं-अतः इन पुलिंदियों को भी, भगवत्-श्रवण सिद्ध है-'तावत्पर्यंतं लक्ष्मीसख्यः पुलिंदिभिः सह भगवत्कथां कथयन्ति'. लेख. (उरुगायेतिवचनात् ताभिरपि भगवान् श्रुतः इति लक्ष्यते-यहां 'उरू' का अर्थ है 'लक्ष्मीसखी''–अर्थात् लक्ष्मी-सखियों से संकीर्तित-उरूगाय-भगवान्)। उत्थापनकालीन लीला में ही पुलिंदियों का आगमन होता है।

गोपियां कहती हैं कि यह सब कुछ, वृंदावन जाने से ही प्राप्त हो सकता है। हमारा वहां जाना संभव ही नहीं-अतः, मन को पीड़ा देने वाला यह काम हमको छोड़ता ही नहीं। काम वस्तुतः, मन की पीड़ा रूप है, 'कामस्तु वस्तुतः मनः पीड़ा-रूपः'। पीड़ानिरूपक काम, आधिजनक है। यदि हम से पूछा जाये कि आपके हृदय में, भगवान्, साक्षात् प्रकट हैं, तो आप अपने आपको अपूर्ण क्यों कहती हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि हमारे में प्रभु का यह प्राकटच हमारी आधि का-पीड़ा का निवर्तक नही है प्रत्युत उसका उद्बोधक ही है। यह, काम को, हमे अधिकाधिक पीड़ित करने का प्रोत्साहन देता रहता है, अतः, हमारा काम तो मन की पीड़ारूप ही है। यदि यह कहा जाये कि 'हमारा यह काम', भगवद् विषयक है, अतः हम ही

धन्य हैं, पुलिंद-पत्नियां नहीं "तो उसका उत्तर यह है कि यह काम, धन्यता का हेतु नही है, क्योंकि, संयोग के अभाव में, काम दुःख-दायी ही माना जायेगा, और दुःखी को धन्यता का पात्र कहना, असंगत है। अर्थात्, काम, वास्तव में, मन का पीड़ा रूप है; वियोगावस्था में, भगवद्-विषयक काम, प्रचुर पीड़ा का ही उत्पादक है। अतः हमारे भाग्य में तो केवल दुःखानुभव ही लिखा है। हम धन्यता की पात्र क्यों कर कही जा सकती हैं। भूख कदापि सुख की हेतु नहीं, किंतु, भूख लगने पर, अन्न-भोग जिस तरह सुखकर है, उसी तरह, भगवद् विषयक काम होने पर, भगवद्-भोग की प्राप्ति ही सुखद कही जायेगी पुलिंद-स्त्रियों को इसी भगवद्भोग की उपलब्धि हुयी है, अतः ये ही धन्य हैं, हम नहीं। तात्पर्य यह है कि भोजन के अभाव से, क्षुधा, दुःख-दायी ही मानी जाती है, क्षुधा लगने पर, भोजन करने से ही सुख मिलता है। ऐसे ही, भवगत्-सह कामेच्छा जगने पर, भगवत्-सह-रमण की सुखदायक है। भगवत्-सह यह रमण, पुलिंद-स्त्रियों को ही प्राप्त हुआ, और, हम इस रमण से वंचित रहीं, अतः हम अपूर्ण है–पूर्ण तो पुलिंद-पत्नियां ही है-"पूर्णाःपुलिंद्यः' ।। १७ ।।

**–सप्तदश श्लोक संपूर्ण–**

## –पूर्णाः पुलिंद्यः–

### –इस श्लोक पर स्वतंत्र-लेख–श्रीहरिरायजी महाप्रभु–

अथवा, प्रस्तुत-श्लोक का तात्पर्य यह भी है– दिवस-पर्यंत, भगवान्, गोचारणार्थ, वृंदावन में ही रहते हैं, अतः, गोपाङ्गनाओं की, भगवत्सह दिवा कालीन रमण मनोभिलाषा अपूर्ण ही रहती हैं। भगवत्-सह अभिलषित इस दिवा रस की अपूर्ति में, गोपांगनायें अपने आपको अपूर्ण तथा पुलिंदियों को ही पूर्ण मानती हैं। भगवद्-अभिलषित दिवा रस का अनुभव करती हुयीं इन पुलिंद स्त्रियों ने, भगवान् को, उनकी आधिसे-निवृत्ति करायी-'जहुः' क्रिया में, 'अन्तर्भावितण्य' प्रत्यय से, उसका यही अर्थ सिद्ध होता है। अर्थात् भगवान् को, आधि से मुक्त किया।

भगवान् उरुगाय-हैं, अर्थात् महाभागवत इनका गुणगान करते हैं। ये महा-भागवत्, भगवान् का गुण-गानमात्र ही कर सकते हैं, उपभोग नहीं। किंतु, इन पुलिंदियों ने तो इसी उरुगाय भगवान् का उपभोग भी किया है-तुम देखती नहीं ? इन्होनें, अपने मुख तथा स्तनों को, इस रतनार कुंकुम से, कितनी तत्परतापूर्वक संजोया है। यह वही दिव्य कुंकुम है, जिसका निर्माण स्वयं लक्ष्मी ने, उरुगाय भगवान् के

चरणारविंदों में अपने अनन्य अनुराग को लेकर, सुगंधित द्रव्यों के मिश्रण से किया था। लक्ष्मी भगवान् की दयिता-प्रियतमा-है। इसीलिये, भगवान् में अधिकाधिक रस-की अभिवृद्धि के लिये, उसने इस कुंकुम से अपने स्तन-मंडल को मंड़ित किया। भगवान् ने रमण-काल में, स्वकीय चरणारविंदों को, अपनी अत्यंत प्रिया के कुंकुम-समलंकृत स्तन मंडल पर, उसके विरहसामयिक उत्कट-ताप के शमनार्थ, स्थापित किये। चरण-युगल के स्पर्श से, रोमरोम में आनन्द-रस उच्छलित हो उठा। आन्तर-रसानुभव की उत्कटता को अभिव्यक्त करते हुयें सात्विक स्वेदबिंदुओं से कमनीय उरोज मंडल आर्द्र हो गया। स्वेदार्द स्तन-मंडल का कुंकुम सार्द्र हो कर, भगवद् चरणारविंद तल-युगल से संलिप्त हुआ। इस तरह भगवच्चरणारविंदो में समागत यह कुंकुम, सात्विकभाव-सुलभ स्वेदसे आर्द्रता-सहित होने के कारण, प्रभु के वृंदावन-विचरण करते समय, वहां के दूर्वादि तृणों में रूषित-संलग्न-हो गया, और, यहां से ही इस कुंकुम को लेकर, पुलिंदियोंने अपने मुख तथा स्तनों पर लेप किया। भगवद्-चरणों से इसकी साक्षात्-प्राप्ति असंभव थी। **दयिता** के स्तन मंडल में से प्रभु-चरण-तल संलग्न, तदनन्तर, प्रभु-चरण-तल में से वृंदावन-भूमि के तृणों में समागत यह कुंकुम दयिता-सजातीय-भावसे भावित था। इसके प्रलेपन से इन पुलिंदियों को, प्रियतम के संभोग सुख की स्मृति हो आयी। इन पुलिंदियों में, लक्ष्मी-समान भाव की अर्थात् सजातीय भाव की उत्पत्ति के लियं, भगवान् ने इनको अपने रसात्मक स्वरूप का दर्शन कराया। भगवद्-दर्शन करते ही पुलिंद-स्त्रियां स्मर-पीडा से व्याकुल हो गयीं। यहां यह प्रश्न होता है कि यदि भगवान् ने ही पुलिंदियों में काम-भाव को उत्पन्न किया और भगवान् ने ही इनकी काम-सुलभ-आधि का शमन किया-तो फिर यह कथन कि इन पुलिंदियों ने, भगवान् की कामाधि का निर्हरण किया, कहां तक उचित है? इसका उत्तर है कि भगवद्-दर्शन से रमणेच्छा की उत्कट लालसा के कारण, ये पुलिंदियां कामानल से परितप्त-क्लिष्ट हो गयी थीं। उनके इस असह्य ताप से, भगवान् को भी ताप हुआ। भगवान् के इसी ताप का, कामाधि का-निवारण इन पुलिंदियों ने किया। भक्त-ताप से, भगवान् को भी ताप होता है-यदि भक्त ताप से भगवान् संतप्त न हों तो उनका यह प्रतिज्ञावचन कि 'मेरा भक्त जिस तरह मेरा भजन करता है उसी तरह मैं भी, मेरे भक्त का भजन करता हूँ" निरर्थक हो जाता हैं। तदनुसार, पुलिंदियों ने भगवान् की काम-पीड़ा का निवारण किया, 'जहुस्तदाधिम्-' यह कथन ही उचित-तर है।।१७।।

**सप्तदश-श्लोक—'स्वतंत्र लेख' संपूर्ण।**

—:0:—

## अष्टादश-श्लोक विवरण :-

**हंतायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यत् रामकृष्णचरणस्पर्श-प्रमोदः।**
**मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसुयवसकन्दरकन्दमूलैः ।।१८।।**

**अनुवाद**–अहो ! हे व्रजाङ्गनाओ ! कितने हर्ष की बात है कि यह श्री गोवर्धन, श्री हरि के भक्तों में निःसंदेह श्रेष्ठ है–क्योंकि यह राम और कृष्ण के चरण-स्पर्श से प्रमुदित हो रहा है तथा गो और गोपगण सहित इस भ्रातृ-युगल का, जल, कोमलतृण, कन्दरा तथा कन्दमूल आदि के समर्पण पूर्वक आतिथ्य सत्कार कर रहा है।।१८।।

**हरिदासन में सिरताज अहो! गिरिराज इहां जे विराजत है।**
**परसाइ पदांबुज राममुकुंद के आलि! हिये हुलसावत है।।**
**जल, कंद, सुमूल, तृणादिक व्यंजन, कंदरवास सजावत है।**
**इहि भांति इन्हें सह धेनु सखान के मान सों लागि सभाजत हैं।। १८।।**

**व्याख्या**–प्रस्तुत श्लोकोक्त चरित्र का निरूपण करने वाली गोपीजन निर्गुण हैं ! वे कहती हैं कि 'हे अबलाओ ! यदि कोई शंका करे कि इन पुलिंदियों ने इस प्रकार की पूर्णता को कैसे प्राप्त करली ? तो उसका उत्तर यह है कि यह सब कुछ इन्होंने भगवद्-भक्त की संगति से ही प्राप्त किया है ; और, यह गोवर्धन ही इस प्रकार का भगवदीय-भक्त-है। इन वनवासिनी पुलिंदियों का एक मात्र समाश्रय यह गिरिराज ही है ; यह गिरिराज, भगवदीयों में श्रेष्ठ है। इस भगवदीय की प्रेरणा से ही तो ये पुलिंदियां, भगवदर्थ कन्द-मूल-फलादि का संपादन करके ले जाती हैं। बिना सत्संग, विवेक होना दुर्लभ है। कंद-मूलादि संपादन रूप यह विवेक ही तो, भगवत् संमुख होने में हेतु बना है। और, परिणाम यह आया, कि इनको, कंदमूलादि संपादनार्थ विचरण करते हुये इस वन में, तृण-रूषित श्रीनिर्मित दिव्य-कुंकुम की प्राप्ति हो गयी। और, इसी कुंकुम का, अपने अंगो पर अनुलेपन करके परिपूर्ण बन गयीं। यह सब कुछ, भगवदीय गिरिराज के सत्संग से ही इनको सिद्ध हुआ। अरी सखियो ! कितने खेद की बात है कि हम इस गिरिराज की संगति साधने में नितांत असमर्थ रहीं। यदी हम भी पुलिंदियों के समान ही-वृंदावन में, श्रीगोवर्धन के निकट निवास करतीं, उसकी सन्निधि में रहतीं तो हमारी आधि का भी निवारण हो जाता-किंतु हम अबलायें हैं, अपनी असमर्थता से ही तो हम ऐसा नहीं कर सकीं। हमारी कामाधि हमें ज्यों की त्यों पीड़ित कर रही है-इसकी निवृत्ति के अभाव में हम दुःखी हैं। यहां 'अबला' तथा 'हन्त' पदों के प्रयोग से, गोपाङ्गनाओं के असामर्थ्य का यथाक्रम निर्देश किया गया है।

**हरिदासवर्यः** :– यह गोवर्धन, भगवदीयों में श्रेष्ठ है, भगवदीय-सृष्टि का रत्न है; -क्योंकि देखती नहीं, श्रीराम और श्रीकृष्ण के चरणारविंदो का स्पर्श प्राप्त करके यह परम-आनंदमयता से पुलकित हो उठा है–स्पर्श मात्र से प्रमुदित हो गया है। भगवद्-चरणारविंद साक्षात् भक्तिमार्ग -रूप है। भक्ति-मार्ग के स्पर्श मात्र से ही आनन्द का अनुभव करने वाला भगवदीयों में श्रेष्ठ माना गया है।

**मानं तनोति** :–भगवदीय श्रेष्ठ यह गोवर्धन परम सात्त्विक ही नहीं गुणातीत भी है। स्वसर्वस्व का विनियोग इसने श्री हरि के चरणों में कर दिया है, अपरिग्रह इसका धर्म है। हरि के दास की निर्धनता में ही उसकी अटूट समृद्धि है। अतः निर्धन होता हुआ भी, यह गोवर्धन, रामकृष्ण का, गाय और गोप मंड़ली सहित– सत्कार कर रहा है – हरि का जो दास है, उसके दासत्व की सिद्धि इसीमें है कि वह सभी का सम्मान करे। किंतु, यह गिरिराज तो हरि के दासोंमें भी श्रेष्ठ है। समृद्धिवान् यदि सत्कार करें, तो उसमें आश्चर्य ही क्या? व्रज के साधन-संपन्न होते हुये भी, यह गोवर्धन तो गुणातीत होने के कारण निर्धन ही है। तृण, जल आदि जो वस्तुयें उसने संग्रह की, वह अपने योगक्षेम के लिये। जल, तृण कंदादि के अतिरिक्त उसके पास अन्य कोई संग्राह्य पदार्थ ही नहीं, और उसके पास, यह जो कुछ भी सामग्री-साधन-संपत्ति है, उसको श्रीभगवद्-चरणों में समर्पित कर चुका है-इसीलिये यह हरिदास-वर्य है, हरि भक्तों में-सर्वश्रेष्ठ है। जल, तृण, कन्दरा और कन्दमूल इन चार पदार्थों से ही, यह गोवर्धन, गाय तथा देवरूप ग्वालबालकों सहित रामकृष्ण का आतिथ्य कर रहा है-पीने के लिये पानी, शयन-आसनादि के लिये तृण, रहने के लिये कंदरा तथा भोजनार्थ कन्दमूलादि निवेदित कर रहा है- सामान्य ग्रहस्थ के यहां भी यह पदार्थ-चतुष्टय तो उपलब्ध होते ही है "तृणानिभूमि-रुदकं, वाक्-चतुर्थी च सूनृता' शय्यार्थ तृण, आसनार्थ भूमि, पानार्थ जल, सत्य एवं-विनम्र वाणी; इन चारों वस्तुओं का अभाव तो, गृहस्थ के घर में भी नही है। निर्धन होते हुये भी श्री गोवर्धन, कोमलदूर्वा, गायों के भक्षणार्थ तथा अन्यों के शयनार्थ, अर्पण कर रहा है। यहां कंदरा ही भूमि है। ग्वालबाल सहित रामकृष्ण के भोजनार्थ कन्दमूल का संपादन कर रहा है। निवासार्थ कन्दरा की व्यवस्था की गयी है। वृंदावन के अन्य रमणीय स्थलों को छोडकर, संप्रति, रामकृष्ण गोप मंडली सहित कन्दरा में ही विराजमान हैं। इससे यह सूचित होता है कि इस समय प्रायः वृष्टि हो रही है[1]। इसीलिये अन्यत्र खुले स्थान की अपेक्षा, कंदरा में ही आश्रय उचित समझा गया है। यहां 'कन्दमूल' ही 'मधुर वाणी' है-क्योंकि, किसी को देने

1-शरद् में प्रायः वर्षा होती है।

के लिये, जब पास में, कुछ भी नहीं होता, तभी, प्रियवाणी द्वारा ही सत्कार किया जाता है। सर्व अभाव में, वाणी की गणना है– 'सर्वाभावे वाचो गणना।' अतिथि सत्कार करना एक बात है, किंतु, अतिथि सत्कार से अपने आपको कृतकृत्य मानना –यह भक्त का लक्षण है। भक्त-कृत आतिथ्य में यही विशिष्टता है। आतिथ्य-सत्कार गृहस्थ का धर्म है, यह धर्म श्रीगोवर्धन में है-किंतु, श्रीगोवर्धन भक्त है, अतः इस गृहस्थ धर्म से अधिक उसमें एक धर्म और है, और वह है 'दासत्व की भावना'-श्री गोवर्धन धर्मिष्ट तो है ही किंतु निर्धन होते हुये भी, अपने उपयोग की सभी वस्तुओं के निवेदन द्वारा उसने अपने इसी दास-धर्म को, अपने भगवदीयत्व को, सिद्ध कर दिया "एवमपि धर्मिष्टत्वं सिद्धचति न दासत्वं इति आशंक्य आद्यविशेषण-सहितेन तत्सिद्धचतीत्याहुः" **'संतोषो भक्तस्याधिकः'** सुबो।

'अबला' संबोधन से, गोपाङ्गनायें यह सूचित कर रही हैं कि हम सभी वहाँ वृंदावन जाने में असमर्थ है, क्योंकि 'अबला' हैं। कंद भुने हुये ही खाने के उपयोग में आते हैं, और, मूल तो कच्चे ही उपयुक्त होते हैं। यहां पर एक ही रस नहीं पिरसा गया अनेकविध रसों का निर्देश करने के लिये ही यहां कन्दमूल का कथन किया गया है-'एक-रसाभावाय चोक्तम्'। अथवा, अन्न के भाव से कंद तथा व्यंजन के भाव से मूल समर्पित किये हैं–अतः अन्न और व्यंजन के भाव से कन्दमूल का कथन हुआ है। कन्द तथा मूल की बहुत सी अवान्तर जातियां है–अतः इनके संग्रहार्थ भी यहां कंद और मूल का बहुवचनान्त समास विग्रह करना चाहिये– यथा कंदानि मूलानि च तैः– कंदमूलैः। अर्थात् यहां समस्त पद गत समास नहीं, अपितु कंद और मूल-उभय प्रचुर मात्रा में हैं –यह निर्देश करने के लिये ही-कंदमूलैः– में बहुवचन का प्रयोग हुआ है–कंदानि च मूलानि च इति बहुवचनेन विग्रहः कार्यः। किंतु, लौकिक विग्रह में तो, 'कंदमूल' पद के बहुवचनान्त प्रयोग में ही अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि है–इच्छित अर्थ की अभिव्यक्ति संभव है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हरिदासवर्य ने नाना प्रकार के कंदो और मूलों का समर्पण किया– योजना।

'हे अबला'! इस संबोधन द्वारा, अपने आपके प्रति गोपाँगनाओं को जो खीज है उसका निर्देश किया गया है। हे सखियो! यह वही पुलिंदियां हैं जिनका हम पूर्व वर्णन कर चुकी हैं, गिरिराज की प्रेरणा से कितने अनुराग सहित, श्रीकृष्ण के लिये, कन्द-मूलादि लेजाती हैं। इसीलिये तो इनके सभी मनोरथ पूर्ण हो गये। और, हम सभी, कितनी असहिष्णु हैं, कि यह कन्हैया कहीं हमारा तनिक भी माखन चुराकर खा लेता है, तो हम कितनी विमनस्का हो जाती हैं-कितनी खीजती हैं कुढ़ती हैं? हम ऐसी ही हैं-हमारें मनोरथ जो अपूर्ण रहे वह उचित ही है। सचमुच

में तो पुलिंदियों के मनोरथ पूर्ण होने चाहिये और हुये, यह सब कुछ भगवदीय श्री गोवर्धन के सतसंग का फल है। यह हरिदासवर्य सचमुच कामरूप है, किसी भी रूप को धारण करके वह इन पुलिंदियों को दर्शन देता है तथा कन्द-मूलादि ले जाने के लिये इनको प्रेरणा देता रहता है ।।१८।।

**– अष्टादश-श्लोक संपूर्ण –**

——:०:——

## ऊनविंशति-श्लोक विवरण :–

**गा-गोपकै रनुवनं नयतोरुदारवेणु-स्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सुसख्यः ।**
**अस्पंदनं गतिमतां पुलकं तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ।१९।**

**सेली अरु पाशके प्रयोग में निपुण दोऊ, मधुर-गमन ते विमोहित ड़गरियां ।**
**वेणु-कल-नादन तें, ग्वालन के वृंद-संग, वन वन फिरत चरावतजु गइयां ।।**
**हमहू ते अधिक विजातिन में नेह याको, भई री ! विचित्र जड़-चेतन की गतियां ।**
**गतिवंत थिर भये, थिर गतिवंत भये, तरुभये पुलकित, थिर भईं नदियां ।।१९।।**

**अनुवादः**–हे सखियो! श्रीराम और श्रीकृष्ण, अपने गोप सखाओं के द्वारा, गायों को चराने के लिये, एक वन से दूसरे वन में ले जाते हैं, तब, उनके मधुर वेणु-स्वर का श्रवण करके अथवा उनके रणन्नूपुरयुक्त चरणारविंदों की अव्यक्त-मधुर ध्वनि का श्रवण करके चलने वालों की गति-रुद्ध हो जाती है-तथा वृक्षों में पुलक होता है–देह धारियों में यह विचित्रता उत्पन्न होती है। और, संध्या समय में जब दोनों भाई अपने श्रीहस्त में निर्योग तथा पाश को धारण किये हुये वृंदावन से व्रज में गोदोहनार्थ पधारते हैं, तब, उनके नूपुर समलंकृत चरण-युगल की अव्यक्त-मधुर ध्वनि का श्रवण अथवा उनके दर्शन करके, गाय, आदि जंगमों की गति-स्थगित हो जाती है, तथा व्रज के स्थावर-वृक्ष आदि में पुष्प-मधु-धारा रूप पुलक प्रकट होता है-तनुधारियों में-स्थावर-जंगमों में–यह कैसा वैपरीत्य-विचित्रता-होती है!!!

**व्याख्या :**–गोपांगनायें कहती हैं कि हे सखियो! हम सभी प्रभु की सजातीयां हैं, सर्व प्रकार से प्रभु के योग्य हैं, तो फिर, हमारा परित्याग करके, प्रभु ने, गिरिराज तथा पुलिंदियों के उपर ही अनुग्रह क्यों किया ? हीन-जाति की ये पुलिंदियां कदापि भगवद् भोग के योग्य नहीं हो सकतीं, भगवान् को जिस रस की अपेक्षा है, वह हम व्रजदेवियों में ही स्थित है। एकमात्र हमारे से ही प्राप्य रसानुभव की उपेक्षा

कर के, भगवान् ने पुलिंदियों के साथ रमण किया ! तथा उनसे समर्पित कन्दमूलादि का उपभोग किया !!! भगवान की इनके ऊपर इतनी कृपा क्यों ? 'अस्मन्निष्ठ-रसं परित्यज्य तन्निष्ठ-कन्दादिभोगः कथम्–लेख. । इस शंका के प्रत्युत्तर में, हे सखियो ! हमारा यह कथन है कि भगवानका चरित्र ही इस प्रकार का है, भगवान् का स्वयं चरित्र ही विपरीत है !!! हम से कहां अज्ञात है । उनका चरित्र मर्यादा का उल्लंघन करने वाला है–'प्रमेयं मर्यादानाशकम्'–लेख। इस में साक्षात् भगवान्, किंचिन्मात्र भी चेष्टा नहीं करते, साक्षीमात्र ही रहते हैं। वे स्वयं कुछ नहीं करते उनकी उपस्थिति मात्र से अघटित भी घटित हो जाता है । विपरित तथा अद्भुत कार्य, उनके साक्षीमात्र से स्वतः होने लगते हैं । प्रभुचरित्र की यही रहस्यमयी गाथा है । उनके दर्शन मात्र से, गतिशील स्थिर हो जाता है, चेतन, जड हो जाते हैं, जड़ सचेतन । स्वभाव से ही जड़ तरुगण, पुलकित हो उठते हैं । इतना ही नहीं हम जो योग्य हैं, वे ही प्रभु के अयोग्य हो गयीं, अयोग्य पुलिंदियां, भगवद् योग्य बन गयीं !!! यह सब कुछ, साक्षीमात्र रहते हुये भगवान् के चरित्र की विचित्रता है। साक्षात् कृति में तो फिर, इस वैपरीत्य का पूछना ही क्या ? गिरिराज तथा पुलिंदियों में तो भगवान् की साक्षात् कृति है, इसीलिये तो इनमें जितनी अयोग्यता थी, उसके विपरीत उतनी ही अधिक योग्यता आगयी –'तथा च यत्र गोवर्धने पुलिंदीषु च साक्षात्-कृतिस्तत्र वैपरीत्ये किं वक्तव्यम् ? लेख.।

भगवद् चरित्र के वैपरीत्य संपादन में, गोपीजन, तीन कारण प्रस्तुत करती हैं- गोपसखाओंके साथ गायों का एक वन में से दूसरे वन में अनुनयन-ले जाना-यह प्रथम कारण है। वेणु-स्वन-यह द्वितीय हेतु है। 'कलपद'-कलपदैः– यह तीसरा हेतु है। यहां 'कलपद' का अर्थ है वेणु-निष्ठ अव्यक्त मधुर स्वर। इस तरह यह 'कलपद (कलपदैः)– वेणु स्वन का (वेणुस्वनैः) विशेषण है। 'कलपद' का दूसरा अर्थ है–'नूपुरों की अव्यक्त मधुर ध्वनि से युक्त भगवद् चरणारविंद-युगल,' कलपद से यहां दोनों ही अर्थ अभिप्रेत हैं, तदनुसार, इन दोनों ही अर्थों में 'कलपद' का ग्रहण किया गया है। यहां इतना समझ लेना चाहिये कि गायों का एक वन में से दूसरे वन में-विचरण-अनुनयन (नयतः), ज्ञान-जनक है-गायों का यह अनुनयन ही ज्ञान-जनन है। गायों का यह अनुनयन-रूप ज्ञान, जैसा अग्रिम-प्रसंग में कहा गया है, वृक्षों के पुलक में, परंपरा से कारण रूप है, किंतु, 'वेणु-स्वन' इसी पुलक में साक्षात् कारण है। यहां वृक्षों में जो पुलक हुआ, वह गायों के अनुनयन रूप ज्ञान-जनन द्वारा परंपरा से हुआ, किंतु, वेणु-स्वन द्वारा साक्षात् (Direct) पुलक हुआ। इसी तरह, कलपद अर्थात् वेणु-निष्ठ अव्यक्त-मधुर-ध्वनि, तथा कलपद रूप भगवद्-

चरण, यह उभय, गति-शील के अस्पंदन में हेतु-कारण हैं-यहां, इस तरह यह विभाग किया गया है–"गवां वने नयनं ज्ञानजनन-द्वारा परंपरया हेतुः पुलके; वेणुस्वनः साक्षात् हेतुः। वेणु-निष्ठानि कलपदानि, पक्षे भगवद्-चरणारविंदानि च गतिमतामस्पंदने हेतुरिति विभागः" लेख।

उपर्युक्त इन तीनों कारणों से, भगवद्-चरित्र, वस्तुमात्र में जिस प्रकार से वैपरीत्य का संपादन करता है–उसका स्पष्टीकरण इस तरह से है। गोप-सखाओं सहित भगवान् गायों को चराते हुये एक वन में से दूसरे-वन में ले जा रहे हैं, इस तरह, जहां जहां गाय और गोप गमन करते हैं, वहां वहां ही इनके संबंध-मात्र से, समस्त वन में, शुद्धि तथा धर्म का अविर्भाव होता है। यहां गाय शुद्धि रूप है, तथा गोप, धर्म-रूप। गोप सखाओं में रसिकत्व स्पष्ट है-और इसी का यहां 'धर्म'-पद से निर्देश किया गया है। तदनुसार, गाय-रूप शुद्धि तथा गोप रूप धर्म-यह दोनों ही भगवान् के साथ एक वन में से दूसरे वन में जा रहे है–'एतदीया शुद्धिर्धर्मश्च तत्र गच्छतः'– इस तरह गाय तथा गोपों के संबंध से सभी वनों में शुद्धि तथा धर्म का संचार हो गया। संपूर्ण वन तथा तत्रस्थ तरुगण शुद्ध हो गये। अशुद्धि की निवृत्ति को शुद्धि कहते हैं। वृक्षों का जड़-स्वभाव ही उनकी अशुद्धि है। अपनी जड़ स्वभाव रूप अशुद्धि के कारण ही, वस्तु स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का उनमें अभाव है। शुद्धि का अविर्भाव होते ही, वृक्ष गण निर्दुष्ट हो गये। जड़ स्वभाव रूप अशुद्धि की निवृत्ति हो गयी, परिणामतः उनको भगवान् के रसातमक स्वरूप का स्वतः ज्ञान हो गया। इस तरह से भगवद्-ज्ञानोदय होने पर, यदि तरुगण पुलकायमान हो उठें तो आश्चर्य ही क्या?

तदुपरांत, भगवान् के साथ एक वन से दूसरे वन में गमन करती हुयीं ये वहीं गायें हैं, जिनको कृष्ण-मुख-निर्गत-वेणु-गीत के पीयूष पान से, पशुत्व की विस्मृति हो गयी थी, अर्थात् पशु-स्वभाव के उल्लंघन-पूर्वक रस-रूप फल की प्राप्ति हुयी थी। पशुत्व-भाव से रहित तथा नायिका भाव से संपन्न इन्हीं गायों के संबंध से, वृंदावन के वृक्षों को भी, अपने वृक्षत्व-स्वभाव की विस्मृति-पूर्वक, अर्थात्, जड़-स्वभाव के उल्लंघन पूर्वक, चिदानंद-रूप रस यदि प्राप्त हो जाये तो उसमें विस्मय ही कहां? पूर्वोक्त त्रयोदश-श्लोक में 'गावश्च-तस्थुः' गायें स्थिर हो गयीं, गायों की तृण-भक्षण क्रिया निवृत्त हो गयी-ऐसा कथन है। अतः, यहां भी इन्हीं गायों के संपर्क से, वन के सभी पदार्थों की क्रिया निवृत्ति हो जाना सहज है। वन के सभी गतिशीलों की गति रुद्ध-स्थगित-हो गयी–'गतिमतामस्पन्दनम्'–अर्थात् गतिमान-सभी, गति-शून्य चेष्टा-रहित-रुद्धगति हो गये। वैपरीत्य संपादन में, इस तरह गायों के, एक वन से दूसरे वन में गमन, प्रथम कारण-हेतु हुआ।

**वेणु-स्वनै :-** इस तरह गायों के संबंध से शुद्धि के संपन्न होने पर, तरुगण दोष रहित हो गये, तदनन्तर, वन के वृक्षों ने उदार-वेणु के स्वनों का श्रवण किया, अतः, वे पुलकित हो गये। यहां वृक्षों के रोमांच में, इस तरह, वेणु-स्वन साक्षात् हेतु बना। इस पुलक में, गायें परंपरा संबंध से हेतु बनी हैं-क्योंकि गायों के संबंध से वृक्षों में प्रथम, शुद्धि का संपादन हुआ-परिणामतः ज्ञानोदय हुआ और फिर, वेणु के रसात्मक-स्वन से पुलक हो आना सहज है। यहां वेणु का 'स्वन' उदार है, अथवा, वेणु स्वयं उदार है। इस उदार वेणु ने, अपने भुक्त-शेष रस का वितरण तरुगणों को कर दिया। इसके पान से उनमें पुलक हो आना उचित ही है। वेणु-भुक्तावशिष्ट-रस का पान करते ही, तरुगण, पुष्प-मधु-धारा-रूप पुलक से संपन्न हो गये। यहां वेणु को तथा उसके स्वन-नाद को जो उदार कहा उससे यह निर्देश किया गया है, कि वेणु का यह नाद-कार्य प्रासंगिक ही है, भगवान् ने यह नाद, वृक्षादि में पुलकोत्पत्ति के उद्देश से नहीं किया था क्योंकि, पुलकोत्पत्ति करना तो, स्वभाव से ही उदार होने के कारण, वेणु का सहज धर्म है। वेणु-स्वन के स्वाभाविक-धर्म से ही, जब वृक्षों में पुष्प मधु-धारा रूप पुलक होने लगता है, तब, जहां, भगवद्-भोग्या स्वामिनी-वर्ग को ही लक्ष्य करके, भगवान् वेणु-स्वन करते होंगे, वहां उनकी स्वामिनी वर्ग की रसानुभूति-सुलभ-आनन्दमयता की सीमा ही कहां? यह वेणु-स्वन कुलवधुओं में भी पुलकोद्गम करता है, अतः, यह विपरीत-भाव का ही पोषक है और, यहां यही स्पष्ट किया गया है। इस तरह, भगवद्-चरित्र के वैपरीत्य-संपादन में, यह वेणु-स्वन दूसरा कारण-हेतु है।

**कलपदैः-** जो नाद सामान्यतया भी मधुर होता है, उसको सुनने के लिये, वैसे ही, चलते हुये व्यक्ति भी रुक जाते हैं, यह सभी के अनुभव से सिद्ध है। अब, यदि वेणु-निष्ठ अव्यक्त-मधुर स्वरों के-कलपदों से युक्त स्वनों के-श्रवणार्थ, गतिशील देहधारियों की गति रुद्ध हो जाती हो तो आश्चर्य क्या? स्वाभाविक है। वेणु-निष्ठ कलपद का यह प्रभाव सहज-सिद्ध है, अतः, इस अर्थ में इसका कथन न करके, नूपुरों के अव्यक्त-मधुर-स्वरों से संपन्न भगवद्-चरणों के अर्थ में कलपद का, गति-रोध में हेतु रूप से निरूपण करते हैं। अर्थात् वेणु-निष्ठ अव्यक्त-मधुर स्वर को कलपद कहते हैं-और इस अर्थ में प्रयुक्त 'कलपद' गतिरोध करता है-यह अनुभव-सिद्ध है, अतः इसके इस प्रभाव के विषय में अधिक कथन की आवश्यकता ही नहीं। कलपद का यहां दूसरा अर्थ है-नूपुरों की अव्यक्त-मधुर-ध्वनि करते हुये भगवद्-पद, अर्थात् चरण। इसी अर्थ में, कलपद का, गतिरोध में हेतु रूप से इस तरह स्पष्टीकरण किया गया है-

–संध्या व्यतीत हो रही है, यह दोहन काल है। गो दोहनार्थ भगवान् के उपस्थित होने पर, अपने दुग्ध-रूप अमृत का स्वेच्छापूर्वक दान करने लिये, तथा दोहन में विघ्न उपस्थित न हो इसलिये, सभी मौन हो गये। अमृतदान शांत तथा भय-रहित वातावरण में ही, यथाविधि निष्पादित किया जाता है। भगवद्-चरणों की अव्यक्त--मधुर ध्वनि को सुनने के लिये, उसको ग्रहण करने के लिये, गाय, गोप, गोपीजन सभी वहां के वहां ही स्थिर हो गये-अपनी अपनी गति को स्थगित कर दी। खुरों की आहट अथवा पदचाप से, इस अव्यक्त मधुर-पद-ध्वनि के अवबोधन में क्वचित् अन्य--शब्द-सुलभ विक्षेप हो जाये इस आशंका से उन्होंनें अपनी हलन-चलन बंध कर दी-'शब्द'-शंकया चलत्यपि न'–इस तरह, गति के स्थगित हो जाने के कारण-चलना-भावत्-भगवान् को भी अपनी गति मंद करनी पड़ी-भगवान् को-समूह में से आगे--मंद मंद गति से चलना पड़ा। सभी मौन थे, गतियां स्थगित थीं, नितांत नीरवता थी, अतः भगवद्चरणारविंदों की गति अव्यक्त-मधुर हो गयी-भगवद्-चरण युगल की अव्यक्त मधुर ध्वनि का स्पष्ट अवबोध होने लगा–गाय, गोप, गोपीजन द्वारा ग्रहण की जा सकी। संक्षेप में, इस संपूर्ण-विवेचन का तात्पर्य यह है कि प्रभु-चरणों की नूपुर-सिंजित-ध्वनि का स्पष्ट निश्चय न कर पाने से, उसके स्पष्ट अवबोधके लिये, गाय आदि सभी जंगमों ने अपनी गति-स्थगित कर दी। इस 'अस्पंदन' में-कलपदैः भगवान् के चरणों की अव्यक्त-मधुर ध्वनि ही हेतु रही। तदनुसार, भगवद्-चरित्र के इस वैपरीत्य-संपादन में, कलपदैः–अर्थात् 'अव्यक्त-मधुर-ध्वनि' तृतीय हेतु-कारण हुआ।

**सख्यः !** – इस संबोधन-पद से गोपीजन का यह अभिप्राय है कि 'यहां हम जिस लीला का वर्णन कर रही हैं – उसको हम में से, बहुतों ने वहां वृंदावन में अवश्य ही देखी होगी, अतः हमारा यह वर्णन, आपने वहां जो कुछ प्रत्यक्ष में देखा होगा, उसके अनुरूप ही है न? आप इससे सम्मत हैं न?" इनकी इसी सम्मति के लिये, यहां 'सख्यः !' इस संबोधन पद का प्रयोग हुआ है-'सख्यः ! इति संबोधनं तत्र गतानां दर्शनेन सम्मत्यर्थम्-' सुबो.।

वैपरीत्य-संपादन में, उपर्युक्त हेतु-त्रय का यह जो निरूपण किया गया उसके अनुसार प्रस्तुत-श्लोक का अन्वय इस तरह है–१-गानयतो वेणुस्वनैः तरूणां पुलकः, २-निर्योग-पाशलक्षणयोस्तयोः कलपदैर्गतिमतां अस्पंदनम्, इदं तनुभृत्सु विचित्रं भवति–' अर्थात् 'वन में अथवा व्रज में गायों को ले जाते हुये राम और कृष्ण के वेणु-स्वनों से वृक्षों में पुलकोद्‌गम होता है, तथा गाय और वत्सो को बांधने के लिये लोमना तथा रस्सी को श्री हस्त में धारण किये हुये राम और कृष्ण के, कल-

पदों से युक्त वेणु स्वनों से अथवा श्रीकृष्ण के अव्यक्त-मधुर-ध्वनि करते हुये श्रीचरणों से-कलपदैः– गाय आदि जंगमों की गति स्थगित हो जाती है'। यहां, उपर्युक्त अन्वय-पंक्ति के दूसरे वाक्य में 'कलपदैः' के विशेष्य रूप से 'वेणुस्वनैः' की आवृत्ति जान लेनी चाहिये-तदनुसार, कलपद-(कलपदैः), वेणुस्वन-(वेणुस्वनैः) का विशेषण बनता है-'वेणु-निष्ठ-कलपद-पक्षे वेणुस्वनैरित्यस्यावृत्तिर्विशेषणेन विशेष्य लाभो वा ज्ञेयः', लेख। यहां 'कलपद' का प्रयोग वेणुस्वन में प्रतिष्ठित अव्यक्त-मधुर-ध्वनि के अर्थ में, तथा अव्यक्त-मधुर-ध्वनि वाले भगवद्-चरणारविंदों के अर्थ में किया गया है। प्रथम अर्थ में, कलपद, वेणुस्वन का विशेषण है, तथा, वेणुस्वन, विशेष्य।

स्थावरों में अर्थात् वृक्षों में इस तरह पुष्प-मधु-धारा-रूप पुलक का उद्गम होना, तथा जंगमों में अर्थात् गति-वालों में, गाय, गोप, गोपीजन आदि में, 'अस्पंदन'-गति-निरोध होना, यह दोनों ही कार्य विचित्र हैं। यहां, विचित्र-पद, दोनों ही कार्यों से– रोमांच तथा अस्पंदन से, संबंधित है। 'तनभृत्सु' का अर्थ है–'स्थावर-जंगमों में'। अब, यदि स्थावरों मे अर्थात् वृक्षादि में पुलक होने लगे, तथा जंगम अर्थात् गो-गोप-गोपी आदि स्पंदन रहित हो जायें तो वह विचित्र ही माना जायेगा।

भगवान् के श्रीहस्त में निर्योग तथा पाश हैं, निर्योग का अर्थ है-लोमना-जिससे गोदोहन समय में, गाय के पैर बांधे जाते हैं, तथा पाश से, मस्त बछड़े वश में किया जाते हैं। भगवान् के श्रीहस्त में यह दोनों ही प्रकार के बंधन हैं। गो-निष्ठ रस को ग्रहण करने के लिये अर्थात् दूध के दोहनार्थ, गायों आदि के बंधनार्थ प्रयास किया जाता है, यह प्रयास यदि प्रभु हमारे प्रति करेंगे तो उनको परिश्रम होगा, इसी आशय से स-भय गायों आदि सभी ने हलन-चलन किये बिना, अपने अपने रस-स्वतः समर्पित कर दिये–'अतो भीताः सर्व एव जंगमा अस्मानपिबध्नीत इति'-सुबो.। यहां, 'सर्व एव' पद में, गोपीजन आदि का भी समावेश किया गया है। गोपांगनायें भी, भगवान् के इसी श्रम की आशंका से-भय से-अस्पंदन पूर्वक, उनको अपना 'रस' समर्पित करेंगीं –यहां यह इतना शेष-अर्थ, तात्पर्य भी, अभिप्रेत है।

यहां इतना समझ लेना चाहिये कि यद्यपि, भगवान् न गायों का दोहनार्थ बंधन नहीं किया था तथापि, वे स्थगित गति ही रहीं। बंधन के अभाव में भी, मानों बंधित हों, इस तरह से निश्चेष्ट ही रहीं, अस्पंदित ही रहीं, और, हलनचलन किये बिना, अपना रस समर्पित कर दिया। अर्थात् गाय आदि जंगमों में, यह अस्पंदन किसी बंधन को लेकर नहीं हुआ। यह अस्पंदन स्वतः हो गया; किंतु, इनमें से रसका प्राकट्य; भगवद्-उद्यम से ही हुआ। वृक्ष आदि स्थावरों में जो रस प्रस्रवित हुआ, पुष्पों से जो मधु की धारायें बहने लगीं, वह तो भगवद्-उद्यम बिना, स्वतः ही बहन

लगीं, क्योंकि, इन स्थावरों को यह भय था, आशंका थी कि हमारे में से रसप्राप्ति के लिये कहीं प्रभु को प्रयास करना पड़े–अतः, उन्होने स्वयं ही अपने में से मधु-धारायें प्रस्त्रवित करदीं–'जंगमानामस्पंदनन प्रतिबंधाभावमात्रम्-रसप्राकट्यंतु-भगवद् उद्यमेनैव भवति। स्थावराणां तु भगवति वनं गते, प्रभु-प्रयास-भयात् स्वत एव, भगवद् उद्यमं विनैव मधुधाराः भवन्ति-इत्यर्थः–लेख. ।।१९।।

## ऊनविंशति श्लोक–संपूर्ण

——:0:——

### ऊनविंशति श्लोक का प्रकारान्तर से विवरण–श्रीमत्-प्रभुचरण-कृत ।

अथवा, प्रस्तुत श्लोक में, गोपांगनाओं ने, भगवान् की जिस लीला का वर्णन किया है, वह गुप्तरूप से कही गयी है। यहां, भगवान् ने अपने गोप सखाओं द्वारा, गायों को वन में भिजवादीं-'इससे यह सूचित होता है कि भगवान् संप्रति गोपों को अपने साथ नहीं रखना चाहते, क्योंकि, भगवान् को स्वच्छंद-रमण करने की अभिलाषा है; अतः, अपने साथ स्वच्छंद-रमण के योग्य सुंदरी-वृंद को आमंत्रित करने के लिये ही, वेणु नाद किया। प्रथम, सुदूर-वन में निवास करने वाली वन-सुंदरियों को बुलाने के लिये, भगवान् ने तार-स्वर में वेणु-नाद किया। वेणु-नाद का श्रवण करते ही, जब वन-सुंदरियां बाहर निकल कर आगे बढ़ीं, तब, भगवान् ने, जहां वे स्वयं स्थित थे, उस स्थान की उनको सूचना देने के लिये, मध्यम-स्वर में वेणु-नाद किया, और, जब वनदेवियां, प्रभु के सर्वथा निकट आ गयीं, तब, उनके स्वागतार्थ, प्रत्येक वन-देवी के– नामोच्चारण पूर्वक मंद मंद स्वरों में वेणु-नाद किया। एक एक देवी के नामोच्चारण पूर्वक, भगवान् के अनेक बार मंद मंद स्वरों में वेणु-नाद किया था ; इसीलिये 'वेणु-स्वनैः' में स्वन शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग किया गया है। वेणु के स्वन, अव्यक्त एवं मधुर-पदों से, कलपदों से-समन्वित थे, इसीलिये, यहां, 'कलपद,' वेणु-स्वन के विशेषण रूप में, प्रयुक्त हुआ है। वनदेवी के नाम को अन्य न जान सके, दूसरों से अज्ञात रहें, इसीलिये, वेणु-स्वन, अव्यक्तथे, उनके अपने अपने नाम सहित होने के कारण, मधुर थे, तदनुसार, वेणु-स्वन, 'कल' थे, तथा 'पदों' से अर्थात् नाम और रूप से युक्त थे। इस प्रकार से अव्यक्त और मधुर तथा नामरूपात्मक वेणु-स्वनों को सुनकर, यदि, गतिशीलों की गति स्थगित हो जाती है, वहां के वहां ही स्थिर हो जाते हैं, तथा तरुगणों में पुलकोद्गम होता है, तो वह विचित्र ही कहलायेगा। यहां यह, दिवाकालीन लीला है, अतः इन देवियों का, सबके समक्ष दिवस में, प्रभु--निकट आगमन, अशक्य तथा अनुचित है। किंतु स्वनों के अंतरंग तात्पर्य से, वन-देवियों के अतिरिक्त, अन्य सभी की अज्ञानता के कारण, इस आगमन में किसी प्रकार की अडचन नहीं हुयी। वास्तव में देखा जाये तो इन्ही वेणु-स्वनों के

श्रवण से, जहां वनदेवियों को स्वकीय देहानुसंधान प्राप्त होता है, वहां अन्य-प्राणियों को अपने देहादि का अनुसंधान ही नहीं रहता, स्पंदनादि से शून्य हो जाते हैं, यही, वेणु-स्वन की विचित्रता है। यहां, 'उदार-वेणुस्वनैः' और 'कलपदैः'- इन दोनों पदों की, 'कलपदैः' तथा 'उदार-वेणुस्वनैः,' इस तरह आवृत्ति करके भी, पद-संबंध जान लेना चाहिए। इन गोपांगनाओं को तो, प्रियतम के विरह में शरीर का अनुसंधान ही नहीं रहता, शरीर का अनुसंधान तो उनको तब होता है, जब, कलपदों से संपन्न अर्थात् अव्यक्त-मधुर तथा नामरूपात्मक उदार वेणु-स्वन का श्रवण करती हैं। व्रज में, जितने भी स्थावर अथवा जंगम-देहधारी-भक्तजन हैं, वे सब, तभी देहधारी संज्ञा प्राप्त करते हैं, जब, कलपदात्मक वेणु-स्वन का श्रवण करते हैं, वेणु-स्वन द्वारा ही वे देहको धारण करते हैं-किये हुये हैं। हे सखियो! अपनी गोष्टी मे तो सभी ऐसी ही हैं, और इस कथन में, अन्य इन सभी व्रजदेवियों की भी यही सम्मति है। यहां, 'सख्यः'! यह संबोधन, सबकी एक ही सम्मति के लिये प्रयुक्त हुआ है।

और, यह वेणु, उदार-प्रकृति का है। इसमें पात्र-अपात्र का विवेक ही नहीं -कौन कितने रस को प्राप्त करने के योग्य है, इसका इसको तनिक भी ज्ञान नहीं। इसीलिये, वृंदावन के स्थावर वृक्षों को, उदारतापूर्वक, प्रचुर-दान कर देता है। अल्प अधिकारी को, अधिक दान देता है-अतः, वेणु-स्वन में स्थित रसात्मक-तत्व की सामर्थ्य से, इन वृक्षों में जो पुलकोद्गम हो रहा है, वह सर्वथा उचित है, इसके योग्य है। और, इसीलिये तो इन वृक्षों में से, रसोपयोगी-पुष्प-मधु-धारा प्रवाहित हो रही है। गोपवृंद द्वारा, पशुओं को वन में प्रवेश कराने के कथन द्वारा, यह निर्देश किया गया है कि प्रभु का यह दिवा-चरित्र है। और, इसी दिवा-चरित्र का यहां तक निरूपण हुआ है। अब इससे आगे-वृंदावन से व्रज में आगमन के अनन्तर संध्या-कालीन भगवद्-चरित्र का वर्णन किया जाता है।

**'निर्योगपाशकृतलक्षणयो'** :-दोहन समय में गायके पैर बांधने की रस्सी को 'निर्योग' कहते हैं, उच्छृंखल बछडों को पकडने में 'पाश' का उपयोग किया जाता है। भगवान् ने श्रीहस्त में निर्योग तथा पाश ग्रहण किये हैं। भगवान् का यह गोदोहनानुरूप संध्या कालीन वेष है। लोमना और पाश को हाथ में धारण किये हुये-श्रीराम कृष्ण के गोदोहन कालीन मनोहर वेप के दर्शन से, चलते प्राणि जहांके तहां, मुग्ध हो कर खड़े ही रह जाते हैं। आसपास के तरुगण पुलकित हो उठते हैं, उनमें से पुष्प-मधु--धारा प्रस्रवति होने लगती है। यह दोनों ही कार्य, पूर्वापेक्षया स-विशेष विचित्र हैं। इससे पूर्व वृंदावन के वृक्षों में जो पुलकोद्गम हुआ, वह विचित्र अवश्य था, क्योंकि, अपनी उदार-वृत्ति के कारण, वेणु ने, इन वृक्षों को इनकी योग्यता से भी

अधिक, प्रचुर-मात्रा में रस का दान किया था। किंतु, यहां तो गायों को तथा वृक्षों को, श्रीरामकृष्ण के स्वरूप का ज्ञान भी हुआ। भगवान् हमारे रस के ग्रहणार्थ, उद्यत हैं, गायों और वृक्षों को, भगवत्-स्वरूप का यह ज्ञान हुआ, अतः, गायों में से पशु-स्वभाव का तथा वृक्षों में से जड़-स्वभाव का तिरोधान हो गया। स्वाभाविक-ज्ञान का तिरोधान असंभव है- किंतु, यहां तो वहीं संभवित हुआ; स्वाभाविक होते हुये भी ज्ञान का तिरोधान संभवित हुआ। इसीलिये यहां 'विचित्र'-पद में 'वि' उपसर्ग प्रयुक्त किया गया है। गोपांगनायें कहती हैं कि इस वेणु के समक्ष तो ब्रह्मानंद भी तुच्छ है। हम जानती हैं कि यह वेणु अपने इस स्वभाव के कारण, देहेन्द्रिय आदि से रहित इन मुक्त जीव-वृक्षों को भी स्वरूपानंद का दान कर रहा है-किन्तु देहेन्द्रिय आदि से रहित इन मुक्त जीव वृक्षोंको पुलक होना संभव नहीं है। यहां, 'वेणु'-पद तथा 'तनुभृत्' पद के समभिव्याहार से यही ज्ञात होता है। श्रीकृष्ण को, गो-निष्ट-भोग्य रस के ग्रहणार्थ आते हुए देखकर वृक्षगण यह जान गये कि भगवान् स्व प्रयत्न पूर्वक गायों के दूध को ग्रहण करेंगे, किंतु, हम वृक्ष गण तो स्वयं ही, प्रभु को परिश्रम दिये विना ही, उनके प्रयत्न किये विना ही, स्व-निष्ठ रस को समर्पण करेंगे। इसलिये अपने में से वृक्षों ने पुलकरूप पुष्प-मधु-धारा प्रवाहित कर दी।

यहां, प्रथम तो, वृक्षों को भगवत्-स्वरूप का ज्ञान होना यही विचित्र है। 'निरीक्ष्य-रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः-पुलकान्यबिभ्रत्'-भगवान् के त्रिभुवनाद्भुत सौंदर्य को देखकर गाय, पक्षी, वृक्ष, मृगगण भी पुलकित-हो उठे-इस कथन से यह मानना ही पडेगा कि वृक्षों को स्वरूप ज्ञान है। इन वृक्षों को स्वरूप-ज्ञान, गोदोहन कालीन भगवत्-स्वरूप की महिमा को देखकर ही हुआ है। इस समग्र निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि भगवत् स्वरूप-संबंधी निर्योग पाशादिक सभी, समस्त भगवत् चरित्र ही, विपरीत अतएव प्रमेय मर्यादा नाशक तथा स्वरूपानंद-दायक है, इस तरह यह सपूर्ण-कृति विचित्र है और इसीका यहां निर्देश किया गया है। भगवान् स्वरूपानंद-दायक होते हुये भी, रस से परिपूर्ण वृक्ष, गाय आदि भक्त जनोंसे रसके ग्राहक भी हैं, रसवालों से रस को ग्रहण करने की, भगवान् को इच्छा भी है। वृक्षों को भगवान् के इस मनोधर्म का ज्ञान होना विचित्र है। वृक्ष गण जानते हैं कि भगवान को रसवालों से रसग्रहण करने की अभिलाषा है। हम रस से परिपूर्ण हैं, तदनुसार, हमारे में निष्ठ इसी रस को लेने की, भगवान को अपेक्षा है। भगवान की इस अभिलाषा के ज्ञान से तथा भगवान् को रसदान करने में अपनी उपयोगिता के ज्ञान से भी, प्रमुदित होकर ये वृक्षगण, स्व-निष्ठ रस को, पुलक-पूर्वक, पुष्प-मधु-धारा रूपसे बाहर प्रकट कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन तरुगणों में, अन्तःपूर्ण रस अपनी विपुलता के कारण, स्थानाभाव

से शरीर में न समाता हुआ, उनके प्रति-रोम कूप में से बाहर प्रस्त्रवित हो रहा है। बहि:-नि:सरण में रोम-राजि पुलकायमान हो उठी है। शाखा शाखा के पुष्प-फल तथा उनमें से प्रस्त्रवित मधु धारायें ही वृक्षों का बहि:पुलक है।

अथवा-गायों को गोपसखाओं द्वारा एक वन में से दूसरे वनमें ले जाते हुये श्रीकृष्ण के उदार वेणु स्वन का श्रवण करके गतिवालों की गति रुद्ध होजाती है, तथा तरुगणों में पुलक रूप पुष्प मधु-धारा प्रकट होती है-यह कैसी विचित्रता है ?

निर्योग पाश को श्री हस्त में धारण किये हुये, गोदोहनानुरूप वेष में जब श्रीकृष्ण मंदमंद गति से गमन करते हैं तब उनके चरण-युगल की अव्यक्त मधुरध्वनि का अर्थात् कलपदों का श्रवण करके गतिवाले स्थगित-गति हो जाते है-तथा व्रज के वृक्षों मे से पुष्प-मधु-धारा वहने लगती है। स्थावर जगमों में यह कैसी विचित्रता होती है ? यहां, कलपद का अर्थ है नूपुरों की अव्यक्त मधुर-ध्वनि से युक्त भगवद्-चरणारविंद। गोदोहनार्थ शनै:शनै: गमन करने के कारण भगवद्-चरणारविंद के नूपुर भी मंद मधुर ध्वनि कर रहे है। इसलिये भगवान् के चरणारविंदो के लियें कलपद का प्रयोग किया गया है-कल का अर्थ 'अव्यक्त मधुरं' है तथा पद का अर्थ चरण है।

अथवा–गोवृंद से चारों ओर घिरे हुये रहने के कारण भगवद्-चरणारविंदों के दर्शन कभी कभी ही उपलब्ध होते हैं–और यही नुपुर ध्वनि की अव्यक्तता है। यहां श्रीराम कृष्ण के श्री हस्त में निर्योग और पाश को देखकर गोवृंद आदि ने भयसे अपनी गति स्थगित नहीं की है। उनकी गति का निरोध तो, कलपदों ने अर्थात् प्रभु के अव्यक्त मधुर-ध्वनि से युक्त चरण युगलों ने किया है। भगवान् ने श्री हस्त में पाश आदि को तो मात्र गोदोहन के चिन्ह रूप में ही धारण किये है, गायों और बछडों के पांव और गले बांधने के लिये नहीं। यहां गाय आदि जंगमों में गतिरोध तथा पुलक दोनों ही हुये, वृक्षादि स्थावरों में केवल पुलक हुआ इस तरह 'पुलक' पद इन दोनों से-जंगम तथा स्थावर से संबंधित है-अत: इसकी-पुलक की-गाय आदि जंगमों में भी आवृत्ति करलेनी चाहिये।

यहां ये संपूर्ण त्रयोदश श्लोक, 'वर्हापीडं'-इस श्लोक के अनुवाद मात्र है-क्योंकि, 'वर्हापीडं'-श्लोक में निरूपित भगवान् के वृंदावन प्रवेश का ही इन श्लोकों में वर्णन किया गया है। तदनुसार सर्व-रस-भोक्ता श्रीभगवान् वृंदावन में ही विराजमान है, स्थिति करते हैं-और यहां इसीका निरूपण हुआ है।

**ऊनविंशति-श्लोक का प्रकारान्तर से विवरण संपूर्ण.**

## विंशति-श्लोक विवरण :–

**एवं विधा भगवतो या वृंदावनचारिणः ।**
**वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीड़ास्तन्मयतां ययुः ।२०।**

**एहिविधि वृंदावन-चरित हरि-लीला-विस्तारि ।**
**कहत कहत तन्मय भईं आपुस में व्रज-नारि ।। २० ।।**

**अनुवाद** :– श्री शुक कहते है कि वृंदावन-विहारी भगवान् की इस प्रकार की लीलाओं का परस्पर-वर्णन करती हुयीं व्रजदेवियां तन्मयता को प्राप्त हो गयीं, भगवद्लीला-स्वरूपमयी हो गयीं ।।२०।।

**व्याख्या** :– यहां तक, इस तरह, भगवान् की अनेक विध लीलाओं में से, एक प्रकार की लीला का कथन हुआ है। इस प्रकार की, भगवान् की कोटिशः लीलायें हैं। क्योंकि, ऐश्वर्यादि छहों गुणों के-धर्मों के-तथा धर्मी भगवान् के पारस्परिक मिश्रण से अनन्तों प्रस्तार होते हैं। अतः उनकी लीलाओं का अंत ही कहां ? अवतारदशा में तो, मर्यादा की परिधि में ही रह कर, भगवान् को लीला करनी पड़ती है, अतः, ये लीलायें परिमित ही होती हैं। किंतु, वृंदावन-विहारी, स्वेच्छानुसार-गति वाले-प्रमेयरूप हरि की लीला में मर्यादा की परिधि ही नहीं, अतः ये लीलायें अपरिमित-असंख्यों हैं ।

इस प्रकार, भगवद्-लीलाओं का परस्पर में संकीर्तन करती हुयीं गोपांगनायें, भगवद्-लीला-मयी बन गयीं, भगवद्-लीलाओं में तन्मय-क्रीडामय-हो गयीं । आसक्ति भ्रम-न्याय से, जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं में, भगवत्-क्रीड़ाओं का ही दर्शन तथा चिंतन करते रहने से, गोपीजन, भगवद्-लीला-रस-स्वरूप हो गयीं । प्रियतम के वियोग में, जिस तरह प्रियतमा को त्रिलोक के संपूर्ण-पदार्थ, प्रियतम रूप ही दिखायी देते हैं-'त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे-' उसी प्रकार, गोपांगनायें, सर्वत्र सभी पदार्थों में, आसक्ति-भ्रम-न्याय से, भगवद्-लीला रस का ही अनुभव करती रहीं । यहां आसक्ति ही रसपूर्ण-समुद्र है, तथा भ्रम, इस समुद्र में उभराते हुये आवर्त हैं । प्रभु-प्रति असक्ति रूप रस-समुद्र के आवर्तनों में निमग्न प्राणी, क्या कभी इन आवर्तनों में से विमुक्त हो कर आ सका है? आसक्ति की अवस्था में जो भ्रम होता है, वह भ्रम ही आवर्त हैं; आसक्ति-सुलभ-भ्रम में-निमग्न प्राणी का बहिः निर्गमन कदापि संभव नहीं-इसी स्थिति के संपूर्ण अनुभव को प्राप्त किसी रसिक-विद्वान् ने उचित ही कहा है कि रस-सिंधु के आवर्तन में निमग्न का, क्या कभी प्रत्यावर्तन संभव है ? –'आवर्ते रस-सिंधोः प्रत्यावर्तेत किं मग्नः ?'-यही स्थिति गोपांगनाओं की है–भगवद्-

लीलाओं के उच्छलित अनन्तरसामृत सिंधु के प्रियतम-विरहोत्पन्न आवर्तनों में मग्न, इस लीला-क्षीराब्धि में सर्वात्मना विनिमज्जित इन व्रजदेवियों का वहिः निर्गमन क्या संभवित हैं ?

यहां, यह समझा लेना चाहिये कि गोपांगनायें यहां किसी मिथ्या-भ्रम में पतित नहीं हैं, अपितु, भगवत्-प्रति-उनकी जो अनन्त एव अनन्य आसक्ति है, उस आसक्ति के भ्रम में-आवर्त में-निमग्न हैं। यहां भ्रम का अर्थ भ्रांति नहीं अपितु आवर्त है। गोपांगनाओं को यह प्रतीति ही नहीं रही कि हम व्रज में हैं अथवा वृंदावन में, घर के भीतर हैं या बाहर, यह रात्रि है या दिवस, वे स्वयं गोपी हैं या कृष्ण। उनकी यह भ्रांति विरह-सुलभ थी, कोई मानसिक विकृति नहीं थी-यह तो आसक्ति-भ्रम-वर्तन था।

श्लोक-गत 'ययुः' इस लिट्-लकार के प्रयोग द्वारा यह निर्देश किया गया है कि इस लीला-रसरूप अमृतोदधि में सर्वात्मना निमग्न इन गोपांगनाओं का इस संसार में पुनरागमन नहीं हुआ। संसार-सुलभ-मिथ्या भ्रांति में उनका कभी पुनरागमन नहीं हुआ। गोपांगनायें, सर्वात्म-भाव की सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुकी थीं—जिसकी एकांत-अनुभूति गोपांगनाओं जैसे ही देह—धारियों को होती है। ब्रह्म-साक्षात्कार में यह सर्वात्म-भाव ही हेतु है, इसी सर्वात्म-भाव का उपपादन अणु-भाष्य के तृतीय-अध्याय में 'विद्यैवतु निर्धारणात्'-इस सूत्र-द्वारा किया गया है। सर्वात्म-भाव रूप विद्या से ही-जिसे 'मुख्य-भक्ति' कहते हैं-उससे ही-ब्रह्मसाक्षात्कार संपाद्य है।

दशम-स्कंध के-पांचवें अध्याय से लेकर एकादश-अध्याय पर्यंत-सात अध्यायों का-प्रमाण-प्रकरण है-जिसमें, गाय, गोप और गोपीजन का प्रथमाधिकाररूप प्रेम-निरोध का निरूपण है। द्वादश अध्याय से अष्टादश-अध्याय पर्यंत-सात अध्यायों में प्रमेय-प्रकरण है-और, इसमें मध्यमाधिकार रूप आसक्ति निरोध का वर्णन है। इन सात-अध्यायों में से, प्रथम छह अध्यायों में, भगवान् के ऐश्वर्यादि षड् धर्मो का निरूपण किया गया है, अवशिष्ट सातवें अर्थात् प्रस्तुत अष्टादश अध्याय में, स्वयं-धर्मी स्वरूप भगवान् का ही निरूपण है। यही मध्यमाधिकार रूप आसक्ति निरोध है। इसमें पंचपर्वात्मक अविद्या की निवृत्ति पूर्वक गोपांगनाओं को भगवद्-प्राप्ति हुयी। गोपांगनायें दृढ-आसक्ति की उपलब्धि से कृतकृत्य हो गयीं ।।२०।।

**विंशति-श्लोक संपूर्ण**

**प्रमेय-प्रकरण समाप्त।**

इति श्रीमद्-भागवत-सुबोधिन्यां श्रीमद्-वल्लभदीक्षितविरचितायां दशम-स्कंध विवरणे अष्टादशाध्याय-विवरणम् ।



# परिशिष्ट

भारतीय आचार्यों ने आठ प्रकार की ख्यातियां मानी हैं–

१. आत्मख्याति २. असत्ख्याति (बौद्ध-मत) ३ अख्याति ४ विपरीत ख्याति (मीमांसक) ५ अन्यथा ख्याति (न्याय तथा मध्व) ६ सदसत् ख्याति (सांख्य) ७ अनिर्वचनीय ख्याति (शांकर) तथा सत्ख्याति (रामानुजाचार्य)।

बौद्ध मतानुसार 'ज्ञान' स्वयं प्रकाश नहीं है-अतः घट-पदादि सभी पदार्थों की प्रतीति असत्य है। शांकर मत में सत्-पदार्थ में असत्-पदार्थ की प्रतीति को 'अध्यास' कहा गया है। वस्तुतः 'ब्रह्म' ही सत्य है, घट-पदादि सभी वस्तुयें असत्य हैं। रामानुज के मत में पंचीकरण प्रक्रिया के अनुसार सर्व वस्तु सर्व में है-अतः सभी सत्य है–रज्जु में सर्प की प्रतीति 'सत्य' है असत्य नहीं। इत तरह रामानुज मत, शांकर मत से भिन्न है।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य के मत में भी सभी वस्तुयें सत्य हैं 'अखंडं कृष्णवत् सर्वम्'। प्रत्येक प्रकार का ज्ञान-असत् का ज्ञान भी-ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। 'भ्रांति' जैसा कोई पदार्थ ही नहीं–'भ्रांति' नाम मात्र में है। यदि एक वस्तु को हम दूसरी ही मान बैठते हैं जैसे रज्जु में सर्प को-तो वह बुद्धि का कार्य है। हमारी बुद्धि सत्व, तमस् तथा रजो गुण-वाली मानी गयी है। सत्व-प्रधान बुद्धि से ही-जैसा पदार्थ है-उसका वही यथार्थ-ज्ञान होता है। बुद्धि यदि तमो गुण-प्रधान है-तो वह पदार्थ का यथार्थ-ज्ञान नहीं करा सकेगी इस प्रकार की भ्रांति अथवा असत् ज्ञान बुद्धि की तमः–प्रधान वृत्ति से तो उत्पन्न होता ही है, साथ ही उस समय मन में पूर्व दृष्ट सर्प का स्मृति-चित्र भी अंकित रहता है। इस तरह, पुरोवर्ती रज्जु में तथा सर्प में-परस्पर-अमुक साम्य के कारण-तथा बुद्धि की तमोगुण प्रधान वृत्ति के कारण यह भ्रांति होती है।

समग्र ब्रह्मांड ब्रह्म का स्वरूप है–'विषय' है। किंतु हम उसमें उत्पत्ति, स्थिति, नाश आदि 'विषयता' की कल्पना करते हैं जिसका मूलकारण हमारी अविद्या ही है। जगत्, ब्रह्म ही होने के कारण, उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म। वाल्लभ मत में अंततः भगवद् इच्छा ही हर प्रकारकी भ्रांति उत्पन्न करने में मूल कारण है। वस्तुतः 'विद्या तथा अविद्या' दोनों भगवान् की शक्तियां ही है तथा जिनकी जन्म-दात्री स्वयं 'माया' है–'विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते'। भ्रांति को भी भगवद्-लीला में स्थान है-उसका भी भगवद्लीला में योगदान है तथा यथार्थ मानी गयी हैं।

सत्य भी ब्रह्म है-और असत्य भी-'सत्यं चानृतं च-सत्यमभवत्'-इस तरह उभय रूपसे प्रतीयमान, यह ब्रह्म ही वस्तुतः सत्य है 'इत्युभयथा प्रतीयमानं सत्यमेव वस्तुतो जातं इति बोधयति' सुबो. ३-७-१५, यह दोनों ही रूप ब्रह्म के हैं। सब कुछ ब्रह्म है। माया भी, ब्रह्म की विविध शक्तियों में से एक है। शुक्ति में रजत की जो अन्यथा प्रतीति होती है-वह इसी माया की कृति है-सब कुछ माया की (अन्य की) ख्याति-ज्ञान-है-'अन्यद्-युष्माकं अन्तरा भवति'। शुद्धाद्वैत-सम्मत यही 'अन्य-ख्याति' है।



# शुद्धि पत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ३४ | १५ | | शारीरिक स्तर की वृत्तियाँ नहीं हैं . . (इस पंक्ति से आगे पढ़ें) . . "किंतु देहध्याससे रहित जीव में भगवत्कृपासे उत्पन्न होनेवाले, भगवद्-रस का उत्तरोत्तर उत्कट अनुभव करानेवाले अलौकिक भाव हैं"। |
| ४५ | २ | दशांग | द्वादशांग |
| ४५ | ७ | त्रिविधा | त्रिविध |
| ७१ | १९ | पिच्छा | पिच्छ |
| ७५ | २४ | वपुः | वपुके |
| ७६ | ३१ | वपुके | वरके |
| ७८ | ९ | रासावलंबन | रसावलंबन |
| ९१ | २१ | संधान | संघात |
| ९२ | २३ | लीला-रह | लीलारस |
| ९३ | १९ | मुक्त | मुक्ति |
| ९४ | ११ | गथा | तथा |
| १०० | १० तथा ११ | निरवार्य<br>स्वातंत्र्य | अनिर्वार्य<br>स्वातंत्र्यं |
| १०५ | १७ | भागवत् | भगवत् |
| १११ | २४ | निर्गलिग | निर्गलित |
| १२० | २ | नियत | नियता |
| १४१ | १६ | आद्य | आम्र |
| १४४ | २ | | प्रकट नहीं होता (इससे आगे पढ़ें) . . "और, यहाँ विभावादि की अवतारणा नट ने आम्र-पल्लवादि आहार्य—वेष द्वारा की है। |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १५१ | ११ | विभोग | वियोग |
| १५६ | १० तथा १७ | जनुप्रणित, स्थिति | अनुप्राणित, स्थित |
| १५८ | ८ | वास्तवकि | वास्तविक |
| १६४ | श्लो. ९–४ | मुभुचुः | मुमुचुः |
| १६६ | १४ | लक्ष्मीभी | लक्ष्मीही |
| १६६ | १६ | अविष्ट | आविष्ट |
| १७३ | ३ | उमरते | उभरते |
| १७८ | १७–१८ | वेणुनादन | वेणुवादन |
| १८४ | २ | सिद्ध | सिक्त |
| १८६ | १–२ | उपयोगार्थ | उपभोगार्थ |
| १९१ | २५ | संपादक को | संपादक |
| १९२ | १ | सुदम् | मुदम् |
| ,, | १९ | आध्यामिक | आध्यात्मिक |
| १९५ | १४ | अनुरागातिराय | अनुरागातिशय |
| २०४ | २४ | बाहर | बारह |
| २०५ | ९ | गुणतीत | गुणातीत |
| २११ | २७ | सयम | समय |
| २२१ | व्याख्या–५ | अविर्भाव | आविर्भाव |
| २२५ | ४ | सामान्य तथा | सामान्यतया |
| २३१ | १३ वां श्लोक १ | पुरैः पिवन्त्यः | पुटैः पिबन्त्यः |
| २३३ | १ | की– | कि |
| २३९ | ११ | वंधे | बंधे |

# समीक्षा

**मुंबई समाचार से (संक्षेप में–हिंदी रूपांतर)**

'श्री भागवत के वेणु-गीत पर श्रीमद् आचार्य चरण-विरचित श्री सुबोधिनी तथा इस पर आलेखित श्रीमती टिप्पणी, लेख, योजना, प्रकाश तथा स्वतंत्र-निबंध आदि विवृत्तियों को आत्म-सात् करके श्री आर. कलाधर भट्ट ने श्रीवेणुगीत पर एक विशद, स्वतंत्र अनुवादात्मक व्याख्या लिखी है। श्री भट्ट पुष्टि-संप्रदाय के एक विरल अभ्यास-निष्ठ विद्वान् हैं, तदनुसार, पुष्टि-सिद्धांत के दृष्टिकोण से आलेखित इस व्याख्या में, वेणु-गीत का मूलत: भक्ति-माधुर्य अपनी सोलह-कलाओं से उद्दीप्त हो उठा है'।......

......'इस ग्रंथ के ध्यानपूर्वक अध्ययन से प्रतीत होता है कि लेखक संस्कृत साहित्य तथा रस शास्त्र के गंभीर तथा मर्मज्ञ अभ्यासी है। अत: वेणु-गीत इस ग्रंथ का ही नहीं, अपितु इसकी प्रत्येक पंक्ति में तथा अक्षर में जो निगूढ-रस है उस रस का भी, साक्षात्कार कराने में वह सफल हुये हैं.....।'

.....'अत्यंत स्थूल तथा सांसारिक वृत्तियोंवाली गोपांगनायें, श्रीकृष्ण के संपर्क से, 'रसो वै स:' की चरम-सिद्धि किस तरह प्राप्त कर सकीं? इसका विवेचन लेखक ने अत्यंत सरल तथा स्पष्ट किंतु दार्शनिक शैली में किया है जो मननीय है। .....वृंदावन की हरिणियां, गायें, पक्षि, नदियां, मेघ आदि पर वेणु के दिव्य नाद के प्रभाव का वर्णन करते हुए, श्री वेद-व्यास की लेखनी से जिस अमर काव्य की रस-धारा प्रवाहित हुयी वह सहज थी, और इतना ही सहज तथा रसमय है श्री भट्ट का इस 'काव्य' पर विवेचन !!! वसंत की 'श्री' को देखकर जिस तरह कोयल मधुर-स्वर में निनाद कर उठती है, उसी तरह लेखक ने भी वेणु-गीत के माधुर्य से विभोर होकर, उस पर एक अलौकिक रसात्मक विवेचन किया है–प्रत्येक श्लोक के ब्रजभाषा में पद्यानुवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक भक्त-हृदय तो है ही, कवि-हृदय भी है। ऐसा समश्लोकी पद्य-बद्ध अनुवाद विरल ही देखने में आता है'।

'संक्षेप में, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति-भाव से संपन्न सात्विक-हृदय वाले जिज्ञासु के लिये यह ग्रंथ वस्तुत: ज्ञान और भक्ति के अनेक रत्नों से परिपूर्ण महा-सागर जैसा है। प्रस्तुत ग्रंथ में अन्य अनेकों ग्रंथों का सार–उद्धृत करके श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति-रस के ज्ञानमय प्रदीप को प्रज्वलित किया गया है–जिसके प्रकाश में सभी को निशंक होकर चलने की प्रेरणा मिलती है।.....'

"बम्बई समाचार" १५ मई १९७९

